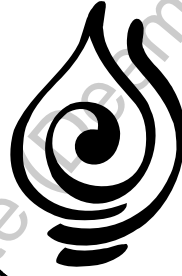


# जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं - ३४१३०६ (राज.)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



वाणिज्य स्नातक-द्वितीय वर्ष  
Bachelor of Commerce- Second Year

द्वितीय पत्र  
Second Paper

व्यवसाय प्रबन्ध के सिद्धान्त  
Principle of Business Management

COPYRIGHT

**Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun**

**Written By :**

*Dr. B.L. Sain (Section-A,B,D)*

*Dr. Anshu Leela (Section-C)*

Edition : 2014

*Printed Copies : 100*

*Published By: Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun*

अनुक्रमणिका (Contents)		
खण्ड-अ	परिचय, अवधारणाएं, प्रकृति, प्रक्रिया, प्रबन्ध का महत्व, प्रबन्ध की भूमिका, प्रबन्ध की विचारधाराएं एवं विकास	01-51
खण्ड-ब	उद्देश्य द्वारा प्रबन्ध, निगम योजनाएं, संगठन की अवधारणाएं, प्रकृति, महत्व	52-107
खण्ड-स	अभिप्रेरणा, अवधारणाएं, सिद्धान्त, संप्रेषण-अर्थ, प्रकृति, प्रक्रिया, प्रभावशाली संप्रेषण	108-153
खण्ड-द	परिवर्तन का प्रबन्ध, अवधारणाएं, प्रकृति, प्रक्रिया, समय एवं तनाव प्रबन्ध	154-183

**SECTION – A**  
**PRINCIPLES OF BUSINESS MANAGEMENT**

**अध्याय – प्रथम**

**प्रबन्ध**

**[Management]**

**प्रस्तावना (Introduction)**

प्रबन्ध मानव जीवन का एक अभिन्न अंग है। यह एक मानसिक एवं बौद्धिक क्रिया है। जब भी मानव के समक्ष लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रश्न आता है तो प्रबन्ध एक महत्वपूर्ण तत्व बनकर सामने उपस्थित हो जाता है। चाहे मानव को स्वयं ही कार्य करना हो या दूसरे व्यक्तियों से करवाना हो या दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर करना हो, प्रबन्ध ही लक्ष्यों को प्राप्त करने का मूल आधार है। लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए केवल साधनों को जुटा लेना ही पर्याप्त नहीं है अपितु विभिन्न व्यक्तियों के समन्वित प्रयास द्वारा उन साधनों का कुशलतापूर्वक एवं मितव्ययतापूर्ण उपयोग करना भी आवश्यक होता है जो कि एक कुशल प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि प्रबन्ध को सम्पूर्ण विश्व में एक महान् 'शक्ति', 'साधन', 'कार्य', 'कार्य की विद्या' के रूप में समझा जाने लगा है। वर्तमान युग के महान् प्रबन्ध शास्त्री पीटर एफ. ड्रुकर ने इसलिए लिखा भी है कि "प्रबन्ध का एक अनिवार्य, विशिष्ट तथा शीर्ष संस्था के रूप में जन्म लेना सामाजिक इतिहास में एक आधारभूत घटना है।"

वर्तमान व्यावसायिक एवं औद्योगिक युग में प्रबन्ध एक जीवन-दायिनी तत्व माना जाता है क्योंकि बिना कुशल प्रबन्ध के उत्पादन के विभिन्न साधन केवल साधन मात्र ही रह जाते हैं, उत्पादक नहीं बन जाते। वस्तुतः प्रभावकारी प्रबन्ध से ही सफलता की अपेक्षा की जाती है। इससे समाज की सेवा की आशा लगायी जा सकती है। हमारा तो विश्वास है कि प्रबन्ध ही सफलता एवं विकास की कूजी है।

**प्रबन्ध की अवधारणा : (The Concept of Management)**

अवधारणा किसी भी वस्तु, कार्य या व्यक्ति के सम्बन्ध में उस विचार या धारणा से है जो उस कार्य, वस्तु या व्यक्ति की विशेषताओं के कारण किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क में बनती है। प्रबन्ध के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है। प्रबन्ध को भी जिस व्यक्ति ने जिस रूप में देखा, जिन विशेषताओं को महत्वपूर्ण समझा, उसी के अनुरूप उसने प्रबन्ध की अवधारणा कर ली है।

**प्रबन्ध की विविध अवधारणाएँ : [Different Concepts of Management]**

प्रबन्ध को विभिन्न प्रबन्ध शास्त्रियों एवं अन्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूपों, स्थितियों, दृष्टिकोणों से देखा है। इसलिए उनके मन में प्रबन्ध के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार तथा धारणाएँ बनी हैं। प्रबन्ध की अवधारणा समय एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है, फिर भी प्रबन्ध की विभिन्न अवधारणाओं को दो भागों में विभाजित कर अध्ययन कर सकते हैं।

I— प्रबन्ध की सामान्य अवधारणाएँ ।

II— प्रबन्ध की आधुनिक अवधारणाएँ ।

**I— प्रबन्ध की सामान्य अवधारणाएँ [General Concepts of Management]**

1. **प्रबन्ध व्यक्तियों के समूह के रूप में** – प्रबन्ध शास्त्री प्रबन्ध से तात्पर्य व्यक्तियों के उस विशिष्ट समूह से लगाते हैं जो संस्था के प्रबन्ध, प्रशासन एवं निरीक्षण का कार्य करते हैं। प्रबन्धक अन्य व्यक्तियों से कार्य करवाते हैं तथा उनसे कार्य करवाने के लिए वे स्वयं प्रबन्धकीय कार्य (नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय, नियन्त्रण) करते हैं। ऐसे व्यक्ति संगठन में उच्च, मध्यम तथा संचालकीय सभी स्तरों पर पाये जाते हैं। इस अवधारणा के समर्थकों में प्रो. थियोहैमन प्रमुख है जिन्होंने कहा कि "प्रबन्ध का अर्थ उन

प्रबन्धकीय अधिकारियों से है जो सम्बन्धित संस्था में कार्य करने वाले व्यक्तियों के समूह की क्रियाओं को नियन्त्रित करते हैं।”

2. **आर्थिक संसाधन के रूप में (As an Economic Resources)**— प्रबन्ध उत्पादन के अन्य संसाधनों (पूँजी, श्रम, भूमि, मशीन एवं साहस आदि) की भाँति उत्पादन का एक साधन है। भूमि, पूँजी, एवं मशीन गैर-मानवीय संसाधन हैं, जबकि श्रम, साहस एवं प्रबन्ध मानवीय संसाधन हैं। उत्पादन के ये सभी साधन अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। किन्तु जिस प्रकार किसी संस्थान के उद्देश्यों की सफलता के लिए उसके कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उत्पादन के अन्य संसाधनों में प्रबन्ध एक महत्वपूर्ण सक्रिय साधन है। यह वह आर्थिक संसाधन है जो उत्पादन के अन्य संसाधनों को एकत्रित करता है, भविष्य के लिए नियोजित करता है, संस्था का संगठन करता है, क्रियाओं को निर्देशन करता है, समन्वय स्थापित करता है और समस्त क्रियाओं पर नियन्त्रण स्थापित करता है। इस विचार के समर्थकों में हरबिसन एवं मेयर्स प्रमुख हैं।

3. **अधिकार-सत्ता की प्रणाली के रूप में (As a System of Authority)** – कुछ प्रबन्ध विशेषज्ञों ने प्रबन्ध को एक अधिकार-सत्ता की प्रणाली के रूप में स्वीकार किया है। इनमें हरबिसन एवं मेयर्स ने कहा कि, “प्रबन्ध नियम तथा नियमों का पालन कराने वाली संस्था है जो अधीनस्थों एवं अधिकारियों के सम्बन्ध के धागों से बंधी होती है।”

यह अधिकार-सत्ता प्रणाली पदानुक्रम (Hierarchy) से चलती है अर्थात् प्रत्येक संस्था के प्रबन्धकों की सत्ता, उनके पद, अधिकारों, संविधान, ज्ञान एवं स्तर पर आधारित होती है। ये सभी अपने-अपने स्तरों पर अपने अधीनस्थों के लिए योजनाएँ, नीतियाँ, कार्य-प्रणालियाँ, नियम और आपसी सम्बन्ध आदि निर्धारित करते हैं ताकि सम्पूर्ण संस्था व्यवस्थित रूप से संचालित की जा सके।

4. **एक प्रक्रिया के रूप में (As a Process)** – प्रबन्ध की इस अवधारणा के समर्थकों में जॉर्ज आर.टैरी, ब्रैच, न्यूमैन एवं समर, मैक्फरलैण्ड, थियोहैमेन, जेम्स एल. लुण्डी आदि हैं जिनके अनुसार प्रबन्ध कार्य की एक प्रक्रिया है। इनकी मान्यता है कि प्रत्येक प्रबन्धक को नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय एवं नियन्त्रण आदि कार्यों की प्रक्रिया को पूरा करना पड़ता है। यदि प्रबन्धक इस प्रक्रिया के अनुसार कार्य करें तो संस्था के उद्देश्यों को पूर्ण कुशलता के साथ प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जॉर्ज आर. टैरी ने कहा कि, “प्रबन्ध नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण एवं नियन्त्रण की वह विशिष्ट प्रक्रिया है जो व्यक्तियों एवं अन्य संसाधनों की सहायता से उद्देश्यों का निर्धारण करती है और उनको प्राप्त करती है।

5. **एक विधा के रूप में (As a Discipline)** – ज्ञान की प्रत्येक स्वतन्त्र शाखा विधा कहलाती है। मानव के विकास के लिए विभिन्न विधाएँ आधार प्रदान करती हैं। कला, विज्ञान, विधि, चिकित्सा तथा अभियान्त्रिकी की भाँति प्रबन्ध को वर्तमान में एक पृथक् विधा के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। प्रबन्ध के भी अपने कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्त हैं। इसकी सफलता के लिए भी ज्ञान एवं चातुर्य की आवश्यकता होती है। प्रबन्ध एक मानवीय तथा बौद्धिक क्रिया होने के कारण इसके सिद्धान्तों तथा तकनीकों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी कक्षाओं में नहीं दी जा सकती है। इसे जानने के लिए व्यावहारिक अनुभव की भी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि प्रबन्ध को विधा के अर्थ में कला एवं विज्ञान का मिश्रण माना गया है जो यह स्पष्ट करता है कि प्रबन्ध-प्रक्रिया में क्या-क्या सम्मिलित हैं और इसे कैसे क्रियान्वित किया जा सकता है।

6. **एक वर्ग के रूप में (As a Class or Elite)** – समाजशास्त्री, प्रबन्ध को एक वर्ग के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि प्रबन्ध व्यक्तियों का वह समूह है जो किसी संस्था की क्रियाओं का संचालन करता है। इस वर्ग में ज्यों-ज्यों आर्थिक एवं सामाजिक सम्बन्धों में जटिलता आती जा रही है, त्यों-त्यों परिवार अथवा राजनीतिक कारणों के स्थान पर पेशेवर शिक्षा प्राप्त व्यक्ति प्रवेश कर रहे हैं। औद्योगिक संगठनों में अध्यक्ष से लगाकर प्रत्यक्ष पंक्ति, पर्यवेक्षक तक लोग प्रबन्ध वर्ग में सम्मिलित किये गये हैं। ये सभी एक समूह के रूप में अन्य व्यक्तियों से कार्य करवाने के लिए प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन करते हैं।

7. **एक जीवनवृत्ति के रूप में (As a Career)** – प्रबन्ध के सम्बन्ध में कुछ लोगों की धारणा है कि यह एक जीवनवृत्ति या पेशे के एक साधन के रूप में है। वास्तव में ऐसी धारणा रखने वाले लोगों का यह मानना है कि प्रबन्ध, वह कार्य या धन्धा (Profession) है जिसमें लोग दूसरों से कार्य करवाने की जिम्मेदारी उठाते हैं।

8. **एक कौशल के रूप में (As a Skill)** – कुछ प्रबन्धशास्त्रियों ने प्रबन्ध को एक कौशल के रूप में स्वीकारा है। कौशल का अर्थ किसी विशिष्ट कार्य को करने की कौशलता या निपुणता से है। अतः प्रबन्ध करने वाले पक्षकार में प्रबन्धक की कुछ कौशलताओं का होना आवश्यक है, जैसे—मानवीय, वैचारिक, प्रशासकीय, तकनीकी एवं विश्लेषणात्मक आदि। परिणामस्वरूप वे अपने अधीनस्थों की क्रियाओं की निरन्तर जाँच कर सकेंगे, अन्य लोगों के साथ कार्य कर सकेंगे, अधीनस्थों में समूह-भावना उत्पन्न कर सकेंगे, संस्था की सम्पूर्ण प्रणाली को देख सकेंगे और सभी उप-प्रणालियों को पहचानकर समन्वय स्थापित कर सकेंगे।

## II— प्रबन्ध की आधुनिक अवधारणाएँ (Modern or New Concepts of Management)-

1. **वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा (Concept of Scientific Management)** - प्रबन्ध कार्य की वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा के जन्मदाता एफ.डब्ल्यू.टेलर है। इनके अनुसार प्रबन्ध का अर्थ कार्य करने की सर्वोत्तम विधि खोजना, न्यूनतम लागत एवं प्रयासों से अधिकतम उत्पादन करने से है। इसके अलावा उन्होंने कहा कि, “प्रबन्ध यह जानने की कला है कि आप क्या करना चाहते हैं। तत्पश्चात् यह सुनिश्चित करना कि वे (कर्मचारी) उस कार्य को सर्वोत्तम एवं सबसे सस्ती विधि से किस प्रकार से पूरा करते हैं।”

वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा की आधारभूत मान्यता यह है कि, “प्रत्येक कार्य को करने की एक सर्वोत्तम विधि है।” अतः इस अवधारणा के समर्थकों ने प्रयोगों एवं शोध के आधार पर कार्य की सर्वोत्तम विधि खोजने और उस विधि से कार्य करने को प्रबन्ध मान लिया था।

2. **मानव-प्रधान अवधारणा (People-Oriented Concept)**—प्रबन्ध की मानव-प्रधान अवधारणा इस मान्यता पर आधारित है कि, “प्रबन्ध दूसरों से कार्य करवाने की कला है।” मानव का विकास करके ही संस्था के कार्यों को भली प्रकार पूरा करवाया जा सकता है। यही नहीं, प्रबन्ध तभी सफल हो सकता है, जब वह एक ओर कर्मचारियों की आर्थिक, सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करे एवं दूसरी ओर आपसी सम्बन्धों को मधुर बनाये। इसके अतिरिक्त वह संगठन में कार्य का ऐसा वातावरण उपलब्ध करे ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिकतम क्षमता का उद्देश्य की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण रूप से योगदान दे सके। इस प्रकार प्रबन्ध की यह अवधारणा मानती है कि न्यूनतम लागत और प्रयासों से संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति तभी सम्भव है, जबकि प्रबन्ध अपने कर्मचारियों का ठीक से विकास करे।

3. **नेतृत्व अवधारणा (Leadership Concept)** – कुछ विद्वानों की मान्यता है कि प्रबन्ध का कार्य अपने अधीनस्थों को नेतृत्व एवं मार्गदर्शन प्रदान करना है। इनका यह मानना है कि सम्पूर्ण संस्था की सफलता एवं कार्यकुशलता नेतृत्व पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार “प्रबन्ध एक नेतृत्व शक्ति है”, यह संगठन को उचित दिशा प्रदान करके लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकता है। अतः ऐसी अवधारणा रखने वाले प्रबन्ध से आशय नेतृत्व प्रदान करने से ही लगते हैं।

4. **सांयोगिक अवधारणा (Contingency Concept)** – कुछ विद्वान यह मानते हैं कि प्रबन्ध कार्य की सफलता में परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसके अनुसार, “प्रबन्ध सांयोगिक अथवा परिस्थितिजन्य है।” अतः प्रबन्धक तभी सफल हो सकता है, जबकि परिस्थितियाँ एवं घटनाओं के अनुरूप प्रबन्धक अपना कार्य करें।

योगिक अवधारणा के समर्थक यह मानते हैं कि प्रबन्ध की सफलता का कोई पूर्व निर्धारित सूत्र नहीं होता है। प्रबन्ध की सफलता के लिए परिस्थितियों के अनुसार ही नियोजन, संगठन, अभिप्रेरण एवं नियन्त्रण करना चाहिए और उसी के अनुरूप संस्था के उद्देश्य, नीतियाँ, नियम एवं कार्यप्रणाली निर्धारित करनी चाहिए।

5. **सहकारी सामाजिक प्रणाली अवधारणा (Co-operative Social System Concept)** – प्रबन्ध की इस अवधारणा के समर्थकों का कहना है कि संगठन की सफलता इससे जुड़े व्यक्तियों के आपसी व्यक्तिगत एवं सामूहिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है। अतः प्रबन्ध की सफलता के लिए संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के आपसी औपचारिक सम्बन्धों के साथ-साथ अनौपचारिक सम्बन्धों का भी विकास करना चाहिए। ऐसा करके प्रबन्धक अपने उद्देश्यों को अधिकतम सफलता के साथ प्राप्त कर सकता है।

6. **निर्णयन अवधारणा (Decision-Making Concept)** – प्रबन्ध विशेषज्ञों में कुछ विशेषज्ञों ने प्रबन्ध में निर्णयन का महत्त्व बताते हुए कहा कि, “प्रबन्ध निर्णय लेने की प्रक्रिया है।” उनका मानना है कि कोई भी प्रबन्धक अच्छे निर्णयों के द्वारा ही न्यूनतम लागत तथा प्रयासों से उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। अतः प्रबन्ध

की सफलता के लिए अच्छे निर्णय लेते समय प्रबन्धकों को उपलब्ध साधनों और परिस्थितियों को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिए अपितु निर्णयों से भविष्य में उत्पन्न होने वाले प्रभावों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

निर्णयन अवधारणा यह स्पष्ट करती है कि प्रबन्ध सामग्री, उत्पादन, कर्मचारी/श्रम, यन्त्र, कार्यप्रणाली, तकनीक, विपणन, मशीन एवं पद्धति आदि के सम्बन्ध में निर्णय लेकर ही संगठन का संचालन करते हैं। प्रबन्ध सही समय पर सही निर्णय लेने की कला है।

7. **प्रणालीगत अवधारणा (System Concept)** – कुछ विद्वानों ने प्रबन्धकीय कार्यों की सफलता के लिए प्रबन्ध को प्रणालीगत अवधारणा को अपनाने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि, प्रणाली कार्य करने का एक मान्य एवं सुव्यवस्थित तरीका है जो प्रबन्ध के यन्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। क्रियात्मक शोध (Operation Research) की भाषा में प्रणाली परस्पर क्रियाशील यन्त्रों का समूह है। प्रणाली बताती है कि संस्था के सभी विभाग तथा कार्य, परस्पर जुड़े हुए हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए प्रबन्ध कार्य करते समय इस अभिन्नता को ध्यान में रखना चाहिए।
8. **सर्वग्राही अवधारणा (Electic Concept)** – प्रबन्ध एक सर्वग्राही या व्यापक अवधारणा के समर्थक प्रो. कून्ज एवं टैरी हैं। इनका मानना है कि प्रबन्ध कार्यों की प्रक्रिया से सम्बन्धित कार्यों को करने के लिए प्रबन्ध की अन्य अवधारणाओं द्वारा सुझायी गई विधियों को भी ध्यान में रखना चाहिए। उन्होंने इसे 'क्रियात्मक प्रबन्ध' एवं 'संशोधित प्रबन्ध प्रक्रिया' का नाम दिया। इस प्रकार संयोजित रूप में प्रबन्ध की व्यापक अवधारणा में यह कहा कि वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रक्रियात्मक, मानव संसाधन, निर्णयन, नेतृत्व, प्रणालीगत एवं संशोधित अवधारणाओं का अपना-अपना महत्त्व है। इसलिए उनमें से किसी को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी अवधारणाओं का संयोजन किया जाए और एक व्यापक अवधारणा का विकास किया जाए।

### **प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definition of Management)**

सामान्य अर्थ में, प्रबन्ध से आशय दूसरे व्यक्तियों से कार्य कराने की युक्ति से लिया जाता है। किन्तु विस्तृत अर्थ में, प्रबन्ध से आशय उस कला और विज्ञान से है जो निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न मानवीय प्रयासों से सम्बन्ध रखता है। इस अर्थ में प्रबन्ध में प्रमुखतया नियोजन, संगठन, समन्वय, अभिप्रेरण, निर्देशन एवं नियन्त्रण आदि कार्य सम्मिलित होते हैं।

आधुनिक प्रबन्ध के सन्दर्भ में कहा जाता है कि औपचारिक रूप से संगठित वर्गों के साथ मिलकर तथा उनसे कार्य करवाने की कला का नाम ही प्रबन्ध है। वर्तमान समय में प्रबन्ध को एक व्यापक रूप में माना गया है। इसके परिणामस्वरूप आज तक इसका कोई सर्वमान्य अर्थ भी नहीं दिया जा सका है। क्योंकि प्रबन्ध विशेषज्ञ प्रबन्ध को अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखते हैं जिसके कारण प्रबन्ध के सम्बन्ध में अभी तक विरोधाभास बना हुआ है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के जन्मदाता फ्रेड्रिक विन्सलो टेलर ने प्रबन्ध का आशय संगठनात्मक साधनों एवं क्रियाओं के कुशल प्रबन्ध से लगाया है। जबकि फ्रांस के प्रसिद्ध उद्योगपति हेनरी फेयोल के मतानुसार प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन करना ही प्रबन्ध है। इसी प्रकार मानवीय सम्बन्ध विचारधारा के प्रबल समर्थक लॉरेन्स ए. एप्पले ने व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों को ही प्रबन्ध माना है। इसी श्रृंखला में प्रो. थियो हेमन, कून्ट्ज एवं ओ डोनेल आदि ने भी प्रबन्ध के अलग-अलग अर्थ दिये।

**परिभाषाएँ**— प्रबन्ध को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ लेखकों एवं प्रबन्ध विशेषज्ञों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करते हैं। जिससे प्रबन्ध की वास्तविकता को पहचाना जा सके। इन परिभाषाओं में प्रमुखतः निम्नलिखित हैं—

### **कार्यात्मक या प्रक्रियात्मक परिभाषाएँ :**

**हेनरी फेयोल के अनुसार**, "प्रबन्ध करने का आशय पूर्वानुमान लगाना, योजना बनाना, संगठन करना, निर्देशन देना, समन्वय करना तथा नियन्त्रण करना है।"

**ई. एफ. एल. ब्रेंच के अनुसार**, "प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है जो किसी उपक्रम के निर्धारित उद्देश्यों अथवा कार्य करने के लिए क्रियाओं का प्रभावपूर्ण नियोजन एवं नियमन करने के उत्तरदायित्व को स्पष्ट करती है।"

अन्य व्यक्तियों से कार्य करने के रूप में –

लॉरेन्स ए. एपप्ले के अनुसार, “प्रबन्ध दूसरे व्यक्तियों के प्रयासों से परिणामों को प्राप्त करना है।”

हेरोल्ड कून्टज के अनुसार, “औपचारिक रूप से संगठित वर्गों के साथ तथा उनके द्वारा कार्य करवाने की कला का नाम ही प्रबन्ध है।”

मानव प्रधान परिभाषा : –

लॉरेन्स ए. एपप्ले के अनुसार, “प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन, प्रबन्ध ही सेविवर्गीय प्रशासन है।”

उत्पादकता तथा दक्षता पर आधारित परिभाषा –

प्रो. जॉन एफ. मी के अनुसार, “प्रबन्ध का आशय न्यूनतम प्रयास द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने की कला से है जिससे कि नियोक्ता एवं कर्मचारी दोनों के लिए अधिकतम समृद्धि एवं खुशहाली तथा जनता के लिए सर्वश्रेष्ठ सेवा सम्भव हो सके।”

निर्णय प्रक्रिया प्रधान परिभाषा : –

स्टेनले वेन्स के अनुसार, “प्रबन्ध का आशय निर्णय लेने तथा मानवीय क्रियाओं पर नियन्त्रण करने की प्रक्रिया से है। जिससे कि पूर्व निर्धारित लक्ष्य आसानी से प्राप्त किये जा सकें।”

अन्य परिभाषाएँ –

पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार, “प्रबन्ध एक बहु-उद्देशीय तन्त्र है, जो व्यवसाय का प्रबन्ध करता है एवं प्रबन्धकों का प्रबन्ध करता है तथा कार्य करने वाले का एवं कार्य का प्रबन्ध करता है।”

**प्रबन्ध की विशेषताएँ या लक्षण (Characteristics or Features of Management)**

प्रबन्ध एक विशिष्ट कार्य ही नहीं अपितु कार्यों की प्रक्रिया भी है। इसकी प्रकृति को सही रूप में समझने के लिए इसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना परमावश्यक है। प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **पूर्व निर्धारित उद्देश्य (Purposeful activity)**- प्रबन्ध कार्य निरुद्देश्य या लक्ष्यहीन नहीं होता है। प्रबन्ध के पूर्व निर्धारित कुछ उद्देश्य होते हैं। प्रबन्ध इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के कुशलतम एवं कारगर उपयोग के लिए सतत किया जाने वाला कार्य है। क्रीटनर (Kreitner) ने लिखा है कि “उद्देश्यों के बिना प्रबन्ध प्रक्रिया गंतव्य स्थल को निर्धारित किये बिना की गयी यात्रा के समान है जो उद्देश्यहीन एवं निरर्थक होगी।”
2. **प्रबन्ध एक विशिष्ट कार्य (Management is a distinct activity)**- प्रबन्ध शब्द का उपयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। किन्तु, इसके व्यवस्थित शिक्षण-प्रशिक्षण एवं इसको व्यवहार में अपनाने की दृष्टि से इसे एक विशिष्ट कार्य के रूप में ही माना जाता है। **टैरी तथा फ्रैंकलिन ने भी लिखा है कि “प्रबन्ध व्यक्ति नहीं है बल्कि एक विशिष्ट कार्य है।”** वस्तुतः यह एक अत्यधिक चुनौतिपूर्ण एवं परिश्रमपूर्ण कार्य है। यह असंगठित संसाधनों का उपयोग कर उपयोगी उत्पादों/सेवाओं का उत्पादन करने में सक्षम है।
3. **मानवीय कार्य (Human activity)**- प्रबन्ध एक मानवीय कार्य है। यह कार्य मनुष्यों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। प्रबन्ध कार्य में यन्त्रों (कम्प्यूटरों आदि) का उपयोग बढ़ा है किन्तु ये मनुष्यों का स्थान नहीं ले सकते हैं। प्रबन्ध विशेषज्ञ टैरी ने ठीक ही लिखा है कि “कम्प्यूटर प्रबन्ध में सहायता करते हैं किन्तु ये मानव का स्थान नहीं ले सकते हैं।” यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्ध कार्य में कुछ दशकों पूर्व तक पुरुष वर्ग का ही आधिपत्य था किन्तु अब महिलाओं का भी इस कार्य में योगदान बढ़ता जा रहा है।
4. **औपचारिक समूहों में सम्पन्न कार्य (It takes place in formal groups)**- प्रबन्ध कार्य औपचारिक समूहों में ही सम्पन्न किया जा सकता है। असंगठित व्यक्तियों के समूह केवल भीड़ होते हैं जिनका प्रबन्ध नहीं किया जा सकता है।

5. **अन्य व्यक्तियों से कार्य करवाने का कार्य** (An activity for getting things done through others) – प्रबन्ध अन्य व्यक्तियों से कार्य करवाने का कार्य है। प्रबन्धक अन्य लोगों से कार्य करवाते हैं और वे स्वयं प्रबन्धकीय कार्य (नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियन्त्रण) करते हैं। स्व. कूज ने ठीक ही लिखा है कि औपचारिक रूप से संगठित लोगों से कार्य करवाने की कला का नाम ही प्रबन्ध है।
6. **वातावरणमूलक कार्य (Environment-oriented activity)**- प्रबन्ध एक ऐसा कार्य है जो वातावरणमूलक है। दूसरे शब्दों में, प्रबन्ध कार्य संस्था के अन्दर एवं बाहर के वातावरण से प्रभावित होता है तथा उसे प्रभावित भी करता है। आन्तरिक वातावरण में कर्मचारी तथा साधन होते हैं जबकि बाह्य वातावरण में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा तकनीकी वातावरण होता है। यह सम्पूर्ण वातावरण एवं प्रबन्ध कार्य राजनीतिक तथा तकनीकी वातावरण होता है। यह सम्पूर्ण वातावरण एवं प्रबन्ध कार्य एक-दूसरे को परस्पर रूप से प्रभावित करते रहते हैं।
7. **सृजनात्मक कार्य (Creative activity)** – प्रबन्ध एक सृजनात्मक कार्य है। यह कार्य मानवीय तथा भौतिक संसाधनों का इस प्रकार उपयोग करता है कि न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन या सफलता प्राप्त की जा सके। यह साधनों की प्रभावशीलता एवं दक्षता (Effectiveness and efficiency) को बढ़ाकर अधिकाधिक उत्पादकता का सृजन करने में योगदान देता है। इसलिए **ज़कर ने इसे “प्रत्येक संस्था का जीवनदायी तत्त्व” (Life-giving element) माना है।**
8. **श्रेष्ठ व्यक्तियों का कार्य** (An activity of elite persons) – प्रबन्ध कार्य समाज के श्रेष्ठ या विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला कार्य है। ऐसे व्यक्ति विशिष्ट ज्ञान, अनुभव एवं अनुभूति वाले होते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने तार्किक एवं व्यावहारिक ज्ञान तथा अपनी संकल्पना शक्ति से प्रबन्धकीय कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करते हैं।
9. **सभी स्तरों पर व्याप्त क्रिया (Pervasive at all levels)** – प्रबन्ध प्रक्रिया संस्था के सभी स्तरों पर व्याप्त क्रिया है। दूसरे शब्दों में, उच्च प्रबन्धकों, मध्यमवर्गीय प्रबन्धकों तथा पर्यवेक्षीय प्रबन्धकों सभी द्वारा की जाने वाली क्रिया है।
10. **प्रबन्ध एक प्रक्रिया है (Management is a process)** – प्रबन्ध की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं : –
  - (i) यह कार्यों की प्रक्रिया (Process of functions) है जिसमें प्रत्येक प्रबन्धक को क्रमशः नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियन्त्रण के कार्य करने पड़ते हैं।
  - (ii) यह समन्वित एवं सतत प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक कार्य दूसरे कार्यों से समन्वय बनाये रखकर निरन्तर रूप से किया जाता है।
  - (iii) यह एक सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज के लोगों द्वारा समाज के लिए, समाज में रहकर पूर्ण की जाती है।
  - (iv) यह एक गतिशील प्रक्रिया है जो समय, परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।
  - (v) यह सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो सभी कार्यों, सभी संगठनों, संगठनों के सभी स्तरों तथा सभी देशों में अपनायी जाती है।
11. **सार्वभौमिक क्रिया (Universal activity)** – प्रबन्ध एक सार्वभौमिक क्रिया है। यह छोटे, बड़े, धार्मिक, राजनीतिक, सैनिक, सामाजिक, व्यावसायिक आदि संगठनों में की जाने वाली क्रिया है।
12. **पदानुक्रम व्यवस्था (Hierarchical system)** – प्रबन्धक दूसरों से कार्य करवाने के लिए पदानुक्रम व्यवस्था बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रबन्धक दूसरों से कार्य करवाने हेतु अपने कुछ अधिकारों को अपने अधीनस्थों को सौंपते हैं। वे अधीनस्थ पुनः अपने कुछ अधिकारों को अपने अधीनस्थों को सौंपते हैं। फलतः प्रत्येक अधीनस्थ अपने अधिकारी के प्रति उत्तरदायी भी बन जाता है। इस प्रकार संस्था के प्रत्येक स्तर पर अधिकार एवं दायित्व की श्रृंखला (अर्थात् आदेशों की श्रृंखला) का निर्माण हो जाता है। इस श्रृंखला में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रबन्धकीय पदों का निर्माण हो जाता है। इसे ही पदानुक्रम व्यवस्था कहते हैं। इस पदानुक्रम व्यवस्था में अधिकार उपर से नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं।



13. **सामान्य सिद्धान्त (General principles)**- प्रबन्ध की एक विशेषता यह है कि इसके कुछ सामान्य सिद्धान्त हैं। ये सिद्धान्त विभिन्न शिक्षाविदों एवं प्रबन्धकों ने गहन शोध एवं अनुभव के आधार पर प्रतिपादित किये हैं। सभी प्रबन्धक समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप समायोजन करते हुए इन सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं एवं प्रबन्ध प्रक्रिया का संचालन करते हैं।
14. **निर्णयन (Decision-making)** – प्रबन्ध की एक विशेषता यह है कि सभी प्रबन्धकों को सदैव कोई न कोई निर्णय करना ही पड़ता है। कभी कुछ कार्य करने के सम्बन्ध में तो कभी किसी कार्य को टालने के सम्बन्ध में निर्णय लेना ही पड़ता है। कभी नीतिगत निर्णय लेने पड़ते हैं तो कभी परिचालन सम्बन्धी निर्णय करने पड़ते हैं। पीटर एफ. ड्रकर ने इसलिए लिखा है कि “प्रबन्धक जो भी करता है निर्णयन द्वारा ही करता है।”
15. **नेतृत्व (Leadership)** – प्रबन्ध की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें नेतृत्व भी सम्मिलित है। प्रत्येक प्रबन्धक में नेतृत्व करने की क्षमता होनी आवश्यक है। इस गुण के होने पर प्रबन्धक की सफलता में कोई सन्देह नहीं रह जाता है।
16. **समन्वय प्रबन्ध का सार (Coordinatio is th essence of management)**- प्रबन्ध के अध्ययन एवं व्यवहार के लिए यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए की समन्वय प्रबन्ध का कार्य नहीं है बल्कि यह तो प्रबन्ध का सार है। (it is not a function but essence of management) प्रबन्ध संस्था के मानवीय प्रयासों एवं भौतिक संसाधनों के समन्वय की प्रक्रिया है ताकि संस्था के उद्देश्यों, इससे सम्बन्धित वर्गों की अपेक्षाओं को दक्षतापूर्ण एवं कारगर ढंग से पूर्ण किया जा सके।
17. **उत्पादकता से सरोकार (Concerned with productivity)**- प्रबन्धक अपने संसाधनों की उत्पादकता से सरोकार रखता है। यह उल्लेखनीय है कि उत्पादकता संसाधनों की कुशलता एवं प्रभावशीलता से उत्पन्न होती है। अतः प्रत्येक प्रबन्धक संस्था के संसाधनों का मितव्ययता से उपयोग करके कुशलता प्राप्त करता है तथा संसाधनों का इस प्रकार उपयोग करता है कि उनसे इच्छित परिणाम या प्रभाव प्राप्त/उत्पन्न किये जा सके।
18. **अमूर्त एवं अदृश्य शक्ति (Intangible force)**- टेरी ने लिखा है कि प्रबन्ध एक अदृश्य शक्ति है। इसे देखा एवं छुआ नहीं जा सकता किन्तु इसके प्रयासों के परिणामों के आधार पर इसकी उपस्थिति का स्वतः अनुमान हो जाता है। जब संस्था में सभी कार्य सुचारू रूप से होते रहते हैं, कर्मचारी सन्तुष्ट होते हैं तथा संस्था में सौहार्दपूर्ण कार्य का वातावरण होता है तब प्रबन्ध शक्ति की उपस्थिति का सहज ही अनुमान हो जाता है। कभी-कभी इस अदृश्य शक्ति का भान इसकी अनुपस्थिति में तब होता है जबकि संस्था असफलता की ओर जाने लगती है। ऐसे समय में लोग यह कहकर इस शक्ति को स्वीकार करते हैं कि “संस्था कुप्रबन्ध के कारण डूब रही है।
19. **प्रबन्ध कला एवं विज्ञान का संगम (Management an amalgam of art and science)**- प्रबन्ध एक ऐसा कार्य है जो कला के साथ-साथ विज्ञान भी है। यह कला है क्योंकि इसमें ज्ञान एवं चातुर्य का उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर प्रबन्ध विज्ञान भी है क्योंकि इसका व्यवस्थित ज्ञान उपलब्ध है जिसमें कारण एवं परिणाम का सम्बन्ध पाया जाता है किन्तु, निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि यह वह कला है जो वैज्ञानिक आधार पर बनाये गये सिद्धान्तों को अपनाती है। अतः यह कला एवं विज्ञान का संगम है।
20. **प्रबन्ध एक पेशा बन रहा है (management is becoming a Profession)** – प्रबन्ध एक पेशा बनता जा रहा है क्योंकि इसमें पेशे की सभी विशेषताएँ विकसित होती जा रही हैं। इसके व्यवस्थित ज्ञान का भण्डार हो गया है जिनमें कई प्रबन्धकीय सिद्धान्त, अवधारणाएँ एवं विचारधाराएँ सम्मिलित हैं। इस ज्ञान के अध्ययन एवं अध्यापन की उचित व्यवस्था भी उपलब्ध है। स्पष्ट है कि प्रबन्ध तीव्र गति से एक पेशा बनता जा रहा है।
21. **प्रबन्ध बहु-विषयक (Multi-disciplinary)**- प्रो.मेसी के अनुसार, प्रबन्ध विविध विषयों द्वारा विकसित ज्ञान तथा विचार धाराओं के समन्वय एवं व्यवहार का विषय है।” वस्तुतः यह एक ऐसा विषय है जिसके अध्ययन, अध्यापन एवं व्यवहार में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, इन्जिनियरिंग आदि विषयों के ज्ञान का उपयोग किया जाता है।
22. **स्वामित्व एवं प्रबन्ध (Ownership and management)**- वृहदस्तरीय नियमित व्यवसायिक संगठनों में प्रायः स्वामित्व एवं प्रबन्ध पृथक-पृथक व्यक्तियों के हाथों में होता है किन्तु, इनमें भी प्रायः यह देखने में आता है कि उच्च प्रबन्धकीय पदों (संस्थाध्यक्ष, प्रबन्ध संचालक आदि) का स्वामी ही कार्य करते हैं। संस्था के नीचे के

स्तरों पर प्रबन्धक पद पर कार्यरत व्यक्ति प्रायः स्वामियों के परिवार से असम्बन्ध होते हैं। छोटे एवं मध्यम स्तर के संगठनों में तो प्रवर्तक या साहसी ही स्वामी, (अधिकांश पूँजी के धारक) प्रमुख कार्यकारी प्रबन्धक होते हैं। संगठन के निचले स्तर पर नियुक्त प्रबन्ध भी प्रायः सम्बन्धित व्यक्ति ही होते हैं।

### प्रबन्ध की प्रकृति (Nature of Management)

प्रबन्ध एक स्थिर ज्ञानशास्त्र न होकर परिवर्तनशील है। परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार प्रबन्ध विज्ञान में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रबन्धकीय क्षेत्र में होने वाले इन परिवर्तनों से जहाँ एक ओर प्रबन्ध का विकास होता है, वहीं दूसरी ओर प्रबन्ध की प्रकृति का स्वरूप भी बदलता रहता है। समय-समय पर विभिन्न विशेषज्ञों ने अपनी-अपनी विचारधाराओं, मान्यताओं एवं दृष्टिकोणों के आधार पर प्रबन्ध की प्रकृति को स्पष्ट किया है। वर्तमान में प्रबन्ध की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रबन्ध विशेषज्ञ एक मत नहीं हैं। अतः प्रबन्ध की प्रकृति को निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा समझा जा सकता है।

#### I- प्रबन्ध – एक जन्मजात या अर्जित प्रतिभा के रूप में –

कुछ विद्वानों की यह मान्यता रही है कि “प्रबन्धक पैदा होते हैं, बनाये नहीं जा सकते हैं।” इनका मानना है कि “प्रबन्ध एक जन्मजात प्रतिभा है।” इनके अनुसार कुछ व्यक्ति जन्म से ही इतने अधिक योग्य, कुशल, दूरदर्शी एवं अनुभवी होते हैं कि वे दूसरों का नेतृत्व एवं संगठन करने का कार्य सफलतापूर्वक कर लेते हैं। अमेरिका के हेनरी फोर्ड, भारत के जमशेद टाटा, बिड़ला, जमनालाल बजाज और धीरूभाई अम्बानी आदि प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इन्होंने प्रबन्ध की कोई औपचारिक शिक्षा-प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था, फिर भी सफल प्रबन्धक थे। किन्तु आज के समय में इन उदाहरणों को सही नहीं माना जा सकता है क्योंकि यह विचार प्रबन्ध के एकाकी पहलू को प्रस्तुत करता है।

आज प्रबन्ध के बारे में जन्मजात प्रतिभा की धारणा क्षीण होती जा रही है, के स्थान पर अर्जित प्रतिभा के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि प्रबन्ध एक प्रशिक्षित कौशल है। इसलिए जन्मजात प्रतिभा एक मिथ्या एवं छलावा है और वर्तमान में इसका कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि—

1. अब प्रबन्ध एक विशिष्ट ज्ञान, कार्य एवं विज्ञान माना जाता है।
2. प्रबन्ध के शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था है।
3. व्यवसाय में स्वामित्व एवं प्रबन्ध पृथक्-पृथक् हो गये हैं।
4. प्रबन्धकों की नई पीढ़ी प्रशिक्षित है और औपचारिक शिक्षा प्राप्त करके आ रही है।
5. अब प्रबन्ध सामान्य ज्ञान, अनुभव अथवा परम्पराओं का विषय नहीं रह गया है। इसकी प्रकृति जटिल एवं वैज्ञानिक हो गयी है।
6. प्रबन्ध एक विज्ञान बन गया है, जिसे सीखा जा सकता है।
7. प्रबन्ध की अवधारणाओं में आये दिन हो रहे परिवर्तनों से उद्योगपतियों में भी प्रबन्धकीय ज्ञान आवश्यक हो गया है।
8. आज की जटिलता एवं चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रबन्धकीय ज्ञान का शिक्षण-प्रशिक्षण आवश्यक है।

#### II- प्रबन्ध – एक सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में (Management-As an Universality) -

‘प्रबन्ध की सार्वभौमिकता’ को सर्वप्रथम हेनरी फेयोल ने बताया, फिर एफ. डब्ल्यू. टेलर ने इस अवधारणा का समर्थन किया। प्रबन्ध की सार्वभौमिकता का आशय प्रबन्ध के सिद्धान्त, तकनीकें, प्रविधियाँ एवं कार्यों की सर्वव्यापकता से है। अर्थात् प्रबन्ध प्रत्येक संस्था चाहे वह व्यावसायिक अथवा सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक हो, में समान रूप से लागू होता है। चाहे परिवार हो, क्लब हो, गिरजागर हो, मन्दिर या मस्जिद हो, चाहे केन्द्रीय या राज्य या स्थानीय सरकार क्यों न हो, चाहे उद्योग बड़ा, छोटा या कुटीर उद्योग क्यों न हो, सभी स्थानों पर प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त परिवार का मुखिया, क्लब का सचिव, श्रम संघ का अध्यक्ष, गिरजाघर का मन्त्री, समिति का अध्यक्ष अथवा देश-विदेश का प्रधानमन्त्री अथवा राष्ट्रपति, ये सभी व्यक्ति लगभग उसी

प्रकार से प्रबन्धकीय कार्य सम्पन्न करते हैं, जिस प्रकार निर्माणी संस्था के प्रबन्ध कार्य करते हैं। यही नही सेना, कार्यालय अथवा खेल के मैदान और यहां तक कि युद्ध में सेनापति को अपने सैनिकों की प्रबन्ध व्यवस्था में नियोजन की आवश्यकता पड़ती है, जो प्रबन्ध का एक कार्य है। यही कारण है जिससे कि प्रबन्ध को सार्वभौमिक कहा जाता है। लारेन्स ए. एप्पले के अनुसार “जो प्रबन्ध करता है वह किसी का भी प्रबन्ध कर सकता है।”

### III-प्रबन्ध—एक सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में (Management-As a social Responsibility) :-

‘प्रबन्ध एक सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में भी है। प्रबन्ध की यह प्रकृति स्पष्ट करती है कि वर्तमान में एक प्रबन्धक केवल संस्था के स्वामियों के प्रति ही दायी नहीं होता है, अपितु विभिन्न वर्गों या पक्षकारों के प्रति भी दायी होता है। प्रबन्ध के सामाजिक उत्तरदायित्व का आशय उन नीतियों का प्रयोग करने का, उन निर्णयों को लेने का अथवा उन कार्यों की रूपरेखाओं के अनुसरण का, जो हमारे समाज के उद्देश्यों एवं मूल्यों के लिए आवश्यक है, उत्तरदायित्व है।

ब्रेच के अनुसार, “प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है, जो समाज के लिए, समाज के विभिन्न पक्षकारों द्वारा सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति करता है।”

इस प्रकार देश के जटिल आर्थिक एवं व्यावसायिक जीवन में प्रत्येक उपक्रम के अनेक उत्तरदायित्व हैं, जैसे—स्वयं के प्रति, अपने ग्राहकों के प्रति, कर्मचारियों के प्रति, अंशधारियों के प्रति, समाज के प्रति एवं अलग-अलग तथा कभी-कभी परस्पर विरोधी उत्तरदायित्वों में सामन्जस्य स्थापित करना प्रबन्ध का ही कार्य है।

### प्रबन्ध का निम्नलिखित वर्गों के प्रति उत्तरदायित्व है —

1. **स्वामियों के प्रति (Towards Owners)-** प्रबन्ध स्वामियों के प्रति उत्तरदायित्व में व्यवसाय की स्थिरता एवं लाभोपार्जन के प्रति हमेशा जागरूक रहता है। इसलिए प्रबन्धकों का अपने स्वामियों के प्रति ये उत्तरदायित्व होते हैं, जैसे— (i) विनियोजित पूँजी को सुरक्षित रखना (ii) पूँजी पर उचित प्रतिफल दिलवाना (iii) पूँजी का सदुपयोग करना (iv) अंशधारियों के प्रति समान व्यवहार करना (v) विनियोक्तों को संस्था की प्रगति की सूचना देना आदि।
2. **कर्मचारियों के प्रति (Towards Employees)-** प्रबन्ध का कर्मचारियों के प्रति ये उत्तरदायित्व होते हैं— (i) उचित वेतन देना (ii) उचित कार्यदशा देना (iii) आय एवं कार्य की सुरक्षा देना (iv) मानवोचित व्यवहार करना (v) कल्याणकारी सुविधाएँ देना (vi) विकास के अवसर देना (vii) श्रम समस्याओं का शीघ्र निवारण करना (viii) लाभ एवं प्रबन्ध में हिस्सा देना।
3. **ग्राहकों के प्रति (Towards Customers)-** प्रबन्ध का ग्राहकों या उपभोक्ताओं के प्रति ये उत्तरदायित्व होते हैं— (i) उचित मूल्य पर उचित वस्तुएँ देना (ii) अच्छी किस्म की वस्तुएँ देना (iii) झूठा विज्ञापन न देना (iv) नवीन वस्तुओं का निर्माण करना (v) विक्रय-पश्चात् सेवा देना (vi) अच्छी पैकिंग, मरम्मत एवं पुनः लौटाने की सुविधा देना आदि।
4. **पूर्तिकर्ताओं के प्रति (Towards Suppliers)-** प्रबन्ध का पूर्तिकर्ताओं के प्रति भी उत्तरदायित्व होते हैं— (i) उचित मूल्य का भुगतान करना (ii) सही समय पर भुगतान करना (iii) वस्तुओं की माँग एवं फैशन की जानकारी देना (iv) भावी विकास की सूचना देना (v) अन्य पूर्तिकर्ताओं को अवसर देना (vi) उचित शर्तों का निर्माण करना।
5. **स्थानीय समुदायों के प्रति (Towards Local Community)-** प्रबन्ध का स्थानीय समुदायों के प्रति अनेक उत्तरदायित्व होते हैं, जैसे— (i) कल्याणकारी योजनाओं का संचालन करना (ii) प्रदूषण से बचाना (iii) अच्छे नागरिक की भाँति कर्तव्यों का पालन करना (iv) जीवन-स्तर ऊँचा उठाना (v) अपाहिजों एवं असहायों की सहायता करना।
6. **ऋणदाताओं के प्रति (Towards Creditors)-** प्रबन्ध का ऋणदाताओं के प्रति ये दायित्व होते हैं — (i) उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त करना (ii) ब्याज एवं मूलधन सुरक्षित रखना (iii) ऋणदाता की सुरक्षा के लिए बन्धक रखी गयी सम्पत्ति को सुरक्षित रखना (iv) ऋणदाताओं के प्रति विरोधी कार्य न करना।
7. **अन्य व्यावसायिक संस्थाओं के प्रति (Towards Other Business Institutions)-** एक प्रबन्धक के अन्य व्यावसायिक संस्थाओं के प्रति अनेक उत्तरदायित्व होते हैं, जैसे— (i) स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन देना

- (ii) कृत्रिम सौदेबाजी को प्रोत्साहन न देना (iii) व्यावसायिक सूचनाओं का दुरुपयोग न करना (iv) ग्राहकों को न भड़काना (v) आवश्यकता के समय प्रतियोगी संस्थाओं की सहायता करना।
8. **सरकार के प्रति (Towards Government)** – प्रबन्ध का सरकार के प्रति भी कई उत्तरदायित्व होते हैं— (i) नियमों का पालन करना (ii) करों का समय पर भुगतान करना (iii) निजी स्वार्थ हेतु सरकारी ढाँचे को भ्रष्ट न करना (iv) अनुचित राजनीतिक संरक्षण प्राप्त न करना (v) तस्करी, जमाखोरी एवं कालाबाजारी न करना।
9. **राष्ट्र के प्रति (Towards Nation)**- प्रबन्ध का राष्ट्र के प्रति अनेक दायित्व हैं, जैसे— (i) राष्ट्रीय संसाधनों का विदोहन करना (ii) राष्ट्रीय सम्पत्ति की सुरक्षा करना (iii) राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों का विकास एवं पोषण करना (iv) राष्ट्रीय आय में वृद्धि हेतु प्रयास करना (v) उत्पादकता बढ़ाना।
10. **प्रबन्ध परिषदों के प्रति (Towards Management Associations)**- एक प्रबन्धक के अपने संघ के प्रति ये दायित्व होते हैं— (i) संघ की आचार-संहिताओं का पालन करना (ii) संघ द्वारा पारित प्रस्तावों एवं सुझावों को लागू करना (iii) प्रबन्धकीय ज्ञान के विकास हेतु पेशेवर प्रयासों एवं कौशल का विकास करना।

#### IV- प्रबन्ध –एक पेशे के रूप में (Management-As a Profession) :-

पेशे का अभिप्राय ऐसे विशिष्ट ज्ञान से है जिसमें गहनतम प्रशिक्षण के साथ-साथ नैतिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने की निष्ठा हो। अन्य शब्दों में, पेशा वह व्यवसाय है जिसमें एक व्यक्ति विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति करके विभिन्न व्यक्तियों को निर्देश, मार्गदर्शन एवं परामर्श करता है। **लुईस ए. ऐलन के शब्दों में**, “पेशा एक विशिष्ट प्रकार का कार्य है जिसका निष्पादन क्रमबद्ध ज्ञान एवं सामान्य शब्दावली के प्रयोग से किया जाता है और इसके लिए निश्चित प्रभावों एवं मान्यता प्राप्त संस्था द्वारा प्रतिपादित आचार-संहिता की आवश्यकता होती है।”

इस प्रकार पेशा एक विशिष्ट प्रकार का कार्य है जिसके लिए कुछ विशिष्ट ज्ञान या योग्यता की आवश्यकता होती है और पेशे को अपनाने वाला व्यक्ति आचार-संहिता का पालन करते हुए समाज के एक सम्बन्धित वर्ग की सेवा करता है।

पेशे में निम्नलिखित विशेषताएँ देखी जा सकती हैं –

1. पेशे की प्रथम विशेषता विशिष्ट ज्ञान है। अतः व्यक्तियों (प्रबन्धकों) में विभिन्न कार्यों के सम्बन्ध में विशिष्ट ज्ञान होना आवश्यक है।
2. पेशे के लिए इच्छुक व्यक्तियों को ज्ञान देने के लिए किसी मान्यता प्राप्त शिक्षण संस्था का होना अनिवार्य है ताकि विशिष्ट ज्ञान एवं तकनीकी चातुर्य की प्राप्ति नियमित पाठ्यक्रम के अध्ययन द्वारा प्राप्त की जा सके। इस प्रकार औपचारिक शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए उचित सम्प्रेषण व्यवस्था का होना अनिवार्य है।
3. पेशे के लिए चिकित्साशास्त्र की भाँति प्रबन्धशास्त्र में भी नये विचारों की खोज होना आवश्यक है।
4. प्रत्येक पेशे में लगे व्यक्तियों को सम्बन्धित आचार-संहिता का पालन करना अनिवार्य होता है अन्यथा आचार-संहिता के उल्लंघनकर्ता के विरुद्ध संचालक संस्था द्वारा अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है।
5. पेशे में उस क्रिया का विकास करने के लिए प्रतिनिधि संस्था का होना आवश्यक है ताकि प्रमाप निर्धारित कर पाये और पेशे के क्षेत्र में आये नये विचारों का समन्वय एवं प्रसार कर सके।
6. पेशे में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को निर्धारित पाठ्यक्रम, विशिष्ट ज्ञान एवं प्रशिक्षण पूरा करने के पश्चात् उस पेशे से सम्बन्धित औपचारिक केन्द्रीय संगठन से लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य होता है।
7. आर्थिक उद्देश्य की अपेक्षा सेवा उद्देश्य प्रमुख होता है। कई बार तो पेशेवर को मानव की सेवा करने के लिए अपना आर्थिक उद्देश्य भी त्यागना पड़ता है।
8. पेशेवर व्यक्तियों एवं उनके मुवक्किलों के मध्य विश्वासाश्रित सम्बन्ध होते हैं।

9. पेशेवर व्यक्तियों को उनकी सेवा के बदले उचित पारिश्रमिक देने पर ही वह पेशे का रूप ले सकता है, चाहे पारिश्रमिक शुल्क या वेतन के रूप में हो। यह पारिश्रमिक कम या अधिक हो सकता है, किन्तु निःशुल्क नहीं होना चाहिए।
10. पेशे में ईमानदारी, निष्ठा, लगन, प्रतिबद्धता, नैतिक दृढ़ता, निपुणता, कुशलता, शिष्टता एवं चातुर्यता होना आवश्यक है।
11. पेशे के लिए व्यक्ति अपनी योग्यता, विशिष्ट ज्ञान एवं प्रशिक्षण का उपयोग अन्य व्यक्तियों एवं संस्थाओं के लिए करे, न कि स्वयं के लिए।
12. शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा पेशेवर ज्ञान का हस्तान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को किया जा सकता है।

### (I) प्रबन्ध एक पेशा है (Management is a Profession)-

प्रबन्ध एक पेशा है, के समर्थकों में लुईस ए. ऐलन, लारेन्स ए. एप्पले, रे. ए. मिलन एवं स्टेनले वेन्स आदि प्रमुख हैं। इनमें से मिलन के अनुसार, "प्रबन्ध एक वैध पेशा है।" हरबर्ड विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष लोवेल के शब्दों में, "प्रबन्ध सबसे बूढ़ी कला एवं सबसे जवान पेशा है।"

इस प्रकार प्रबन्ध को पेशा मानने वाले निम्नलिखित तर्क देकर अपनी बात की पुष्टि करते हैं—

1. प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्रों—उत्पादन, विपणन, सामग्री, वित्तीय, विज्ञापन एवं सेविगीय प्रबन्धकों आदि में विशिष्ट ज्ञान की विद्यमानता है। यदि उनमें इन क्षेत्रों का विशिष्ट ज्ञान नहीं होता है तो वे कार्यो का निष्पादन नहीं कर सकते हैं।
2. प्रबन्ध विज्ञान का औपचारिक शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य सुचारु रूप से संचालित हो रहा है। इस क्षेत्र में विद्यमान विशिष्ट संस्थाएँ प्रबन्ध के सिद्धान्तों, विचारों, तकनीकों एवं विधियों के औपचारिक शिक्षण-प्रशिक्षण प्रदान कर रही हैं।
3. प्रबन्ध विज्ञान की संस्थाओं ने अपने सदस्यों के लिए आचार-संहिताओं का निर्माण किया है और प्रबन्धक उनका पालन भी कर रहे हैं।
4. प्रबन्ध पेशे के नियमन एवं निराकरण हेतु केन्द्रीय एवं औपचारिक संस्थाओं का गठन व्यापक स्तर पर हुआ है जो पेशे के विकास में संलग्न हैं।
5. अब पेशेवर प्रबन्धक अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति संवेदनशील होने लगे हैं। प्रबन्धकों ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि वर्तमान समय में वे तभी सफल हो सकते हैं, जबकि संस्थागत उद्देश्यों के साथ-साथ मानव के प्रति कल्याणकारी दृष्टिकोण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाए।
6. प्रबन्ध इसलिए भी पेशा है क्योंकि प्रबन्ध का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक अनुभव भी दिया जाने लगा है। भारत में एम.बी.ए., सी.ए., सी.एस. आदि पाठ्यक्रमों में व्यावहारिक अनुभव को अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया गया है।
7. अन्य पेशेवर व्यक्तियों की तरह प्रबन्धक भी अपने मुवक्कलों एवं नियोक्ताओं से फीस एवं वेतन प्राप्त करते हैं। पारिश्रमिक की राशि का निर्धारण प्रबन्ध परामर्शदाताओं एवं उनके स्वामियों के मध्य हुए अनुबन्ध पर निर्भर करता है।
8. आजकल प्रबन्धकों के पदों पर योग्यता प्राप्त (MBA, CA, CS, ICWA) व्यक्तियों को नियुक्त करने की परम्परा बनती जा रही है।
9. प्रबन्धकीय ज्ञान एवं चातुर्य का हस्तान्तरण भी सम्भव है।
10. प्रबन्धकों द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया जाता है, पेशेवर प्रबन्धक ज्ञान के विकास के लिए समय-समय पर सभाओं, सम्मेलनों, भाषणों, एवं विचार-गोष्ठियों का आयोजन करते हैं और प्रबन्धक एवं नियोक्ता के मध्य विश्वासाश्रित सम्बन्ध होता है।

### (II) प्रबन्ध एक पेशा नहीं है (Management is not a Profession) –

उपरोक्त मत के विपरीत कुछ प्रबन्धशास्त्री मैक्फरलैण्ड, उर्विक, हॉज एण्ड जॉनसन और हैरोल्ड आदि की मान्यता है कि प्रबन्ध एक पेशा नहीं है क्योंकि पेशे की समस्त विशेषताएँ प्रबन्ध में नहीं पायी जाती हैं। इस सम्बन्ध में हेरोल्ड एवं सह-लेखकों ने कहा कि, “प्रबन्ध वर्तमान काल में पेशे की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता है और इसे पेशे की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।”

प्रबन्ध को पेशे के रूप में नहीं मानने वाले प्रबन्ध विशेषज्ञ निम्नलिखित तर्क देते हैं –

1. पेशे के लिए विशिष्ट ज्ञान, चातुर्य एवं तकनीकी कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु प्रबन्ध में इस प्रकार का अब तक पूर्णरूपेण विकास नहीं हो पाया है। यद्यपि प्रबन्ध के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त अवश्य हैं। परन्तु ये सिद्धान्त अन्य पेशेवर विषयों, जैसे— चिकित्सा, अभियान्त्रिकी आदि के समान सुदृढ़ एवं विकसित नहीं है।
2. प्रबन्ध के क्षेत्र में संलग्न व्यक्तियों के व्यवहार एवं कार्यप्रणाली के उचित मार्गदर्शन हेतु अभी तक भी कोई आचार-संहिताओं का निर्माण नहीं हुआ है। इसलिए प्रबन्धकों द्वारा इनका खुला उल्लंघन किया जा रहा है।
3. वर्तमान में सभी देशों के केन्द्रीय एवं औपचारिक संगठनों का गठन हुआ है। परन्तु अभी भी अधिकांश प्रबन्धक इसके सदस्य नहीं हैं, जबकि अन्य पेशों में शत-प्रतिशत अपने संगठन के सदस्य होते हैं।
4. आज का प्रबन्धक आत्मनिर्भरता के गुण का विकास नहीं कर सकता है। स्वतन्त्र रूप से कार्य न करके नौकरी को प्राथमिकता प्रदान करता है।
5. अन्य पेशों की भाँति प्रबन्ध में प्रवेश पाने वाले व्यक्तियों के लिए न्यूनतम योग्यता में एकरूपता का अभाव पाया जाता है।
6. प्रबन्धकों में सेवा उद्देश्यों की भावना नहीं है। आज भी प्रबन्धक अधिकाधिक लाभ कमाने हेतु कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवसायी भी उन्हीं प्रबन्धकों की नियुक्ति करते हैं, जो अधिकाधिक धन कमाकर धन देने में सक्षम हो।
7. प्रबन्धकीय ज्ञान की शिक्षण-प्रशिक्षण सुविधाएँ कम हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध के प्रशिक्षण के लिए व्यावहारिक अनुभव के प्रशिक्षण की सुविधा भी सीमित है।
8. प्रबन्ध शिक्षा में प्रवेश के लिए किसी भी प्रकार का रजिस्ट्रेशन अथवा लाईसेन्स की आवश्यकता भी नहीं होती है।
9. प्रबन्धकों का ग्राहकों या मुवकिलों से प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं हो पाता है और यदि होता भी है तो उन्हें पहचानना कठिन है।
10. प्रबन्ध का पेशा नहीं बनने के कारण लाभ की कुशलता का मापदण्ड भी है अर्थात् नियुक्ता, प्रबन्धकों की सफलता को लाभ के आधार पर ही आंका जाता है।

### (III) प्रबन्ध एक प्रणाली के रूप में (Management as a System) –

प्रबन्ध एक प्रणाली है। प्रणाली या तन्त्र का अर्थ सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न क्रियाओं या अंगों या उपतन्त्रों को एकत्रित या संयोजित करने से है। अन्य शब्दों में, किसी कार्य को करने का एक निश्चित ढंग या तरीका अथवा परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं या अंगों या उपतन्त्रों का समन्वित रूप ही प्रणाली है। **जे.ए. मोरटन के अनुसार**, “प्रणाली विभिन्न अंगों का संयोजन है जो किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु परस्पर मिलकर इकाई के रूप में परिणत होती है।”

इस प्रकार प्रणाली कार्य का एक स्वीकृत, मान्य, नियमित एवं सुव्यवस्थित तरीका है जो प्रबन्ध के तन्त्र के रूप में मानवीय प्रयत्नों को समन्वित या नियन्त्रित करता है ताकि सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकें।

**प्रणाली में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं : –**

1. प्रत्येक प्रणाली उद्देश्यों की होती है, जिसको पूरा करने के लिए प्रणाली के समस्त अंग सहयोग करते हैं।
2. प्रत्येक प्रणाली एक विस्तृत प्रणाली का अंग होती है।

3. प्रणाली विभिन्न घटकों का संकलन मात्र होती है जिसे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक सुत्र में पिरोया जाता है।
4. प्रणाली के विभिन्न घटकों के मध्य अन्तर्सम्बन्ध विद्यमान रहता है यदि किसी भी घटक में थोड़ा सा भी परिवर्तन हो जाए तो इसका शेष घटकों पर प्रभाव पड़ता है जिससे प्रणाली में भी परिवर्तन हो जाता है।
5. यह प्रशासन के एक तन्त्र और संगठन की सहायक होती है।
6. प्रणाली जटिल एवं गतिशील होती है क्योंकि यह उप-प्रणालियों का समूह होती है। इसके किसी एक भाग में तनिक परिवर्तन का अन्य भागों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है।
7. प्रत्येक प्रणाली एक वृहत् प्रणाली का हिस्सा होती है।
8. प्रत्येक प्रणाली में सूचनाएँ एकत्रित करने एवं प्रेषित करने की द्वि-मार्गीय सम्प्रेषण व्यवस्था होती है।
9. प्रत्येक प्रणाली की एक सीमा अर्थात् परिसीमा होती है जो उसे अपने बाह्य वातावरण से अलग होती है।
10. प्रणाली की सफलता या असफलता प्रतिपुष्टि के माध्यम से जांची जा सकती है। दूसरे शब्दों में, प्रणाली के घटक की सफलता की जांच उस घटक से अलग घटक की प्राप्ति से की जाती है। यदि आवश्यकता हो तो बदलती हुई मांग के अनुसार आगत में परिवर्तन किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रबन्ध एक प्रणाली है जो समाज द्वारा सृजित वातावरण में कार्य करती है। अन्य प्रणालियों की भाँति प्रबन्ध प्रणाली भी क्रमशः आगत, स्थानान्तरण प्रक्रिया, निर्गम एवं पुनर्निवेशन का युग्मन है।

**प्रणालियाँ दो प्रकार की होती हैं : -**

1. **बन्द प्रणाली (Close System)-** बन्द प्रणाली का तात्पर्य एक ऐसी प्रणाली से है, जिसमें सूचनाओं का आदान-प्रदान बन्द होता है, समस्त क्रियाओं पर प्रबन्धकों का नियन्त्रण रहता है एवं अपने वातावरण से न तो प्रभावित होती है और न उसे प्रभावित करती है।
2. **खुली प्रणाली (Open System)-** खुली प्रणाली का अर्थ एक ऐसी प्रणाली से है जिस पर प्रबन्धकों का पूर्ण नियन्त्रण नहीं रहता है। लेकिन अपने वातावरण से प्रभावित होती है तथा प्रभावित करती रहती है।

**(IV) प्रबन्ध-कला अथवा विज्ञान के रूप में (Management-An Art or A Science) -**

प्रबन्ध की प्रकृति में यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहा है कि प्रबन्ध एक कला है या विज्ञान अथवा दोनों। इसके प्रत्युत्तर में यह जानना होगा कि वर्तमान में प्रबन्ध का क्या स्वरूप है और परिस्थितियाँ हैं ? इसी प्रकार कला एवं विज्ञान दोनों का अर्थ एवं विशेषताएँ समझने के पश्चात् ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे कि प्रबन्ध एक कला है अथवा विज्ञान या दोनों।

प्रबन्ध की इस प्रकृति का अध्ययन निम्नलिखित तीन भागों में करते हैं-

- (A) प्रबन्ध-एक कला के रूप में,
- (B) प्रबन्ध-एक विज्ञान के रूप में,
- (C) प्रबन्ध-कला एवं विज्ञान दोनों के रूप में ।

**(A) प्रबन्ध-एक कला के रूप में (Management-As an Art)-** सामान्यतः किसी कार्य को सर्वश्रेष्ठ ढंग से करने की क्रिया को कला कहते हैं। अन्य शब्दों में, कार्य कैसे किया जाये और कार्य कैसे प्राप्त किया जाये की जानकारी देने को कला के नाम से जाना जाता है।

**जार्ज. आर. टैरी के शब्दों में,** "चातुर्य के प्रयोग से इच्छित परिणाम प्राप्त करना ही कला है।"

इस प्रकार इच्छित परिणाम की प्राप्ति के लिए चातुर्य, ज्ञान, अध्ययन, अनुभव एवं सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप में व्यावहारिक उपयोग करना ही कला है।

कला की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं –

1. कला व्यक्तिगत होती है, जिसे दिखाई जा सकती है, किन्तु हस्तान्तरित नहीं की जा सकती है।
2. यह इच्छित परिणाम की प्राप्ति के लिए चतुर्य, ज्ञान, अध्ययन एवं सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग बताती है।
3. कला की सफलता, व्यक्ति की व्यक्तिगत योग्यता, परिश्रम, लगन, अभ्यास एवं अनुभव पर निर्भर करती है।
4. इसे संचय करना असम्भव है।
5. यह व्यावहारिक ज्ञान है।
6. कला का उपयोग ठोस उद्देश्यों अथवा परिणामों की प्राप्ति के लिए किया जाता है।
7. यह सृजनात्मक है।
8. कला का सम्बन्ध मानवीय व्यवहार से होता है, जो परिस्थितियों के अनुरूप बदलता रहता है।
9. प्रबन्ध द्वारा पग-पग पर लिए जाने वाले निर्णयों में इसका ज्ञान, अभ्यास एवं चतुर्य मदद करता है।
10. कला का सम्बन्ध कार्य के निष्पादन से है।

**क्या प्रबन्ध कला है?** इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि कला की उपर्युक्त एवं अन्य विशेषताओं का अध्ययन किया जाएगा यह कहना उचित ही लगता है कि प्रबन्ध करना पूर्णतः कला है क्योंकि—

1. प्रबन्ध में पूर्व निर्धारित उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रबन्धक प्रबन्धकीय ज्ञान, अध्ययन, अनुभव एवं चतुर्य का उपयोग करता है।
2. प्रबन्ध में व्यावहारिक अनुभव का अधिक महत्त्व होता है।
3. प्रबन्ध कला का हस्तान्तरण कठिन है।
4. प्रबन्ध का सम्बन्ध मानवीय व्यवहार से होता है जो परिस्थितियों के अनुरूप चलता है।
5. प्रबन्ध कला का न तो संचय सम्भव है और न ही उपयुक्त है।
6. प्रबन्ध में सृजनात्मक का गुण होता है।
7. प्रबन्धक अपने ज्ञान एवं अभ्यास के आधार पर व्यवसाय की गहनतम समस्याओं को हल करता है।
8. प्रबन्ध में व्यक्ति का ज्ञान, अभ्यास, चतुर्य मदद करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रबन्ध एक कला है इस सम्बन्ध में पीटर एफ. ड्रकर ने कहा है कि, “प्रबन्ध व्यवहार (कला) है, न की विज्ञान।

**(B) प्रबन्ध—एक विज्ञान के रूप में (Management-As a Science)-** सामान्यतः विज्ञान एक क्रमबद्ध अध्ययन है जो कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध स्थापित करता है और अवलोकन तथा परीक्षणों पर आधारित होता है। **जार्ज आर. टैरी के शब्दों में,** “विज्ञान किसी भी विषय, उद्देश्य अथवा अध्ययन का सामान्य सत्यों के सन्दर्भ में संग्रहित एवं स्वीकृत व्यवस्थित ज्ञान है।”

इस प्रकार विज्ञान एक क्रमबद्ध, व्यवस्थित एवं संग्रहित ज्ञान होता है जो सत्य एवं तथ्यों पर आधारित होता है, जिन्हें अवलोकन एवं परीक्षण के द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है तथा सार्वजनिक रूप से लागू भी किया जाता है।

विज्ञान की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. यह किसी भी विषय का उद्देश्यपरक अध्ययन है।
2. विज्ञान ज्ञान का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है।
3. इसके अन्तर्गत कारण एवं परिणाम में सम्बन्ध पाया जाता है।
4. इसके सिद्धान्त, तथ्यों, अवलोकनों, परीक्षणों एवं अनुसंधानों पर आधारित होते हैं।



5. विज्ञान के सिद्धान्त सार्वभौमिक होते हैं।
6. विज्ञान-रूपी ज्ञान को अर्जित एवं हस्तान्तरित किया जा सकता है।
7. विज्ञान में वैज्ञानिक रीति का प्रयोग अति-महत्त्वपूर्ण होता है।
8. विज्ञान का अध्ययन के माध्यम से ज्ञान का वर्गीकरण सम्भव है।

**क्या प्रबन्ध विज्ञान है?** इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों का मत है कि प्रबन्ध एक नवीन एवं विकासमान विज्ञान है। इसलिए इसके सिद्धान्तों का अभी पूर्णतः विकास नहीं हो पाया है। किन्तु विशेषताओं को तर्क की कसौटी पर जाँच कर प्रबन्ध को विज्ञान की श्रेणी में रखा जा सकता है, क्योंकि—

1. जो भी सिद्धान्त उपलब्ध है, वे कारण-परिणाम, व्यापक प्रयोगों, अवलोकनों, परीक्षणों एवं व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित हैं।
2. ये सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं।
3. प्रबन्धकों द्वारा लिये जाने वाले निर्णय विश्लेषण, समीक्षात्मक विधि तथा परीक्षणों, के परिणाम हैं।
4. प्रबन्ध विज्ञान, ज्ञान, सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध संग्रह है।
5. प्रबन्धकीय ज्ञान को शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।
6. प्रबन्धकीय कार्य एवं निर्णयों हेतु वैज्ञानिक विधियाँ-गणितात्मक एवं सांख्यिकीय यन्त्रों एवं कम्प्यूटर्स आदि का प्रयोग किया जाता है।
7. विज्ञान की भाँति प्रबन्ध की विचारधारा एवं सिद्धान्त विभिन्न घटकों के मध्य कारण एवं परिणाम का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।
8. विज्ञान के द्वारा मानवीय परिणामों का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि प्रबन्ध कौन-सा विज्ञान है-शुद्ध या वास्तविक अथवा व्यावहारिक या आदर्श इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध कभी भी शुद्ध विज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि इसमें  $2+2=4$  दो यौगिकों के मिश्रण से एक निश्चित परिणाम होता है। इसके विपरीत प्रबन्ध व्यावहारिक विज्ञान है, क्योंकि—

1. इसका सम्बन्ध मनुष्यों से होता है।
2. प्रबन्ध के सिद्धान्त लचीले होते हैं।
3. प्रबन्ध परिस्थितिजन्य होता है।
4. प्रबन्ध अदृश्य एवं अमूर्त शक्ति है।
5. प्रबन्ध 'क्या होना चाहिए' पर जोर देता है।
6. प्रबन्ध व्यावहारिक ज्ञान, अनुभव एवं सूझबूझ का उपयोग कर सफल होने का प्रयास करता है।
7. प्रबन्ध सरल विज्ञान है, जो कठोर नियमों रहित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रबन्ध शुद्ध विज्ञान न होकर एक व्यावहारिक विज्ञान है। इस सम्बन्ध में टैरी एवं फ्रैंकलिन ने कहा कि, "यह वास्तव में एक सामाजिक विज्ञान है।"

(C) प्रबन्ध-विज्ञान एवं कला दोनों के रूप में (Management-As a Science and An Art Both)- निष्कर्षतः प्रबन्ध विज्ञान एवं कला दोनों हैं क्योंकि दोनों की विशेषताएँ या लक्षण प्रबन्धशास्त्र में विद्यमान हैं। विज्ञान एवं कला प्रबन्ध को पूर्णता देने का कार्य भी करते हैं। इसलिए रॉबर्ट एन. हिलकर्ट ने कहा कि, "प्रबन्ध क्षेत्र में विज्ञान एवं कला दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू हैं।" इसी प्रकार कार्लिसले ने तो यहां तक कह दिया कि, "विज्ञान एवं कला साथ-साथ चलते हैं।" कून्टज एण्ड ओ.डोनेल के अनुसार, "अत्यन्त उत्पादक कला इससे सम्बन्धित विज्ञान की जानकारी पर आधारित होती है। इस प्रकार विज्ञान एवं कला परस्पर अलग-अलग नहीं अपितु पूरक हैं।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रबन्ध की वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ तथा सिद्धान्त विज्ञान पक्ष को स्पष्ट करती है, मानवीय व्यवहार एवं क्रियान्वयन कला पक्ष को स्पष्ट करती है। चूँकि प्रबन्ध में दोनों पक्ष (वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ एवं सिद्धान्त और मानवीय व्यवहार तथा क्रियान्वयन) बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अतः प्रबन्ध विज्ञान एवं कला दोनों हैं।

यहां यह स्मरण रखना होगा कि प्रबन्ध एक सामाजिक विज्ञान है, भौतिक विज्ञान नहीं। विज्ञान एवं कला दोनों ही प्रबन्ध को पूर्ण ज्ञान तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। इसलिए प्रबन्ध विज्ञान एवं कला दोनों का संगम है, एक ही गाड़ी के दो पहिये हैं।

(V) प्रबन्ध-व्यक्तियों का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन (Management is the Development of Men, not the Direction of Things) - लारेन्स ए. एप्पले ने प्रबन्ध की प्रकृति बताते हुए कहा कि, "प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है, न कि वस्तुओं का निर्देशन।" प्रबन्ध व्यवस्था में भौतिक एवं तकनीकी संसाधनों की तुलना में मानवीय संसाधनों का महत्व अधिक है। इसलिए यदि इनका ठीक ढंग से विकास किया जाये तो बाकी सभी पहलुओं का प्रबन्ध स्वतः हो सकता है।

प्रबन्ध की प्रकृति के इस शीर्षक का अध्ययन दो भागों में विभाजित करके करते हैं—

- (A) प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है, एवं
- (B) न कि वस्तुओं का निर्देशन।

प्रत्येक शीर्षक का विवेचन इस प्रकार है—

(A) प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है (Management is the Development of Men)- अ व्यक्तियों के विकास का अर्थ उनकी योग्यताओं, गुणों, निपुणताओं एवं क्षमताओं आदि का विकास करने से है। परन्तु इनका विकास कैसे किया जाये ? इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध शिक्षण-प्रशिक्षण, स्थानान्तरण, पदोन्नति, पुनर्भ्यास, कार्य-विस्तार, कार्य संवृद्धि, कार्य एवं आय की सुरक्षा आदि के माध्यम से व्यक्तियों का विकास कर सकता है।

एप्पले ने निम्नलिखित कारणों से 'प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास' है, कहा है—

1. प्रबन्ध का केन्द्र-बिन्दु (Centre-Point of Management)- प्रबन्ध का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति/मानव है। वस्तुतः विश्व के समस्त साधन व्यक्तियों के लिए हैं, व्यक्ति उनके लिए नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति ही वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादक, सेवक एवं उपभोक्ता है। अतः प्रबन्ध में व्यक्तियों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है।
2. कार्य करना एक पसन्द (Likes Work)- मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, सामान्य व्यक्ति एक क्षण भी कार्य के बिना नहीं रह सकता है क्योंकि कार्य करने से उसे आनन्द की अनुभूति होती है। वह उत्पादन या अनुत्पादन अथवा रचनात्मक या विध्वंसात्मक कार्य करता है जो पूर्णतः उसकी प्रकृति एवं विकास की अवस्था पर निर्भर करता है। इस प्रकार अधिकांश व्यक्ति कार्यशील होते हैं बशर्तें उनको कुशल एवं सफल नेतृत्व प्रदान किया जाये।
3. गरिमा की पुनः स्थापना (Re-establish of Prestige)- प्रबन्ध के क्षेत्र में मानव शक्ति की गरिमा को पुनः स्थापित करने के लिए भी एप्पले ने प्रबन्धकों को 'व्यक्तियों का विकास' कहा है। व्यवसाय एवं उद्योग में व्यक्ति ही कच्चे-माल को पक्के-माल में परिवर्तित करते हैं, पूँजी पर लाभ कमाते हैं और ग्राहकों की आवश्यकतानुसार वांछित किस्म की वस्तुएँ तैयार कर उन तक पहुँचाते हैं। इसलिए यदि व्यक्तियों का विकास नहीं किया गया तो संस्था में पर्याप्त लाभ नहीं होंगे, ग्राहक सन्तुष्ट नहीं होंगे और न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन भी नहीं होगा।
4. क्षमता एवं आकांक्षा (Efficiency and Emotion)- प्रत्येक व्यक्ति दायित्व वहन करना चाहता है क्योंकि उसमें विकसित होने की आकांक्षाएँ छिपी हुई होती हैं। अतः उन छिपी हुई आकांक्षाओं को उभारने के लिए एवं उनकी क्षमता का विकास करने के लिए प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास करता है।
5. मानवीकरण (Humanatrition)- श्रम के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण, श्रम को उत्पादन के अन्य घटकों की भाँति क्रय-विक्रय की वस्तु को समाप्त करने की भावना जगाने के उद्देश्य से प्रबन्ध को व्यक्तियों के विकास के

रूप में परिभाषित किया है। अन्य शब्दों में, प्रबन्ध के सिद्धान्त, लक्ष्यों, उद्देश्यों, प्रक्रिया और शैलियों का मानवीकरण करने के लिए एप्पले ने प्रबन्ध को व्यक्तियों के विकास के रूप में स्पष्ट किया है।

6. **इच्छा (Desire)**- प्रत्येक व्यक्ति में कुछ कर दिखाने एवं कुछ प्राप्त करने की इच्छा होती है। इसलिए प्रबन्ध व्यक्तियों के विकास हेतु अधिकारों का प्रत्यायोजन करता है, उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध करता है, प्रबन्ध एवं लाभ में सहभागिता देता है और संगठन के विभिन्न स्तरों में व्यक्तियों को अपनी क्षमताओं के प्रयोग करने का अवसर देता है। इसलिए प्रबन्ध को 'मनुष्यों का विकास' करने के रूप में परिभाषित किया है।
7. **संगठनात्मक विकास (Organizational Development)**- सही अर्थों में विकास प्रबन्ध का उदाहरण है। इसलिए प्रबन्धक मनुष्यों के विकास द्वारा अपने कार्यों को भली प्रकार निष्पादित ही नहीं कर सकता है, अपितु अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाहन भी कर सकता है। इस प्रकार व्यक्ति ही संगठनात्मक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

(B) न कि वस्तुओं का निर्देशन (Not the Direction of Things)-

एप्पले ने व्यक्तियों के विकास का प्रबन्ध कहा है और वस्तुओं के निर्देशन को नहीं। लेकिन यह गलत है क्योंकि व्यक्तियों के विकास में भौतिक संसाधनों का निर्देशन स्वतः ही सम्मिलित हो जाता है। यदि गहराई से चिन्तन किया जाए तो व्यक्तियों का विकास करने के लिए भौतिक सामग्री का निर्देशन करने की आवश्यकता कम पड़ेगी और भौतिक संसाधनों का स्वतः ही सदुपयोग हो जायेगा। यही कारण है कि एप्पले ने व्यक्तियों के विकास को प्रत्यक्ष में और वस्तुओं के निर्देशन को परोक्ष रूप में प्रबन्ध कहा है। इसके विपरीत यदि प्रबन्ध वस्तुओं के निर्देशन को अधिक महत्त्व देता है एवं व्यक्तियों से भी वस्तु की तरह व्यवहार करता है तो संगठन में गुलामी प्रथा का बोल-बाला हो जाता है।

एप्पले ने प्रबन्ध को निम्नलिखित कारणों से वस्तुओं को निर्देशन नहीं कहा है –

1. व्यक्तियों के विकास में वस्तुओं का निर्देशन स्वतः ही शामिल है। इसलिए प्रबन्ध को वस्तुओं के निर्देशन देने का कार्य पृथक् से नहीं करना पड़ता है।
2. व्यक्तियों के विकास पर अधिक एवं वस्तुओं के निर्देशन पर कम बल देते हुए समस्त भौतिक संसाधनों एवं वस्तुओं की तुलना में मानवीय संसाधन अधिक महत्त्वपूर्ण है।
3. व्यक्ति उत्पादन का सजीव घटक है, जबकि वस्तुएँ (भौतिक साधन) निर्जीव घटक हैं। अतः व्यक्ति की उपेक्षा कर उत्पादन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।
4. भौतिक संसाधनों एवं वस्तुओं का सर्वोत्तम उपयोग मानवीय संसाधनों की प्रकृति पर निर्भर करता है।
5. व्यक्ति और उसका विकास ही प्रबन्ध का प्रथम एवं अन्तिम लक्ष्य है लेकिन हाँ, उसके विकास पर वस्तुओं का उपयोग निर्भर है।
6. व्यक्तियों के विकास पर ध्यान देने से ही कार्य संस्कृति का निर्माण होता है और राष्ट्र का चहुँमुखी विकास भी होता है।
7. व्यक्ति अर्थ-प्रधान नहीं है, भावना-प्रधान है।
8. वस्तुएँ साध्य नहीं हैं, साधन हैं।

(VI) **प्रबन्ध-एक समग्र विचार के रूप में (Management-As an Overall Thinking)** – प्रबन्ध एक समग्र विचार है क्योंकि यह प्रबन्धकीय कार्यों, प्रबन्ध के उच्च, अधिशासी एवं पर्यवेक्षीय स्तर पर विद्यमान है। प्रबन्ध संस्कृतिबद्ध विज्ञान हैं क्योंकि इसके व्यवहार सामाजिक परिवेश में प्रभावित होते हैं। इसलिए इसका व्यावहारिक रूप समाज में प्रचलित हुए बिना नहीं रहता है। प्रबन्ध की प्रकृति एक प्रत्यासी के रूप में भी हो गयी है क्योंकि जिस व्यावसायिक या अव्यावसायिक संगठन का प्रबन्ध करता है, उसका धन-सम्पत्ति संरक्षक, विकासकर्ता एवं वृद्धिकर्ता बन जाता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध एक समन्वयकारी शक्ति भी है तथा सभी स्तरों पर निर्णय भी लेने पड़ते हैं, जो प्रबन्ध का कार्य है।

प्रश्न बोध –

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा क्या है।
2. प्रबन्ध की सांयोगिक अवधारणा को समझाईयें।
3. क्या प्रबन्ध एक पेशा है? कारण सहित बताईयें।

निम्बन्धात्मक प्रश्न

1. प्रबन्ध का अर्थ स्पष्ट कीजिए और इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. प्रबन्ध की विभिन्न अवधारणाओं की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
3. प्रबन्ध कला है या विज्ञान अथवा दोनों। समझाईयें।
4. "प्रबन्ध व्यक्तियों को विकास है, न ही वस्तुओं का निर्देशन।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## अध्याय – द्वितीय

### प्रबन्ध प्रक्रिया

### [Management Process]

किसी भी कार्य को व्यवस्थित रूप से निष्पादित करने की क्रिया को प्रक्रिया कहा जाता है। जब इस प्रक्रिया को प्रबन्ध के कार्यों को सुव्यवस्थित ढंग से निष्पादित करने में प्रयोग किया जाये तो इसे प्रबन्ध की प्रक्रिया कहा जाता है।

प्रबन्ध करने हेतु नियोजन, संगठन, समन्वय, अभिप्रेरणा व नियन्त्रण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करना पड़ता है इसलिए इन प्रबन्धकीय कार्य को संयोजित रूप में करने के तरीके को ही प्रबन्ध की प्रक्रिया कहा जाता है।

जेम्स ए. स्टानर ने लिखा है कि हम प्रबन्ध को एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हैं क्योंकि सभी प्रबन्धक भले ही उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियों तथा चातुर्य में अन्तर क्यों न हो, अपने वांछित उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु कुछ निश्चित अर्न्तसम्बन्धी क्रियाओं में लगे रहते हैं। प्रबन्धकों की यह क्रियाएँ जिनमें वे कार्यरत रहते हैं, प्रबन्ध प्रक्रिया का निर्माण करती हैं।

इस प्रकार प्रबन्ध की प्रक्रिया प्रबन्ध के कार्यों की एक संयोजित श्रृंखला है। यह प्रक्रिया विवेकपूर्ण विचारात्मक एवं मानसिक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित होती है इस प्रक्रिया का निर्माण प्रबन्ध के अनेक अर्न्तसम्बन्धी कार्यों से होता है।

### प्रबन्ध प्रक्रिया की विशेषताएँ

#### (Characteristics of Management-Process) –

प्रबन्ध प्रक्रिया की विशेषताएँ अग्रलिखित हैं : –

1. **प्रबन्ध के कार्यों की प्रक्रिया** – सामान्यतः प्रक्रिया का आशय प्रबन्ध के कार्यों का निरन्तर निष्पादन से है। अन्य शब्दों में, संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सामान्यतः नियोजन, संगठन निर्देशन, समन्वय, अभिप्रेरण एवं नियन्त्रण आदि को सम्मिलित किया जाता है, जिनका निष्पादन क्रमबद्ध तरीके से किया जाता है। अतः प्रबन्धक को प्रमुख कार्य किसी संस्था में मानव, सामग्री, मुद्रा एवं प्रणाली आदि का उपभोग कर अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करना है ताकि उनका मानव समाज के लिए अधिक उपयोग हो सके।
2. **मानवीय प्रक्रिया** – प्रबन्ध मानवीय प्रक्रिया है इसका कारण यह है कि प्रबन्ध के सभी कार्य मानव के द्वारा पूरे किये जाते हैं। प्रबन्ध के मानवीय व्यवहार एवं प्रयासों के नियोजन, संगठन निर्देशन, समन्वय, अभिप्रेरण एवं नियन्त्रण से सम्बन्धित है। मानव एवं व्यवहार ही प्रबन्ध की मुख्य विषय-वस्तु है।
3. **सतत् प्रक्रिया** – प्रबन्ध एक सतत् एवं निरन्तर प्रक्रिया है क्योंकि इसमें एक के पश्चात् एक क्रिया या प्रबन्ध के एक कार्य के बाद दूसरा कार्य चलता रहता है। यह उस समय तक चलता रहता है, जब तक की प्रबन्धक या संस्थापक को निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो जाती है।
4. **सामाजिक प्रक्रिया** – प्रबन्ध समाज में चलने वाली प्रक्रिया है इसका कारण यह है कि सभी प्रबन्ध के कार्यों में व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों की पृष्ठभूमि विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। प्रबन्ध मानवीय संसाधनों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही अभिप्रेरित एवं नियन्त्रित करता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध को समाज के सभी वर्गों के हितों से सामन्जस्य रखते हुए कार्य करना होता है ताकि वह इन वर्गों में अपेक्षित सहयोग निरन्तर प्राप्त कर सके।
5. **निर्णय लेने की प्रक्रिया** – प्रबन्ध एक निर्णय लेने की प्रक्रिया है, क्योंकि इसमें प्रबन्धकों को नियोजन से नियन्त्रण तक के सभी कार्यों के निष्पादन में विभिन्न मुद्दों पर निर्णय लेने होते हैं। इसलिए वेन्स की मान्यता है कि प्रबन्ध एवं निर्णयन निरन्तर प्रक्रिया है।

6. **सार्वभौमिक प्रक्रिया** – प्रबन्ध-प्रक्रिया सार्वभौमिक या सर्वव्यापी होती है। इसका कारण यह है कि यह न केवल व्यावसायिक संगठनों/संस्थाओं में विद्यमान है अपितु अव्यावसायिक संगठनों/संस्थाओं (जैसे-परिवार, क्लब, मन्दिर, गिरजाघर, मस्जिद, गुरुद्वारा, सरकार, खेल, श्रम संघ, शिक्षण-संस्थाएँ, अस्पताल एवं सभी कार्यालयों) में व्याप्त है। यही नहीं, प्रबन्ध-प्रक्रिया प्रत्येक स्थान, देश-विदेश में भी लागू की जा सकती है।
7. **एकीकृत प्रक्रिया** – प्रबन्ध-प्रक्रिया एकीकृत होती है क्योंकि नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय, नियन्त्रण आदि कार्यों को एकीकृत या समन्वित करती है। ये सभी कार्य पृथक-पृथक एवं एकांकी रूप से निष्पादित नहीं किये जाते हैं।
8. **गतिशील प्रक्रिया** – प्रबन्ध-प्रक्रिया गतिशील भी होती है। इसका कारण यह है कि यह वातावरण से सम्बन्धित होने के परिणामस्वरूप सदैव सांयोगिक एवं परिस्थितिजन्य होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार तकनीकों, विधियों एवं सिद्धान्तों एवं निहित कदमों में परिवर्तन करना आवश्यक होता है।
9. **उद्देश्य-अभिमुखी प्रक्रिया** – प्रबन्ध-प्रक्रिया का प्रारम्भिक एवं अन्तिम बिन्दु उद्देश्यों का निर्धारण एवं परिणामों की प्राप्ति होता है। अतः संगठन के सभी व्यक्ति एवं उनकी क्रियाएँ उद्देश्य एवं परिणाम-अभिमुखी होती है। यदि प्रबन्ध-प्रक्रिया परिणामों के स्थान पर नियमों तथा कार्यविधियों में जकड़ जाती है तो संगठन की गतिशीलता अवरुद्ध हो जाती है।
10. **प्रभावोत्पादकता प्रक्रिया** – प्रबन्ध-प्रक्रिया प्रभावोत्पादक प्रक्रिया भी है। इसका कारण यह है कि प्रबन्धक अपने साथ कार्यरत लोगों/अधीनस्थों के व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयास करता है। इसके लिए वह अपनी स्थिति, क्षमता, योग्यता, पद, अधिकार-सत्ता एवं संसाधनों का उपयोग करता है। इसी प्रकार वह वित्तीय एवं अवित्तीय और सकारात्मक तथा नकारात्मक विधियों का उपयोग करके भी लोगों के व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयास करता है।

## प्रबन्ध की प्रक्रिया

### (Process of Management)

#### अथवा

#### प्रबन्ध के कार्य

किसी भी संस्था के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रबन्धक जो कार्य करते हैं और उसके लिए कदमों को अपनाते हैं तो उसे प्रबन्ध-प्रक्रिया में निहित कदम अथवा प्रबन्ध के कार्य कहते हैं। प्रबन्ध-प्रक्रिया में कदम या प्रबन्ध के कार्यों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किन्तु सामान्यतः प्रबन्ध के कार्यों को दो भागों में विभाजित करते हैं –

(I) मुख्य कार्य।

(II) सहायक कार्य।

प्रत्येक कार्य का विवेचन इस प्रकार है—

#### (I) मुख्य कार्य

1. **नियोजन**— नियोजन प्रबन्ध का प्राथमिक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह अन्य सभी कार्यों से अत्यधिक अन्तःसम्बन्धित है। बिना नियोजन के प्रबन्ध के अन्य कार्य सरलता एवं कुशलता से सम्भव नहीं किये जा सकते हैं। यही कारण है कि नियोजन को प्रबन्ध के कार्यों में सर्वोपरि स्थान मिलता है।

नियोजन भविष्य में क्या, कैसे, कब, किसे एवं किन साधनों के उपयोग से कार्य करना है, इसका पूर्व में निर्धारण करना है। अन्य शब्दों में, नियोजन प्रबन्ध का वह कार्य है जिसमें विभिन्न वैकल्पिक उद्देश्यों, नीतियों, पद्धतियों एवं कार्यक्रमों में से सर्वश्रेष्ठ का चुनाव किया जाता है। नाइल्स के शब्दों में, “नियोजन

किसी उद्देश्य को पूरा करने हेतु सर्वोत्तम कार्यपथ पर चुनाव करने एवं विकास करने की जागरूक-प्रक्रिया है।" यह वह आधार है जिस पर भावी प्रबन्ध के कार्य निर्भर करते हैं।

नियोजन कार्य के प्रमुख घटक या तत्व उद्देश्य एवं लक्ष्य, नीतियाँ, कार्यविधियाँ, विधि या रीति, नियम, कार्यक्रम, व्यूहरचना, प्रमाप, समय एवं बजट आदि हैं।

सभी संगठनों के लिए नियोजन प्रक्रिया एकसमान नहीं होती है क्योंकि उनके आकार एवं कार्यों में भिन्नता होती है। फिर भी प्रभावी नियोजन के लिए ये कदम उठाये जाते हैं— (i) उद्देश्यों का निर्धारण (ii) सूचनाओं का संग्रह एवं पूर्वानुमान (iii) नियोजन की मान्यताओं का निर्धारण (iv) विकल्पों की खोज (v) विकल्पों का मूल्यांकन करना (vi) सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन (vii) सहायक योजनाओं का निर्माण (viii) योजना का क्रियान्वयन (ix) अनुवर्तन आदि।

2. **संगठन**— सामान्यतः किसी कार्य को सम्पन्न करने हेतु कार्य एवं क्रियाओं का निर्धारण करने तथा उनको व्यक्तियों के मध्य बाँटने की प्रक्रिया को संगठन कहते हैं। अन्य शब्दों में, संगठन एक ऐसी प्रबन्ध-प्रक्रिया है जो आवश्यक कार्य एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है, व्यक्तियों के मध्य उनका विभाजन करती है, उन्हें अधिकार एवं दायित्व सौंपती है ताकि संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। संगठन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए ग्लूक ने कहा कि, "संगठन वह प्रबन्ध-प्रक्रिया है, जिसके द्वारा इकाइयों (विभागों) एवं कर्मचारियों के बीच कार्यों का विभाजन (श्रम विभाजन) किया जाता है, तत्पश्चात् इन इकाइयों एवं कार्यों को एक एकीकृत तन्त्र (समन्वय) के निर्माण के लिए सम्बद्ध किया जाता है।"

संगठन किसी भी संस्था का एक महत्वपूर्ण कार्य या तत्व होता है क्योंकि उसकी सफलता एवं स्थायित्वता में योगदान करता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि प्रबन्ध में संगठन का वही स्थान है, जो मानव शरीर में 'मेरूदण्ड' का होता है।

संगठन की प्रक्रिया में परस्पर ये कदम शामिल हैं— (i) उद्देश्यों का निर्धारण (ii) क्रियाओं का निर्धारण (iii) क्रियाओं का समूहीकरण (iv) कार्य सौंपना (v) अधिकारों का प्रत्यायोजन (vi) सम्बन्धों का निर्धारण एवं (vii) संसाधनों का निर्धारण आदि।

3. **समन्वय**—सामान्य शब्दों में, संस्था पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठन के विभिन्न विभागों, साधनों, क्रियाओं, विचारों तथा व्यक्तियों से तालमेल बैठाना ही समन्वय कहलाता है। अन्य शब्दों में, समन्वय एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक संस्था में कार्यरत विभिन्न विभागों, उप-विभागों एवं व्यक्तियों की क्रियाओं में समरूपता स्थापित की जाती है ताकि संस्था के लक्ष्यों को न्यूनतम प्रयासों एवं अधिकतम कुशलता के साथ प्राप्त किया जा सके। **डाल्टन ई. मैक्फरलैण्ड के शब्दों में, "समन्वय एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक प्रबन्धक अपने अधीनस्थों के समूह प्रयासों का एक क्रमबद्ध मॉडल विकसित करता है और सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु क्रियाओं में एकरूपता लाता है।"**

किसी भी संस्था के निर्बाध रूप से चलने के लिए, अच्छे मानवीय सम्बन्धों का विकास करने के लिए सुदृढ़ नियंत्रण एवं पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों को पूर्ण कुशलता के साथ पूरा कराने के लिए यह सामंजस्य अति-आवश्यक है। यही कारण है कि कून्ट्ज एण्ड ओ' डोनेल के कहा कि, "समन्वय प्रबन्ध का सार है।"

4. **निर्देशन**—सामान्यतः अधीनस्थों से कार्य करवाने की कला को निर्देशन या संचालन कहते हैं। अन्य शब्दों में, निर्देशन पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अधीनस्थों को कार्य के बारे में आदेश देना, हिदायतें, देना, गतिशील नेतृत्व प्रदान करना, मार्गदर्शन एवं पर्यवेक्षण करना है। **विलियम एच.न्यूमैन के अनुसार, "निर्देशन की प्रक्रिया एक अधिशाषी द्वारा अपने अधीनस्थों को जारी किये गये निर्देशों से सम्बन्ध रखती है, एवं यह संकेत देती है कि किसके द्वारा क्या किया जाना है।"**

निर्देशन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसलिए यह कहा जाता है कि व्यवसाय में निर्देशन युद्ध की मोर्चाबन्दी के समान है। इस कार्य का सम्बन्ध संसाधनों के उपयोग, विशेष प्रयत्नों को केन्द्रित करने के बिन्दुओं एवं व्यवसाय के आर्थिक जीवन में कठिनाइयों तथा विषमताओं के मध्य जीवित रहने के समान है। इस प्रकार उद्योग एवं व्यवसाय में निर्देश की वही आवश्यकता एवं महत्त्व है जो कि एक रेलगाड़ी में उसके गार्ड की, खेल में रेफरी की एवं फिल्म बनाने में उसके निर्देशक की होती है।

निर्देशन एक व्यापक शब्द है क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्प्रेषण, अभिप्रेरण, नेतृत्व, पर्यवेक्षण, आदेश-निर्देश, अधिकारों का प्रत्यायोजन एवं अनुशासन आदि सम्मिलित है।

5. **नियन्त्रण**— नियन्त्रण, एक प्रबन्ध प्रक्रिया है जिसमें वास्तविक परिणाम एवं वांछित परिणामों के बीच के अन्तर को समाप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं। अन्य शब्दों में, नियन्त्रण यह निर्धारित करता है कि क्या निष्पादित किया जा रहा है अर्थात् निष्पादन का मूल्यांकन और यदि आवश्यक हो तो सुधारात्मक उपाय अपनाना ताकि निष्पादन योजनानुसार हो। **जोसेफ मैसी के शब्दों में, "नियन्त्रण एक प्रक्रिया है जो वर्तमान निष्पादन की माप करता है तथा कुछ पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की दिशा में मार्गदर्शन करता है।"**

नियन्त्रण से प्रबन्धकीय कार्यों का कुशलतापूर्वक निष्पादन होता है। यही नहीं, यह सभी स्थानों पर महत्वपूर्ण है, जहां प्रबन्धक अधीनस्थों को अधिकारों का प्रत्यायोजन करते हैं एवं कर्तव्यों का निर्धारण करते हैं। इसीलिए जार्ज आर. टैरी ने कहा कि, "नियन्त्रण क्रियाओं को योजनानुसार सम्पन्न होने में सहयोग देता है और यह सुनिश्चित करता है कि उनकी दशा ठीक है एवं विभिन्न घटकों में सही अन्तर्सम्बन्ध बना हुआ है ताकि समन्वय की प्राप्ति हो सके।"

इस प्रकार नियन्त्रण एक सतत्, गतिशील एवं चरणबद्ध प्रक्रिया है। इसे निश्चित चरणों में सम्पन्न किया जाता है — (i) प्रमापों का निर्धारण करना (ii) वास्तविक निष्पादन का मूल्यांकन करना (iii) वास्तविक निष्पादन की पूर्व निर्धारित प्रमापों से तुलना करना, विचलनों का पता लगाना (iv) विचलनों के कारण खोजना (v) सुधारात्मक उपाय करना आदि।

## II सहायक कार्य (Subsidiary Function) —

1. **निर्णयन**— निर्णयन, प्रबन्ध की ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी उद्देश्य या वांछित परिणाम की प्राप्ति के लिए सजगतापूर्वक सर्वश्रेष्ठ मार्ग का चुनाव किया जाता है। अन्य शब्दों में, निर्णयन वांछित उद्देश्य पर पहुँचने के लिए उपलब्ध दो या दो से अधिक विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ के चयन की एक बौद्धिक प्रक्रिया है। मैक्फरलैण्ड के शब्दों में, "निर्णयन एक चयन प्रक्रिया है जिसमें एक अधिशाषी दी हुई परिस्थिति में क्या किया जाना चाहिए, के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है।"

आज की संस्थाओं में निर्णयन का महत्व सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन, कार्यक्रमों एवं गतिविधियों की सफलता तथा असफलता की पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है। इसलिए आर. एस. डार्वर ने कहा कि, "एक प्रबन्धक जीवन की सतत् निर्णय लेने की प्रक्रिया है।"

निर्णयन एक क्रमबद्ध प्रक्रिया है जिसमें अनेक महत्वपूर्ण कदम होते हैं, जैसे— (i) समस्या की पहचान करना (ii) समस्या का विश्लेषण करना (iii) विकल्पों का विकास करना (v) विकल्पों का मूल्यांकन करना (v) सर्वश्रेष्ठ विकल्पों का चयन करना आदि। इसी प्रकार कून्ट्ज एण्ड आ' डोनेल के अनुसार, प्रबन्धक का सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करते समय इन मापदण्डों का अनुसरण करना चाहिए— (i) अनुभव (ii) परीक्षण (iii) शोध एवं विश्लेषण (iv) निर्णय का क्रियान्वयन (v) अनुवर्तन आदि।

2. **नियुक्ति करना**— नियुक्तियाँ, प्रबन्ध का वह भाग है, जो मानवीय शक्ति का अन्य शक्ति स्रोतों से भिन्न प्रभावशाली नियन्त्रण एवं उपयोग से सम्बन्ध रखती है। इसके अन्तर्गत कर्मचारियों की भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, विकास, मूल्यांकन, वेतन एवं मजदूरी प्रशासन, स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा श्रम सम्बन्ध आदि अनेक कार्यों को शामिल किया जाता है। **थियोहेमन के शब्दों में, नियुक्तियों का कार्य अधीनस्थ प्रबन्धकों की भर्ती, चयन, विकास, प्रशिक्षण एवं क्षतिपूर्ति से सम्बन्ध रखने वाला कार्य है।**

संस्था के कार्यों का कुशलतापूर्वक सम्पादन के लिए प्रबन्धकों को आवश्यक कर्मचारियों की संख्या का पहले अनुमान लगाना आवश्यक है ताकि उचित चयन एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सके। परिणामस्वरूप उनमें कुशलता बढ़ेगी, योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति मिलेंगे, उनका भविष्य उज्ज्वल होगा और संस्था की ख्याति बढ़ेगी।

नियुक्तियाँ भी एक प्रबन्ध-प्रक्रिया है जिसमें अनेक कदमों को सम्मिलित किया जाता है, जैसे—(i) संस्था के उद्देश्यों, नीतियों एवं योजनाओं को ध्यान में रखकर पदों का नियोजन किया जाता है (ii) संस्था की वर्तमान में नियुक्त एवं मानव-शक्ति के प्रबन्ध तथा नियोजन पर विचार किया जाता है (iii) वर्तमान पदों की



नियोजन स्थिति तथा भावी नियुक्ति के पदों के नियोजन स्थिति का अवलोकन किया जाता है (iv) कार्यक्रम का नियन्त्रण एवं मूल्यांकन किया जाता है।

3. **नवाचार**—नवाचार का अर्थ किसी तकनीकी आविष्कार या नवीन अथवा श्रेष्ठतर उत्पादन तक ही सीमित नहीं है अपितु संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में योगदान कर सकने वाली किसी भी प्रबन्ध-प्रक्रिया से है जो संस्था में नवीनता का आभास दिलाती है। उद्यमशील या साहसिकता, नवाचार एवं सृजनात्मकता से सम्बन्धित होता है। इस सम्बन्ध में शुम्पीटर ने कहा कि, “उद्यमी वह व्यक्ति है जो अर्थव्यवस्था में नई बात को प्रस्तुत करता है।” उन्होंने आगे यह भी कहा कि, “उद्यमी वह व्यक्ति है जो किसी अवसर की पूर्ण कल्पना करता है और किसी वस्तु, नई उत्पादन विधि, नये कच्चे-माल, नये बाजार, अथवा उत्पादन के संसाधनों के नये संयोजन को अपनाते हुए अवसर का लाभ उठाता है।

आज के वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के युग में नवाचार, सृजनात्मकता एवं सृजनात्मक संगठन आदि का विशेष उपयोग एवं महत्त्व है। इसका कारण यह है कि संस्था की अस्तित्वता, सफलता, विकास-विस्तार, वैयक्तिक विकास एवं संगठन का नवीनीकरण सम्भव है। इन बातों के समर्थन में प्रबन्धशास्त्री पीटर एफ. ड्रकर का मत है कि, “नव-प्रवर्तन, उद्यमिता का विशिष्ट उपकरण है।

4. **प्रतिनिधित्व**—आज व्यावसायिक संगठन के सामाजिक उत्तरदायित्व बढ़ने के साथ-साथ प्रबन्ध के कार्यों में प्रतिनिधित्व कार्य भी बढ़ गया है। इसलिए प्रबन्धक संस्था के अनेक बाह्य पक्षकारों एवं संस्थाओं/संगठनों के साथ व्यवहार करते समय अपनी संस्था का प्रतिनिधित्व करता है। ये संस्थाएँ या पक्षकार उपभोक्ता, राजनेता, सरकारी अधिकारी, पूर्तिकर्ता, श्रम संघ, विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ, अन्य व्यावसायिक संस्थाएँ और स्थानीय समुदाय आदि हो सकते हैं।

प्रबन्धक को सभी पक्षकारों एवं संस्थाओं के साथ अच्छे सम्बन्धों का निर्माण करना होता है, उन्हें साथ सम्बन्ध बनाये रखना होता है, वार्तालाप करना होता है, समझौता करना होता है उनके साथ विचार गोष्ठियों का आयोजन कर संस्था के हिता को सुरक्षित करना होता है।

## प्रबन्ध का महत्त्व

### [Significance or Importance of Management]

प्रबन्ध के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए पीटर एफ. ड्रकर ने लिखा है कि, “प्रबन्ध प्रत्येक व्यवसाय में गतिशील एवं जीवन प्रदान करने वाला तत्व है इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पादन के साधन केवल साधन मात्र ही रह जाते हैं कभी उत्पादक नहीं बन पाते हैं।”

आधुनिक गत्यात्मक अर्थव्यवस्था में जहाँ उत्पादन का स्तर तथा प्रतियोगिता की भीषणता बढ़ती जा रही है, वही प्रबन्ध का महत्त्व “दिन दुगना रात चौगुना” बढ़ता जा रहा है। व्यवसाय चाहे छोटा हो या बड़ा प्रबन्ध का महत्त्व समान रहता है। वर्तमान युग में जहा उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है, वस्तुओं की अनेक किस्में प्रचलन में हैं एवं वस्तुओं का बाजार राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर चुका हो तथा व्यावसायिक संस्थाओं के बीच गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान हो, ऐसी दशा में अपनी संस्था को विजय दिलाने में प्रभावशाली प्रबन्ध की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है। इसलिए कहा जाता है कि, “कोई भी व्यवसाय स्वयं नहीं चल सकता चाहे वो कितना ही संवेग की स्थिति में क्यों न हो, उसे गति प्रदान करने के लिए नियमित उद्दीपन की आवश्यकता होती है। जिसके लिए आवश्यकता है व्यवसाय के मस्तिष्क की अर्थात्-प्रबन्ध।”

इसी प्रकार समाज में अनेक समस्याओं जैसे-कम उत्पादकता, गरीबी, बेरोजगारी, निम्न जीवन स्तर, वर्गसंघर्ष आदि का निवारण कुशल प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है इसके सन्दर्भ में अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जॉन ऑफ केनेडी ने कहा है कि, “हमारे समाज की मानवीय प्रक्रिया में प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह समय की आवश्यकताओं को पहचानने तथा मानवीय व भौतिक साधनों के प्रभावपूर्ण उपयोग से सभी व्यक्तियों के जीवन स्तर को सुधारने में सक्षम है।”

आधुनिक व्यावसायिक जगत में प्रबन्ध के बढ़ते हुए महत्त्व के कारणों को हम अग्रलिखित बिन्दुओं द्वारा और अधिक स्पष्ट कर सकते हैं -

1. **पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति** – प्रत्येक उपक्रम की स्थापना कुछ पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु की जाती है एवं इसी के आधार पर व्यावसायिक क्षमता का निर्धारण होता है। यदि उपक्रम का प्रबन्धक कुशल, योग्य, दूरदर्शिता एवं कल्पना के आधार पर प्रबन्धकीय कार्यों को करता है तो उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाती है।
2. **तीव्र प्रतिस्पर्द्धा पर विजय**– वर्तमान समय में तीव्र प्रतिस्पर्द्धा पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रबन्ध मानवीय संसाधनों की क्षमता का पूर्ण उपयोग करता है, उत्पादन करता है, बाजार अनुसंधान करता है, सरकारी नीतियों एवं प्रतिस्पर्द्धियों की नीतियों का अध्ययन करता है। यही नहीं, अतिरिक्त व्यूहरचना भी तैयार करता है।
3. **व्यक्तियों का विकास**– प्रबन्ध एक मानवीय क्रिया है। यह इनके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह प्रशिक्षण, पदोन्नति, कार्य-विस्तार, कार्यवृद्धि आदि तरीके अपनाकर कर्मचारियों का विकास करता है। इस सम्बन्ध में एप्पले ने कहा कि, “प्रबन्ध व्यक्तियों का विकास है .....।”
4. **न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन** – प्रबन्ध उत्पादन के संसाधनों में यथा-सम्भव समन्वय स्थापित करके न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन को सम्भव बनाता है। इसका कारण यह है कि–
  - (i) प्रबन्ध विभिन्न प्रकार के अपव्ययों को समाप्त करके उपलब्ध सीमित संसाधनों का अधिकतम विवेकपूर्ण एवं श्रेष्ठतम उपयोग करता है।
  - (ii) प्रबन्ध संसाधनों को एकत्रित करके, सर्वोत्तम विकल्प का चयन करके, कर्मचारियों को अभिप्रेरित करके उत्पादन करता है।
5. **सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह** – प्रबन्ध समाज के विभिन्न पक्षकारों के प्रति दायित्व का निर्वाह करने के लिए उनसे निरन्तर सम्पर्क बनाये रखता है। उनके हितों का मूल्यांकन करता है, सभी के हितों में सामंजस्य स्थापित करता है और उनके हितों की पूर्ति में व्याप्त कमियों का पता लगाकर दूर करने हेतु आवश्यक कदम उठाता है।
6. **बेरोजगारी की समस्या का निवारण** – प्रबन्ध में श्रम विभाजन सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है जिससे बहुत कुछ हद तक बेरोजगारी की समस्या का निवारण होता है। संगठनों में समुचित विकास-विस्तार द्वारा बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। यही नहीं, उपक्रमों में नवाचार कार्यक्रमों को लागू करके और श्रम-प्रधान प्रौद्योगिकी का कार्यकुशल उपयोग करके प्रबन्ध रोजगार के अवसरों को बढ़ा सकता है।
7. **उत्पादकता में वृद्धि**– प्रबन्ध उत्पादन के संसाधनों में समन्वय स्थापित करके उत्पादकता में वृद्धि को सम्भव बनाता है। इसके लिए वह अपव्ययों को समाप्त कर संसाधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करता है, नियोजन के माध्यम से सर्वोत्तम विकल्प का चयन करता है और कर्मचारियों को अभिप्रेरित तथा उन पर नियन्त्रण करके उत्पादकता में वृद्धि करता है।
8. **वैज्ञानिक एवं तकनीकी परिवर्तनों का लाभ**– प्रबन्ध दिन-प्रतिदिन नई-नई विधियों, यंत्रों का मितव्ययी तरीके से कार्य करने का रास्ता सुझाते हैं, बेरोजगारी, कार्य मुक्ति एवं छँटनी की समस्याओं का समाधान करते हैं। इसके अतिरिक्त नई एवं परम्परागत कार्यविधियों तथा पद्धतियों में उचित समन्वय स्थापित करके लाभ उठाया जा सकता है।
9. **कार्यक्षमता का पूर्ण उपयोग**– प्रबन्ध एक शक्ति है जो संसाधनों के अपव्यय में कमी करते हुए उनकी पूर्ण क्षमता का उपयोग कर लाभ उठाता है। वर्तमान में कार्य क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिए निम्नलिखित विधि में तकनीकों एवं सिद्धान्तों का उपयोग करता है –
  - (i) शोध एवं विकास कार्यों की ओर अधिक ध्यान देना।
  - (ii) उपक्रम के उद्देश्यों को अधोगामी रूप में विभिन्न इकाइयों, प्रबन्धकों, उत्पादों एवं कर्मचारियों के उद्देश्यों को अधोगामी रूप में परिवर्तन करना।
  - (iii) समय एवं गति अध्ययन के द्वारा अनावश्यक गतियों को समाप्त कर समय तथा थकान में कमी करना।

10. **व्यवसाय का कुशल संचालन**—व्यवसाय को बिना किसी बाधा के कुशलतापूर्वक चलाने के लिए प्रबन्ध का अन्य कोई विकल्प नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रबन्ध भविष्य का विश्लेषण करता है, होने वाले परिवर्तनों का अनुमान लगाता है और उनके प्रभावों का मूल्यांकन करता है। इसी प्रकार परिणामों का मूल्यांकन करता है और सम्बद्ध वर्गों के हितों का संवर्द्धन करता है।
11. **सन्तुलित विकास**—प्रभावी प्रबन्ध संसाधनों की खोज करता है, इनके प्रयोग की व्यूहरचना तैयार करता है, पिछड़े हुए क्षेत्रों की खोज करता है और इन क्षेत्रों में नये-नये संगठन स्थापित करता है। परिणामस्वरूप आधारभूत सुविधाओं के प्रबन्ध संगठनों एवं समाज को लाभ होता है।
12. **प्रभावकारी संगठन-संरचना का निर्माण**— कुशल प्रबन्ध से प्रभावकारी संगठन-संरचना का निर्माण किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इसके द्वारा संस्था के कर्मचारियों में कार्य के दोहराव को रोका जा सकता है और एक-दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप को रोका जा सकता है। यही नहीं, आपसी सम्बन्धों को निर्धारित एवं नियन्त्रित भी किया जा सकता है।
13. **सुदृढ़ औद्योगिक सम्बन्ध**— आज औद्योगिक समस्याओं में हड़ताल, तोड़फोड़ काम रोको आन्दोलन, घेराव, आक्रामक सौदेबाजी, दबाव तथा औद्योगिक आतंक आदि सामान्य बातें हो गई हैं। किन्तु प्रबन्ध, प्रजातान्त्रिक प्रबन्ध अवधारणा का उपयोग कर, लाभ भागिता देकर समस्या का निदान करके सुदृढ़ औद्योगिक सम्बन्ध स्थापित करता है।
14. **सामाजिक जीवन-स्तर में वृद्धि** — कुशल प्रबन्ध देश के संसाधनों का अधिकाधिक मितव्ययी उपयोग करता है, उपभोक्ता को सस्ती कीमतों पर माल उपलब्ध करता है, नवीन तकनीकों एवं विधियों को अपनाता है जिससे कम लागत पर अच्छी किस्म का अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है एवं समाज के लोगों को रोजगार प्रदान करता है। इस सबके परिणामस्वरूप लोगों के जीवन-स्तर में वृद्धि होती है।
15. **भौतिक संसाधनों का सदुपयोग** — प्रत्येक राष्ट्र के पास अपने अनेक भौतिक संसाधन होते हैं, जैसे—भूमि, वन, समुद्र, नदियाँ, खनिज प्रदार्थ, पशु सम्पदा आदि। प्रभावकारी प्रबन्ध इन संसाधनों का देश के हित में उपयोग कर सकता है। भारत में भी ऐसे विविध भौतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। कुशल प्रबन्धकीय सेवाएँ इन संसाधनों का देश के हित में उपयोग कर सकती हैं और देश को प्रगति की ओर ले जा सकती हैं।
16. **मानव संसाधनों का सदुपयोग**— सभी प्रबन्ध विशेषज्ञों का यह दृढ़ विश्वास है कि मानव एक विशिष्ट प्रकार का संसाधन है जो देश के विकास में अतिविशिष्ट भूमिका निभाता है। कुशल प्रबन्ध इस संसाधन का उचित ढंग से उपयोग करके राष्ट्रीय विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।
17. **पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन** — सभी देशों में पूँजी निर्माण होता है, किसी में कम तो किसी में ज्यादा। विकासशील राष्ट्रों में पूँजी निर्माण की दर कम होती है। इसका कारण यह है कि वहाँ के लोगों की आय कम होने से बचत भी कम होती है। दूसरी ओर बचत के विनियोग के रास्ते भी सीमित ही होते हैं। कुशल प्रबन्ध विनियोग के अवसर उपलब्ध करता है। वह इसी बचत को बैंकों व व्यवसाय के माध्यम से विनियोजित कर अधिक रोजगार उपलब्ध करता है। इससे आय, बचत एवं विनियोग का क्रम बना रहता है। इस प्रकार कुशल प्रबन्ध पूँजी निर्माण को प्रोत्साहित कर अर्थव्यवस्था के निरन्तर विकास में सक्रिय रूप से योगदान देता है।
18. **राष्ट्रीय योजनाओं में योगदान** — कुशल प्रबन्ध राष्ट्रीय योजनाओं के लक्ष्यों की प्राप्ति में भी महत्त्वपूर्ण रूप से योगदान देता है। यह योजनाओं की प्राथमिकताओं के अनुरूप उद्योगों का विकास एवं विस्तार करता है। यह सामाजिक योजनाओं यथा शिक्षा, रोजगार, जनसंख्या नियन्त्रण, स्वास्थ्य आदि में योगदान देता है। कुशल प्रबन्ध इन आर्थिक-सामाजिक योजनाओं में सहयोग देकर राष्ट्रीय योजनाओं के लक्ष्यों की प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
19. **देश की समृद्धि** — महान् अर्थशास्त्री शुम्पीटर ने प्रबन्ध एवं साहसी को 'विकास के इन्जन' की संज्ञा दी है। वास्तव में प्रबन्ध देश में समृद्धि का वाहक है। वह देश के साधनों का सदुपयोग करता है, रोजगार में अभिवृद्धि करता है, पूँजी तथा मानवीय संसाधनों को उत्पादक कार्यों में लगाता है। इन सबका अन्ततोगत्वा परिणाम देश की समृद्धि होता है।

## भारत के सन्दर्भ में प्रबन्ध का विशेष महत्त्व –

हमारे देश के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि “भारत धनी राष्ट्र है जिसमें निर्धन लोग रहते हैं।” वस्तुतः भारत के पास पर्याप्त मात्रा में भौतिक संसाधन हैं, किन्तु देश के विकास की गति धीमी है। भारत में प्रभावकारी प्रबन्ध के महत्त्व को अनेक अतिविशिष्ट व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर स्वीकार किया जाता रहा है। भारत रत्न से सम्मानित स्व. श्री जे.आर.डी. टाटा ने प्रबन्ध के महत्त्व के सन्दर्भ में कहा कि “देश के आर्थिक विकास के लिए कुशल प्रबन्ध की नितान्त आवश्यकता है।”

हिन्दुस्तान लीवर लि. के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री पी. एल. टण्डन ने प्रबन्ध के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि “हम देख चुके हैं कि श्रम, पूँजी तथा कच्चे माल से स्वतः ही आर्थिक विकास नहीं होता है। इसके लिए प्रबन्धकीय ज्ञान की आवश्यकता होती है जिससे अधिकाधिक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। जहाँ पर साधनों का अच्छा प्रबन्ध हुआ है वहाँ अच्छे परिणाम भी प्राप्त हुए हैं।”

### भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के लिए प्रबन्ध का महत्त्व निम्न विशिष्ट कारणों से है –

1. भारत में करोड़ों लोग रोजगार की प्रतीक्षा में हैं। इन्हें रोजगार प्रदान करने के लिए कुशल प्रबन्ध की आवश्यकता है।
2. भारत में प्रति व्यक्ति आय अन्य राष्ट्रों की तुलना में बहुत ही कम है। जापान, जर्मनी, अमेरीका तथा कनाडा की तुलना में भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय अत्यन्त कम है। इसे बढ़ाना है तो प्रभावकारी प्रबन्ध की सेवाएँ अपरिहार्य हैं।
3. भारत में आवश्यक आवश्यकता की वस्तुओं की कमी है। चीनी, कपड़े, घरेलू विद्युत उपकरणों, खाद्य वस्तुओं की भी आपूर्ति अपर्याप्त रहती है। इनकी पूर्ति में प्रबन्ध की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।
4. भारत विदेशी व्यापार में पिछड़ा हुआ है। इसमें सफलता पाने के लिए कुशल प्रबन्धकों की सेवाएँ आवश्यक हैं।
5. देश में स्वदेशी तकनीक का विकास करने तथा विदेशी तकनीक को आवश्यकतानुसार ढालने में प्रभावकारी प्रबन्ध की भूमिका सदैव बनी रहेगी।
6. राजकीय उपक्रम तथा सहकारी उपक्रम देश में प्रबन्धकीय अकुशलता के पर्याय बन चुके हैं। इनको नवजीवन देने के लिए भी प्रबन्धकीय कुशलता पर ध्यान दिया जाना चाहिए।
7. औद्योगिक विवादों की रोकथाम एवं निपटारे के लिए।
8. देश में औद्योगिक प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए।
9. परम्परागत व्यवसायियों को पेशेवर प्रबन्ध के रूप में विकसित करने के लिए।
10. विश्व के अन्य देशों की तुलना में व्यवसाय की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति का विकास करने के लिए।
11. वस्तुओं के नवाचार एवं नवप्रवर्तन को प्रोत्साहित करने तथा अपनाने के लिए।
12. वातावरण से प्रभावकारी समन्वय स्थापित करने के लिए।
13. संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था में संकटों (विद्युत संकट, कच्चा माल संकट, विदेशी मुद्रा संकट आदि) का समाधान करने के लिए।
14. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार रूप देने के लिए।

### प्रबन्धकीय भूमिकाएँ (मिन्टज़बर्ग)

#### (Managerial Roles (Mintzberg))

प्रबन्धकीय भूमिका विचारधारा इस शताब्दी के सातवें दशक की देन है। इस विचारधारा को प्रचारित करने का श्रेय मेकगिल विश्वविद्यालय के प्रो. हेनरी मिन्टज़बर्ग को दिया जाता है। इन्होंने अपने सहकर्मियों के साथ पाँच बड़ी औद्योगिक कम्पनियों के पाँच मुख्य कार्यकारी प्रबन्धकों की क्रियाओं का दो वर्षों तक उनकी भूमिका का अध्ययन किया। प्रो.

मिन्टज़बर्ग ने उनकी क्रियाओं का गहन अवलोकन किया तथा उनके साथ भेंटवार्ताएं भी की और निष्कर्ष निकाला कि प्रबन्धक वास्तव में परम्परागत प्रबन्धकीय कार्यों—नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय एवं नियन्त्रण आदि करने के बजाय विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को करने में व्यस्त रहते हैं।

प्रो. मिन्टज़बर्ग ने प्रबन्धकों के कार्यों के सम्बन्ध में ये बातें बतायीं—

1. **क्रियाओं का सम्पन्न** — प्रबन्धक कार्य के दौरान जिन क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं, वे उनकी 'भूमिकाएँ' हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि भूमिका का तात्पर्य किसी व्यक्ति के व्यवहार प्रारूप एवं कई व्यक्तियों के व्यवहारों से संगठित समूहों से है, जिसकी आशा उससे एवं उनसे सामाजिक इकाई के दौरान की जाती है।
2. **साधन**—प्रबन्धक की भूमिकाएँ ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा प्रबन्ध के परम्परागत कार्य नियोजन, संगठन एवं नियन्त्रण आदि किये जाते हैं। इसमें भूमिकाओं के अनेक रूप होते हैं, जैसे—कार्यो, कर्तव्यों, दायित्वों एवं कार्यभार आदि और उनके कार्यों के निष्पादन में सहायक भी होती है।
3. **सहायक एवं पूरक**—प्रबन्ध का कार्यात्मक दृष्टिकोण एवं भूमिका—निर्वाह दृष्टिकोण परस्पर सहायक एवं पूरक है।
4. **अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों का निर्माण** — मिन्टज़बर्ग ने अपना यह मत भी प्रकट किया कि सभी प्रबन्धकों को संगठनात्मक इकाई में औपचारिक सत्ता एवं पद मिलने के कारण अपने अधीनस्थों और समान पद वाले प्रबन्धकों आदि के साथ अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों का निर्माण हो जाता है। परिणामस्वरूप प्रबन्धकों को सूचनात्मक एवं निर्णयात्मक रूप से भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है।

प्रो. मिन्टज़बर्ग ने अपने अध्ययन को निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित किया —

1. संस्था में सभी प्रबन्धकों को औपचारिक अधिकार सत्ता प्राप्त होती है और उनकी संस्था में एक स्थिति होती है।
2. वही अधिकार सत्ता एवं स्थिति उन्हें अपने अधीनस्थों एवं सहकर्मियों के साथ अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों का निर्माण करने में सहायता करते हैं।
3. अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों के साथ—साथ अधिकार सत्ता एवं स्थिति ही प्रबन्धकों के लिए अनेक सम्बन्धित भूमिकाएँ भी उत्पन्न करती है।

प्रो. मिन्टज़बर्ग ने अपने अध्ययन के आधार पर यह बताया कि प्रबन्धक 10 प्रकार की भूमिकाओं का निवाह करते हैं। उन्होंने इन भूमिकाओं का एक प्रतिरूप भी तैयार किया जिसे उन्होंने 'प्रबन्धकीय भूमिका पुंज' का नाम दिया।

मिन्टज़बर्ग के अनुसार "प्रत्येक प्रबन्धक 10 सम्बन्धित भूमिकाओं का निर्वाह करता है। उन्होंने इन भूमिकाओं का निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया है—

- (I) अन्तवैयक्तिक भूमिकाएँ।
- (II) सूचनात्मक भूमिका।
- (III) निर्णयात्मक भूमिका।

मिन्टज़बर्ग ने यह अध्ययन इस मान्यता के आधार किया था कि सभी प्रबन्धकों को संस्था में औपचारिक अधिकार प्राप्त होते हैं तथा सभी की संस्था में एक स्थिति भी होती है। वही अधिकार एवं स्थिति उसे अधीनस्थों एवं सह-कर्मियों के साथ आपसी संबंधों के निर्माण में सहायता करते हैं। इस संबंधों के साथ साथ अधिकार एवं स्थिति ही प्रबन्धकों के लिये विभिन्न किन्तु सम्बन्धित भूमिकाएँ भी उत्पन्न करती हैं। इन सभी भूमिकाओं की संक्षेप में विवेचना इस प्रकार है।

- (I) **अन्तवैयक्तिक भूमिकाएँ** — सभी प्रबन्धकों को संस्था में अपने औपचारिक अधिकार, सत्ता, पद एवं स्थिति के कारण वे न केवल भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं अपितु अधीनस्थों एवं सहकर्मियों से अन्तवैयक्तिक सम्बन्ध भी बनाते हैं एवं उनको बनाये रखना भी पड़ता है। इसलिए सभी प्रबन्धकों को निम्नलिखित भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है —

1. **अध्यक्षय भूमिका** – प्रत्येक प्रबन्धक को अपनी संस्था का अध्यक्ष या मुखिया होने के कारण अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है, जैसे-वैधानिक प्रपत्रों पर हस्ताक्षर, अतिथियों एवं आगन्तुकों का स्वागत, संस्था के समारोहों एवं सामाजिक समारोहों में जाना ही नहीं पड़ता है अपितु अध्यक्षता भी करनी पड़ती है।
  2. **नेता की भूमिका** – प्रत्येक प्रबन्धक को संगठनात्मक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपने अधीनस्थों को प्रोत्साहित, प्रभावित एवं अभिप्रेरित की भूमिका का भी निर्वाह करना पड़ता है। यही नहीं, वे अपनी अधिकारसत्ता, समन्वय, तकनीकों तथा अभिप्रेरण विधियों द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा संगठन के लक्ष्यों में एकीकरण भी करना पड़ता है।
  3. **सम्पर्क-अधिकारी की भूमिका** – प्रत्येक प्रबन्धक को सम्पर्क- अधिकारी के रूप में भी कई भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है ताकि सूचनाओं का आदान-प्रदान होता रहे। इसके लिए संस्था के भीतर एवं बाह्य खबर देने वाले पक्षकार से सम्पर्क करना पड़ता है, लोगों के साथ मिलन-सारिता बढ़ानी पड़ती है, व्यक्तिगत सभाएँ आयोजित करनी पड़ती है और अन्य विभागों के प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है।
- (II) **सूचनात्मक भूमिकाएँ**— प्रो. मिन्टज़बर्ग का कहना है कि संस्था के सभी प्रबन्धक विभिन्न सूचनाओं, तथ्यों, ज्ञान का संग्रहण एवं उनका वितरण करने की भूमिका का निर्वाह करते हैं क्योंकि वे अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं। फलस्वरूप उन्हें संगठन का स्नायु केन्द्र माना जाता है। इसलिए उनकी भूमिकाएँ इस प्रकार की देखी जा सकती हैं –
1. **प्रबोधक की भूमिका**—प्रत्येक प्रबन्धक को प्रबन्धकीय कार्यों का निष्पादन करने, संस्था एवं उसके वातावरण को समझने के लिए विभिन्न सूचनाओं की आवश्यकता होती है। इसके लिए वे विभिन्न स्रोतों का उपयोग करते हैं, जैसे- वातावरण का अध्ययन एवं विश्लेषण, उपभोक्ताओं के व्यवहार का अध्ययन, प्रतिस्पर्द्धियों की योजनाओं एवं व्यूहरचनाओं की जानकारी एवं खबर देने वाले व्यक्तियों से सम्पर्क आदि। इनके अतिरिक्त वह अपने सह-प्रबन्धकों, अधिकारियों, अधीनस्थों एवं अन्य सम्पर्क सूत्रों से भी जानकारी कर सकते हैं।
  2. **प्रसारक की भूमिका**—सूचनात्मक भूमिकाओं के अन्तर्गत प्रबन्धक एकत्रित सूचनाओं को अपने अधीनस्थों तथा सम्बन्धित इकाइयों को वितरित एवं प्रसारित भी करते हैं। इसके लिए विभिन्न उपायों एवं आधुनिक सम्प्रेषण तकनीकों का उपयोग करते हैं, जैसे-पत्र, सभा, टेलीफोन, मोबाइल फोन, फ़ैक्स, इन्टरनेट एवं ई-मेल आदि।
  3. **प्रवक्ता की भूमिका**—प्रत्येक प्रबन्ध प्रवक्ता के रूप में भी भूमिका का निर्वाह करता है। इसके लिए वह संस्था के बाहर व्यक्तियों एवं संस्थाओं को सूचनाएँ उपलब्ध कराता है। ये सूचनाएँ संस्था की योजनाओं, उद्देश्यों, लक्ष्यों, कार्यक्रमों, नीतियों, परिणामों/उपलब्धियों और अन्य मामलों आदि से सम्बन्धित होती हैं। इस भूमिका के निर्वाह हेतु विज्ञापन, साहित्य वितरण, अंशधारियों की सभा आयोजित करते हैं और वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं।
- (III) **निर्णयात्मक भूमिकाएँ**—संस्था के सभी प्रबन्धक अन्तवैयक्तिक सूचनात्मक भूमिकाओं के साथ निर्णयात्मक भूमिकाओं का भी निर्वाह करते हैं। इसके अन्तर्गत वे विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रबन्धक निम्नलिखित भूमिकाएँ करते हैं –
1. **उद्यमी की भूमिका**—प्रत्येक प्रबन्धक उद्यमी या साहसी की भूमिका का भी निर्वाह करता है। इसके अन्तर्गत वह अपने संगठन/संस्था के लिए अनेक खोज करता है, नये विचार लाता है, सम्भावनाओं, अवसरों एवं खतरों का पता लगाता है। इसके तत्पश्चात् उनके अनुरूप परिवर्तनों एवं सुधारों को लागू करता है।
  2. **उपद्रव-निवारक की भूमिका**—प्रबन्ध संस्था में उपद्रव-निवारक की भूमिका का भी निर्वाह करता है। सामान्यतः संस्थाओं में झगड़े, उपद्रव, उत्पाद, मनमुटाव, संघर्ष, अशान्ति, हड़ताल, ऊर्जा संकट, अनुबन्ध खण्डन के दुष्प्रभाव, सामग्री एवं वित्तीय संकट आदि देखने को मिलते हैं। प्रबन्धक इन समस्याओं एवं संकटों का समाधान करने हेतु आवश्यक निर्णय लेते हैं और उसे लागू भी करते हैं।

3. **संसाधन आवंटन की भूमिका**—संस्था का प्रत्येक प्रबन्धक सीमित संसाधनों का अधिकतम उपयोग करने हेतु संसाधन आवंटन के रूप में निम्नलिखित भूमिकाएँ निर्वाह करता है—

- (i) संसाधनों की भावी आवश्यकताओं का पता लगाना।
- (ii) वित्त, कच्चे-माल, यन्त्र एवं अन्य आपूर्ति आदि के बारे में निर्णय लेना।
- (iii) विभिन्न विभागों की संसाधन-प्राथमिकताएँ निश्चित करना।
- (iv) संसाधन बजट तैयार करना।
- (v) संसाधनों के भावी संकट का अनुमान लगाना।

इस प्रकार प्रबन्धक संसाधन आवंटक के रूप में संस्था के संसाधनों को कब, क्यों, कैसे एवं किसके लिए खर्च करने सम्बन्धी निर्णय लेता है।

4. **वार्ताकार की भूमिका** — यहां वार्ताकार का आशय समझौता वार्ताकार से है। संस्था का प्रत्येक प्रबन्धक वार्ताकार के रूप में विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों, जैसे—श्रम संघ, ग्राहक, सरकार, पूर्तिकर्ता एवं अन्य एजेन्सियों आदि के साथ आपसी मामलों पर बातचीत करता है, सौदेबाजी करता है एवं समझौता करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रो. मिन्टजबर्ग की उपर्युक्त 10 भूमिकाओं से संस्था एवं प्रबन्धकों को अनेक लाभ होते हैं, जैसे—प्रबन्धकों को विभिन्न क्रियाओं एवं उन क्रियाओं में आपसी सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है, प्रबन्धक समूह प्रभावी कार्य करने में सक्षम हो जाते हैं और समय प्रबन्ध का महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है।

**प्रश्न बोध —**

**लघूरात्मक प्रश्न**

1. प्रबन्ध की प्रक्रिया को समझाईये।
2. प्रो. मिन्टजबर्ग के अध्ययन की मान्यताएँ बताईये।
3. प्रबन्धकों की सूचनात्मक भूमिकाओं को स्पष्ट कीजिए।
4. भारत में कुशल प्रबन्ध की आवश्यकता के कारण बताईये।

**निम्बन्धात्मक प्रश्न**

1. प्रबन्ध प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं ? प्रबन्ध प्रक्रिया की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. प्रबन्ध प्रक्रिया से संबंधित विभिन्न कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. प्रबन्धकों द्वारा संस्था में निर्वाह की जाने वाली भूमिकाओं की विवेचना कीजिए।
4. आधुनिक अर्थव्यवस्था में प्रबन्ध के महत्त्व की विवेचना कीजिए।

**अध्याय - तृतीय**  
**प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्र**  
**[Functional Area of Management]**

आधुनिक युग विशिष्टीकरण का युग है। इसलिए उत्पादन के संसाधनों का सर्वोत्तम एवं कुशलतम उपयोग हेतु संस्था के कार्यों को विशिष्टीकरण के आधार पर कुछ वर्गों एवं विभागों में बाँटा जाये। यह विभाजन इसलिए भी आवश्यक है कि न तो समस्त कार्य एक व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किये जा सकते हैं और न ही वह सभी कार्यों में दक्ष हो सकता है। इस विभाजन को ही 'प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्र' के नाम से जाना जाता है।

हैनरी फेयोल ने क्रियात्मक क्षेत्रों के कार्यों को छः भाग में विभाजित किया है तो उर्विक ने पांच कार्य बताये हैं। जबकि इंग्लैण्ड ने शिक्षा मंत्रालय की एक समिति के प्रतिवेदन के अनुसार, प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्रों को 9 भागों में जैसे— उत्पादन प्रबन्ध, वित्तीय प्रबन्ध, विकास प्रबन्ध, वितरण प्रबन्ध, क्रय प्रबन्ध, परिवहन प्रबन्ध, संस्थापन प्रबन्ध, सेविवर्गीय प्रबन्ध एवं कार्यालय प्रबन्ध आदि में विभाजित किया है।

सामान्यतः प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्र में निम्नलिखित प्रबन्ध को सम्मिलित करते हैं : -

**(I) उत्पादन प्रबन्ध (Production Management)**

उत्पादन प्रबन्ध, सामान्य प्रबन्ध की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध उत्पादन क्रियाओं के प्रभावशाली नियोजन, संगठन, समन्वय एवं नियन्त्रण से है ताकि वस्तुएँ एवं सेवाएँ आवश्यक मात्रा में न्यूनतम लागत पर यथा समय उत्पादित एवं उपलब्ध हो सकें। इसके लिए उत्पादन की मात्रा, किस्म, डिजाइन, विकास, प्रक्रिया, समय, विधि, क्रय आदि से सम्बन्धित योजना बनाने, कार्य विश्लेषण करने एवं निरीक्षण आदि कार्यों को सम्पन्न किया जाता है।

1. उत्पादन नियोजन।
2. उत्पादन नियन्त्रण।
3. सुविधाओं का स्थान-निर्धारण।
4. संयंत्र अभिन्यास।
5. किस्म नियन्त्रण।
6. प्रविधि विश्लेषण।
7. कार्य मापन।
8. उत्पादन इंजीनियरिंग।
9. कार्य इंजीनियरिंग।
10. डिजायन एवं पैकिंग।
11. उत्पादन एवं उसका डिजायन।
12. उत्पादन शोध एवं विकास।

**(II) वित्तीय प्रबन्ध (Financial Management) -**

वित्त कार्य या वित्तीय प्रबन्ध से आशय ऐसी क्रियाओं से है, जो व्यवसाय के लिए आवश्यक वित्त के नियोजन, संगठन, संग्रह, वितरण एवं नियन्त्रण के लिए की जाती है। इनका मुख्य उद्देश्य व्यवसाय के लिए आवश्यकतानुसार धन एकत्रित करना, सुदृढ़ वित्तीय नीतियों का निर्धारण करना एवं आय के स्रोतों में वृद्धि करना ताकि वित्त (पूँजी) का अल्पीकरण एवं अधिकरण न हो सके। इसके लिए एक वित्त प्रबन्धक को विनियोग, पूँजी का ढांचा एवं लाभांश आदि के सम्बन्ध में निर्णय लेने पड़ते हैं।



सामान्यतः वित्तीय प्रबन्ध के क्षेत्र में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित है : –

1. वित्तीय पूर्वानुमान।
2. वित्त के स्रोतों का विकास।
3. पूँजी प्राप्त करना।
4. पूँजी का विभिन्न क्रियाओं में वितरण।
5. पूँजी लागत का निर्धारण।
6. वित्तीय नियन्त्रण।
7. लेखांकन प्रबन्ध।
8. अंकेक्षण।
9. करो का निर्धारण एवं भुगतान।
10. वित्तीय अभिलेख एवं अनुरक्षा।
11. वित्तीय प्रतिवेदन।
12. लाभांश एवं बोनस।

(III) विपणन प्रबन्ध (Marketing Management) –

विपणन प्रबन्ध का आशय प्रबन्ध की उस शाखा से है जिसमें विपणन प्रक्रिया की समस्त गतिविधियों के नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियन्त्रण कार्य सम्मिलित है। यह एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के अनुरूप उत्पाद तैयार कर वितरण किया जाता है। ताकि उन्हें सन्तुष्ट किया जा सके।

सामान्यतः विपणन प्रबन्ध के क्षेत्र में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित है :

1. विपणन नियोजन।
2. विक्रय पूर्वानुमान।
3. उपभोक्ता व्यवहार एवं अभिप्रेरण अनुसंधान।
4. उत्पाद नियोजन एवं विकास।
5. बाजार विभक्तिकरण एवं बाजार लक्ष्य।
6. वितरण माध्यमों का प्रबन्ध।
7. कीमत नीति निर्धारण।
8. संवर्द्धनात्मक मिश्रण नीति।
9. विक्रय प्रबन्ध।
10. विपणन सम्प्रेषण एवं सूचना विधि।
11. विक्रय संगठन।
12. विक्रय कर्मचारी प्रबन्ध।
13. उपभोक्ता मनोविज्ञान।
14. उपभोक्ता अनुसंधान।
15. विक्रय नियन्त्रण एवं विश्लेषण।

#### (IV) मानव संसाधन प्रबन्ध (Human Resource Management)

सेविवर्गीय प्रबन्ध सामान्य प्रबन्ध का वह भाग है जो कर्मचारियों की अधिप्राप्ति, विकास एवं उन्हें बनाये रखने से सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य कर्मचारियों को अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान कर उनमें निहित क्षमताओं एवं कार्यकुशलता का अधिकतम उपयोग कर संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति को सम्भव बनाना है।

सामान्यतः सेविवर्गीय प्रबन्ध के क्षेत्र में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित हैं : –

1. मानव शक्ति नियोजन।
2. भर्ती एवं चयन।
3. प्रशिक्षण एवं विकास।
4. मजदूरी एवं वेतन प्रशासन।
5. कार्य मूल्यांकन, योग्यता मूल्यांकन।
6. स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं सुरक्षा।
7. श्रम कल्याण क्रियाएँ।
8. सामाजिक सुरक्षा एवं श्रम कानून।
9. श्रम सम्बन्ध।
10. पदोन्नति, स्थानान्तरण एवं सेवानिवृत्ति।
11. प्रबन्ध एवं लाभ में सहभागिता।
12. औद्योगिक मनोविज्ञान।
13. मनोबल।
14. श्रम संघ।
15. सामुहिक सोदेबाजी।
16. परिवेदना एवं सुझाव।
17. मानव शक्ति प्रबन्ध सम्बन्धि शोध।
18. सेविवर्गीय अकेंक्षण एवं नियन्त्रण।

#### (V) सामग्री एवं क्रय प्रबन्ध (Material and Purchase Management)

सामान्यतः सामग्री प्रबन्ध का आशय उद्योग के लिए विभिन्न सामग्रियों—कच्चे माल, पुर्जे, उपकरण, यन्त्र, स्टेशनरी एवं अन्य उचित व्यवस्था करने से है। प्रयाप्त मात्रा में न्यूनतम कीमत पर अच्छी किस्म के कच्चे माल के क्रय पर व्यवसाय की सफलता काफी सीमा तक निर्भर करती है। इस प्रकार सामग्री के प्रकार, मात्रा, स्थान, गति एवं समय के नियोजन, निर्देशन एवं नियन्त्रण को सामग्री प्रबन्ध कहते हैं।

क्रय प्रबन्ध से आशय व्यवसायिक उपक्रम द्वारा विभिन्न प्रकार के सामानों, उपकरणों, यन्त्रों एवं कच्चे माल की प्राप्ति के नियोजन एवं नियन्त्रण करना है ताकि उत्पादन या निर्माण कार्य यथावत चलता रहे।

सामग्री एवं क्रय प्रबन्ध में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित हैं : –

1. सामग्रियों की अधिप्राप्ति में सामग्री के बाजार की खोज करना, पूर्तिकर्ताओं से सम्बन्ध स्थापित करना, स्रोत्र निर्धारित करना, टेण्डर आमन्त्रित करना, क्रय आदेश देना, माल का क्रय करना एवं निरीक्षण करना आदि है।
2. गोदाम व्यवस्था एवं संग्रहण।
3. स्टोर प्रबन्ध।

4. सामग्री नियन्त्रण में सामग्री के स्तरों का निर्धारण, उचित व्यवस्थापन एवं सामग्री क्षति प्रबन्ध आदि है।
5. सामग्री लेखांकन एवं अभिलेख।

#### (VI) परिवहन प्रबन्ध (Transport Management) –

परिवहन प्रबन्ध, विपणन प्रबन्ध का एक भाग है क्योंकि विपणन के कार्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए परिवहन सुविधाओं का होना नितान्त आवश्यक है अतः परिवहन प्रबन्ध का आशय परिवहन सेवाओं के नियोजन, निर्देशन एवं नियन्त्रण से है ताकि कच्चे माल, मशीन एवं यन्त्रों को कारखाने तक लाया और तैयार माल को बाजार, उपभोक्तों एवं व्यापार केन्द्रों तक पहुँचाया जा सके। निर्माणी संगठनों में यह एक महत्वपूर्ण कार्य है ऐसे संगठनों में प्रायः संयंत्र तक रेल की पटरिया बिछाई जाती है। अथवा ट्रकों के आवागमन की व्यवस्था भी की जाती है। परिवहन प्रबन्ध में जल, थल (सड़क मार्ग) एवं वायु परिवहन आदि की सहायता से देश-विदेश से माल लाने ले जाने हेतु परिवहन सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाता है।

परिवहन प्रबन्ध में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित है : –

1. परिवहन साधनों की व्यवस्था करना— किराये के या स्वयं के अथवा आवश्यकतानुसार दोनों सम्मिलित है।
2. आन्तरिक यातायात की व्यवस्था।
3. वाहनों के उपयोग हेतु वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना।
4. वाहनों की मरम्मत एवं अनुरक्षण।

#### (VII) अनुरक्षण प्रबन्ध (Maintenance Management) –

निर्माण/उत्पादन कार्य को निर्बाध गति से सुचारू रूप से संचालन हेतु भवनों, मशीनों, यन्त्रों और औजारों आदि के अनुरक्षण की समुचित व्यवस्था होना आवश्यक है। अनुरक्षण या रख-रखाव प्रबन्ध का आशय सामान्य प्रबन्ध की उस शाखा से है। जिसमें उपक्रम के भवनों, यन्त्रों, मशीनों एवं उपकरणों आदि की समुचित देख-भाल एवं रखरखाव की व्यवस्था की जाती है। साथ ही, नवीन मशीनों, यन्त्रों आदि की स्थापना हेतु उपयुक्त योजना का निर्माण भी किया जाता है। आधुनिक युग में जहाँ उपक्रमों के अधिकाधिक कार्य मशीनों, यन्त्रों, उपकरणों एवं कम्प्यूटर्स द्वारा किये जाते हैं, वहाँ पर इस प्रबन्ध का महत्व और भी बढ़ जाता है।

अनुरक्षण प्रबन्ध में निम्न क्रियाएँ सम्मिलित है।

1. भवन, संयंत्र, मशीनों एवं उपकरणों का रखरखाव।
2. नवीन मशीनों हेतु उपयुक्त योजना बनाना।
3. नवीन मशीनों को स्थापित करना।

#### (VIII) कार्यालय प्रबन्ध (Office Management) –

कार्यालय प्रबन्ध से आशय नियोजन एवं संगठन की उस क्रिया से लगाया जाता है जिसका सम्बन्ध आवश्यक सूचनाओं के एकत्रित करना, विश्लेषण, संग्रहण एवं सम्प्रेषण करने से है वर्तमान समय में उपक्रम के सभी विभागों को कार्यालय सम्बन्धी सेवाओं का अधिकाधिक लाभ पहुँचाने के लिए कार्यालय प्रबन्ध आवश्यक है। कार्यालय प्रबन्ध को सूचना प्रबन्ध, लिपिकों का प्रबन्ध, प्रशासकीय प्रबन्ध आदि भी कहते हैं।

कार्यालय प्रबन्ध में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित है –

1. कार्यालय नियोजन एवं अभिन्यास।
2. कार्यालय संगठन।
3. कर्मचारियों का चयन।
4. प्रभावी आन्तरिक सम्प्रेषण।
5. फॉर्म एवं स्टेशनरी नियन्त्रण।
6. अभिलेखों की फाईलिंग एवं अनुक्रमाणिका।

7. कार्यालय वातावरण का निर्माण।
8. कम्प्यूटर्स एवं आधुनिक मशीनरी।
9. पत्रों एवं डाक का संचालन।
10. कार्यालय यन्त्र, उपकरण का संचालन।
11. कार्यालय पुस्तिका।
12. कार्यालय लेंखा एवं सेवाएँ।
13. कार्यालय प्रतिवेदन।
14. कार्यालय कार्य विधि, संगठन एवं प्रणाली।
15. जनसम्पर्क।

### (IX) शोध एवं विकास प्रबन्ध (Research and Development Management) –

शोध एवं विकास प्रबन्ध, सामान्य प्रबन्ध की वह शाखा है जिसमें उद्योग के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में किये जाने वाले शोध एवं विकास के कार्यों का नियोजन, संगठन, निर्देशन, समन्वय किया जाता है, जैसे- सामग्री, मशीनें, प्रक्रियाएँ, औद्योगिक प्रक्रिया में लागू होने वाला भौतिक विज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्धित शोध तथा अन्वेषण, उत्पाद डिजायन, उत्पादन विकास डिजायन, उपभोक्ता की मांग एवं उत्पादन का सम्बन्ध आदि। प्रतिस्पर्द्धी युग में प्रत्येक उपक्रम के लिए यह आवश्यक है कि नवीनतम प्रौद्योगिकी का प्रयोग करे जो शोध एवं विकास प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है इसलिए उपक्रमों में शोध एवं विकास विभाग की पृथक व्यवस्था की है जिसका एक प्रबन्धक भी होता है।

शोध एवं विकास प्रबन्ध के क्षेत्र में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित है :-

1. शोध एवं उत्पाद विकास।
2. उत्पाद एवं विधियों का सरलीकरण।
3. उत्पाद विविधीकरण।
4. उत्पादकता शोध।
5. प्रविधि विश्लेषण एवं सुधार।
6. क्रियात्मक शोध।
7. कार्यकुशलता शोध।
8. उत्पाद इंजीनियरिंग।
9. औद्योगिक प्रमाप।
10. औद्योगिक डिजाइन्स।
11. मानव अभियान्त्रिकी।
12. प्रमापीकरण, गहनीकरण एवं प्रकार्यशीलता नवप्रर्वतन।
13. वैज्ञानिक प्रबन्ध एवं विवेकीकरण।
14. कर्मचारियों की कुशलता वृद्धि सम्बन्धी शोध।

### (X) अन्य क्रियात्मक क्षेत्र (Other Functional Areas) –

आज के व्यवसाय एवं उद्योग के क्षेत्र में प्रबन्ध की महत्ता बढ़ने के कारण प्रबन्ध के कई क्षेत्र महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। लेकिन ये उद्योग की प्रकृति, आवश्यकता, उद्देश्यों एवं क्षेत्र पर निर्भर करते हैं।

प्रबन्ध के अन्य क्रियात्मक क्षेत्र में निम्नलिखित प्रबन्ध सम्मिलित है :-

1. सार्वजनिक उपक्रमों का प्रबन्ध ।
2. निर्यात-आयात प्रबन्ध ।
3. विनियोग एवं पोर्टफोलियो प्रबन्ध ।
4. उद्यमिता प्रबन्ध ।
5. लघु व्यवसाय प्रबन्ध ।
6. थोक एवं फुटकर व्यापार प्रबन्ध ।
7. जोखिम एवं सुरक्षा प्रबन्ध ।
8. विपणन शोध प्रबन्ध ।
9. परिवर्तन का प्रबन्ध ।
10. इवेंट प्रबन्ध ।
11. संघर्षों का प्रबन्ध ।
12. सीखने का प्रबन्ध ।
13. समय प्रबन्ध ।

**प्रश्न बोध –**

**लघुत्तरात्मक प्रश्न**

1. वित्तीय प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं।
2. विपणन प्रबन्ध से आपका क्या अभिप्राय है।
3. सामग्री एवं क्रय प्रबन्ध का अर्थ बताइयें।

**निम्बन्धात्मक प्रश्न –**

1. प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्रों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

**अध्याय - चतुर्थ**  
**प्रबन्ध चिन्तन की विचारधारा**  
**अथवा**  
**प्रबन्ध की स्कूल विचारधाराएँ**

**[Schools of Management Thought]**

मानव, मानवीय मूल्यों, मानवीय आवश्यकताओं व तकनीकों से प्रबन्ध का गहरा सम्बन्ध होता है तथा इनसे प्रबन्ध प्रभावित भी होता है। इसलिए इनके सम्बन्ध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा प्रबन्ध विशेषज्ञों ने समय-समय पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् प्रबन्ध व्यवस्था की विचारधाराओं में आमूलचूल परिवर्तन होने लगे, जो वर्तमान में भी अपनी द्रुत गति बनाये हुए हैं।

प्रबन्ध की विभिन्न विचारधाराओं का श्रेय प्रबन्ध विचारकों एवं चिन्तकों के साथ उनकी विभिन्न पृष्ठभूमियों को जाता है। प्रबन्ध विचारधाराओं में व्याप्त विरोधी विचारों व भ्रमों के कारण प्रबन्ध का अध्ययन मात्र किसी एक विचारधारा को आधार मानकर करना सम्भव नहीं है। अतः प्रबन्ध का अध्ययन करने के लिए कुछ प्रमुख परम्परावादी व नवीन प्रतिष्ठित स्कूल विचारधाराओं (Classical & Neo Classical Schools thought) का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है।

जो निम्नलिखित है : -

1. **प्रबन्ध-प्रक्रिया विचारधारा** - प्रबन्ध-प्रक्रिया विचारधारा के जनक हेनरी फेयोल माने जाते हैं किन्तु इसके विकास एवं संशोधन में हैरोल्ड कून्टज, टैरी, ब्रैच, लुथर, गुलिक एवं न्यूमैन आदि प्रबन्धशास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रबन्ध प्रक्रिया विचारधारा की यह मान्यता है कि प्रबन्ध एक प्रक्रिया है जो प्रबन्ध के मूल कार्यों को जन्म देती है और निरन्तर चलती रहती है, इसके माध्यम से निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति व्यक्तियों के एक संगठित समूह द्वारा की जाती है। यह विचारधारा प्रक्रिया का विश्लेषण करती है, वैज्ञानिक ढाँचे की स्थापना करती है, सम्बन्धित सिद्धान्तों की अवहेलना करती है एवं प्रबन्ध की विचारधारा का निर्माण भी करती है। इस विचारधारा की यह मान्यता भी है कि प्रबन्ध कार्य, प्रथाओं एवं परम्पराओं के अनुसार सम्पन्न किये जाते हैं और प्रबन्ध के कार्यपथ का निर्धारण तथा निर्देशन उन परम्पराओं से होता है जो अनुभवों पर आधारित होती है। इसलिए इस विचारधारा को परम्परागत विचारधारा, कार्यात्मक विचारधारा, प्रबन्धकीय सार्वभौमिक विचारधारा के नाम से भी पुकारते हैं।

2. **अनुभवाश्रित विचारधारा** - अनुभवाश्रित विचारधारा के समर्थकों की सूची में कून्टज ने उन विद्वानों एवं अध्ययनकर्ताओं को शामिल किया है जो प्रबन्ध को अनुभव का अध्ययन समझते हैं। इस विचारधारा के समर्थक पीटर एफ. ड्रकर, अर्नेस्ट डेल, पीटरसन, कीथ डेविस, न्यूमैन, प्लाडमैन व वेनिस प्रमुख हैं।

अनुभवाश्रित विचारधारा की मान्यता है कि अधिकांश प्रबन्धक अनुभव से प्रबन्धकीय ज्ञान की प्राप्ति करते हैं। यदि प्रबन्धकों के अनुभवों एवं कार्यों का अध्ययन तथा विश्लेषण किया जाये तो भावी प्रबन्धकीय कार्यों के लिए कुछ उपयोगी सामान्यीकरण किये जा सकते हैं। परिणामस्वरूप प्रबन्ध की प्रकृति, समस्याओं, चुनौतियों एवं स्थिति को समझने में भी अवसर मिलेगा। इन विद्वानों की यह भी मान्यता है कि इन सामान्यीकरण तथा जानकारीयों से भावी प्रबन्धकीय कार्यों में बहुत अधिक सहायता तो मिलेगी ही, साथ ही प्रबन्ध का शिक्षण-प्रशिक्षण भी सरल हो जाता है। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक परिस्थितियों की जानकारी कर लेने से व्यक्ति तुलनात्मक परिस्थितियों में भी वैसा ही करने में समर्थ हो जाता है।

3. **सामाजिक प्रणाली विचारधारा** - सामाजिक प्रणाली विचारधारा के प्रवर्तक चेस्टर आई. बर्नार्ड माने जाते हैं। इस विचारधारा के विकास में रेन्सिस लिंकर्ट, कुर्त लेविन, हर्जबर्ग, एवं साईमन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक प्रणाली विचारधारा की यह मान्यता है कि प्रबन्धकीय प्रणाली की समस्याओं का विश्लेषण एवं हल सहकारिता के सिद्धान्त में निहित है जिसके द्वारा कर्मचारी के व्यक्तिगत विकास में बाधक जैविक, भौतिक एवं सामाजिक सीमाओं को दूर किया जा सकता है। यह विचारधारा इस बात को भी मानती है

कि कर्मचारियों की विभिन्न भावनाओं, स्वरूपों, मतभेदों को औपचारिक संगठन के स्थान पर अनौपचारिक संगठन से निपटाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सामाजिक सम्बन्धों का विकास सामाजिक परम्पराओं एवं दबावों का ही प्रतिफल है, इन्हें किसी औपचारिक क्रियाओं से प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

4. **वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा** – वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा के प्रवर्तक एवं जन्मदाता एफ. डब्ल्यू. टेलर है। यह विचारधारा व्यक्तियों को अधिकतम उत्पादन करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है इसलिए इसे उत्पादकता या दक्षता विचारधारा भी कहते हैं। इसके लिए उत्पादन की सर्वोत्तम विधि का निर्धारण करने के लिए वर्षों प्रयोग विधि एवं ऐसी व्यवस्थाओं का निर्धारण किया जिससे उत्पादन में वृद्धि की जा सके। यह विचारधारा कार्यों, गतियों, सामग्रियों, यन्त्रों, उपकरणों एवं कार्य विधियों आदि के प्रमापीकरण पर बल देती है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक तरीके से चुने हुए अशिक्षित श्रमिकों के माध्यम से सर्वश्रेष्ठ विधि से कार्य करवाने पर जोर देती है और प्रेरणात्मक मजदूरी विधियों को अपनाने पर भी जोर देती है।
5. **मानवीय व्यवहार विचारधारा** – मानवीय व्यवहार विचारधारा कार्यों एवं यन्त्रों के स्थान पर मनुष्यों को केन्द्र-बिन्दु मानती है और प्रबन्ध के लिए मानव व्यवहार के अध्ययन पर बल देती है। इस विचारधारा की यह मान्यता है की प्रबन्ध, मानव से कार्य करवाने की कला है अतः प्रबन्ध का अध्ययन मानव व्यवहार के अध्ययन पर केन्द्रित होना चाहिए।

**मानवीय व्यवहार के अध्ययन की दो विचारधाराएँ हैं : –**

- (i) **मानवीय सम्बन्ध विचारधारा**– इस विचारधारा के प्रवर्तक एल्टन मेयो माने जाते हैं। इस विचारधारा की यह मान्यता है कि कर्मचारी एक सामाजिक प्राणी है, जिसकी अपनी मानसिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं। अतः कोई भी प्रबन्धक उनसे कार्य लेना चाहे तो सर्वप्रथम उनकी आवश्यकताओं को समझकर सन्तुष्ट करे। इसके पश्चात् उन्हें मनुष्य के रूप में समझे इसके लिए इस प्रकार का वातावरण देना होगा ताकि वह अपनी समस्त प्रतिभा एवं योग्यता को कार्य पर लगा सके।
- (ii) **समूह-व्यवहार विचारधारा**–समूह व्यवहार विचारधारा के प्रवर्तक गोल्डार एवं अमिताई एट्जियोनि है। इस विचारधारा की यह मान्यता है कि प्रबन्ध का अध्ययन संगठन या समूह में मानवीय व्यवहार पर केन्द्रित होना चाहिए, तभी प्रबन्धकीय कुशलता लायी जा सकती है। इसलिए प्रबन्धकों को औपचारिक संगठनों, अनौपचारिक संगठनों की प्रक्रिया तथा तकनीकों, समूह व्यवहार की गत्यात्मकता, समूह में संघर्ष और परिवर्तन आदि का अध्ययन करना चाहिए।
6. **निर्णय-सिद्धान्त विचारधारा**– निर्णय सिद्धान्त विचारधारा के प्रतिपादक प्रबन्ध को निर्णयन प्रक्रिया के रूप में मानते हैं। इस विचारधारा के विकास का श्रेय विभिन्न अर्थशास्त्रियों को है जैसे—हर्बर्ट साइमन, प्रबन्धशास्त्री चेस्टर आई. बर्नार्ड एवं जेम्स जी. मार्च आदि।  
इस विचारधारा की मान्यता है कि जब निर्णय लेना प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है तो प्रबन्ध के सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रत्येक अध्ययन का केन्द्र भी निर्णय प्रक्रिया होना चाहिए। लेकिन इस प्रक्रिया का अध्ययन करने में इन परिस्थितियों एवं व्यवहारिक पहलुओं को ध्यान में रखना चाहिए जैसे— संगठन संरचना, कर्मचारियों के आपसी सम्बन्ध, सम्प्रेषण व्यवस्था, कर्मचारियों की अभिप्रेरणाएँ, सामाजिक मूल्य, संस्था के उद्देश्य आदि।
7. **तुलनात्मक प्रबन्ध विचारधारा**– तुलनात्मक प्रबन्ध विचारधारा के प्रतिपादक गोन्जा लेण्ज एवं मैकमिलन को माना जाता है। इस विचारधारा के समर्थकों में अर्नेस्ट डेल, ओवर्ग एवं एस. बेन्जामिन आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस विचारधारा की मान्यता है कि प्रबन्ध संस्कृतिबद्ध होता है। इसलिए प्रबन्ध के सभी सिद्धान्तों को सभी प्रकार की संस्कृतियों में समान रूप से लागू किया जा सकता है। अतः प्रत्येक देश की संस्कृति एवं वहा पायी जाने वाली प्रबन्ध व्यवस्था का अध्ययन कर कुछ सामान्य सिद्धान्तों का विकास करना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक देश की सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही प्रबन्ध के सिद्धान्तों का विकास करना चाहिए, न की कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्तों का।

8. **परिमाणात्मक विचारधारा**— परिमाणात्मक विचारधारा को 'गणितीय विचारधारा' एवं 'प्रबन्ध विज्ञान विचारधारा' भी कहते हैं।

इस विचारधारा के समर्थक जोयल डीन, चार्ल्स हिच एवं श्लेफर रहे हैं। इस विचारधारा की यह मान्यता है कि प्रबन्ध एक तर्कपूर्ण प्रक्रिया है जिसे गणितीय मॉडल या परिमाणात्मक तथ्यों द्वारा व्यक्त एवं स्पष्ट किया जा सकता है इसलिए प्रबन्धकीय समस्याओं के निदान अथवा प्रबन्धकीय निर्णयों की सुदृढ़ता के लिए परिमाणात्मक विधियों का उपयोग किया जा सकता है। इसकी महत्वपूर्ण विधियाँ—खेल सिद्धान्त, सम्भाविता सिद्धान्त, निदर्शन का सिद्धान्त, रेखीय कार्यक्रम आदि हैं। इसके अतिरिक्त कम्प्यूटर के प्रयोग से भी अधिकतम सभी कारणों वाले सुत्रों से मॉडल तैयार किये जा सकते हैं और जटिल प्रबन्धकीय समस्याओं को हल किया जा सकता है।

9. **प्रणाली विचारधारा**—प्रबन्ध की प्रणाली विचारधारा का प्रतिपादन लुडविगवान बरटन नेकी ने किया एवं केनेथ वोल्लिंडंग ने इस विचारधारा में सुधार किया। प्रणाली विचारधारा की मान्यता है कि बड़े पैमाने पर उद्योगों की प्रबन्धकीय जटिलताओं पर विजय पाने के लिए संस्थाओं का प्रबन्ध 'प्रणाली' या 'तन्त्र' पर करना आवश्यक है। प्रबन्धकीय कार्यों का अलग-अलग महत्त्व होते हुए भी सफलता प्राप्ति के लिए प्रबन्धकों को संगठन को एक प्रणाली के रूप में समझना आवश्यक है। इसी प्रकार व्यावसायिक संगठन का सम्पूर्ण प्रबन्ध एक प्रणाली है जिसके कई उपतन्त्र हैं जैसे— उत्पादन, विपणन, वित्त एवं सेविवर्गीय विभाग आदि। ये अपने आप में स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर अन्तर्सम्बन्धित हैं। अतः संगठन की कुशलता के लिए सभी विभागों एवं तन्त्रों में समन्वय आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध को किसी संगठन का प्रबन्ध करते समय सम्पूर्ण संस्था को एक विस्तृत तन्त्र समझना चाहिए।

10. **प्रबन्ध की अन्य विचारधारा** —

- (i) **निर्देशात्मक विचारधारा**—निर्देशात्मक विचारधारा की यह मान्यता है कि प्रबन्धक योग्य एवं अनुभवी होने के कारण निर्देशक क्षमता रखते हैं। अतः उन्हें समय-समय पर कर्मचारियों को यह बताते रहना चाहिए कि उन्हें क्या, कब, क्यों और कैसे करना है ? इसका कारण यह है कि प्रबन्धकों का कार्य नीतियाँ बनाना, लक्ष्य निर्धारण करना एवं उनका क्रियान्वयन करना है। इसके अतिरिक्त शक्ति के ज्ञान बराबर कार्य किया जाना चाहिए और जिसके पास शक्ति है, उसे ही विशेषज्ञ माना जाना चाहिए।
- (ii) **सहभागिता विचारधारा**— प्रबन्ध की यह विचारधारा प्रजातान्त्रिक विचारों पर आधारित है, जिसकी यह मान्यता है कि कर्मचारियों को प्रबन्धकीय क्रियाओं में हिस्सा लेने का अवसर दिया जाना चाहिए। उनको अपनी बात कहने का अवसर दिया जाना चाहिए, ठोस निर्णयों के लिए व्यापक परामर्श किया जाना चाहिए और उन्हें सभी निर्णयों में सम्मिलित किया जाना चाहिए।
- (iii) **नियमनिष्ठ विचारधारा**— यह विचारधारा संस्था में नियम व्यवस्था के निर्माण में विश्वास रखती है। इसकी यह मान्यता है कि किसी संस्था के संगठन का सुचारु संचालन के लिए सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों के अधिकार तथा दायित्व स्पष्ट होने चाहिए। फलस्वरूप वे एक दूसरे की क्रियाओं में हस्तक्षेप न करके अपने अधिकार क्षेत्र में कार्य करते हैं, उनके मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना होती है। और कार्य कुशलता में वृद्धि होती है।
- (iv) **अंकुश एवं सन्तुलन विचारधारा**— अंकुश एवं सन्तुलन विचारधारा की यह मान्यता है कि व्यक्ति प्रायः शक्ति एवं पद प्राप्त कर भ्रमित तथा भ्रष्ट हो जाते हैं अतः अधिकार सत्ता प्राप्त व्यक्तियों को भ्रमित होने से रोकने के लिए उन पर अंकुश लगाये रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अधिकार सम्पन्न एवं शक्तिशाली व्यक्ति अपने अधिकारों एवं शक्तियों में वृद्धि करने का भी प्रयास करता है, जिन पर भी निरीक्षण एवं नियन्त्रण करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार कर्मचारियों के व्यवहारों को भी मर्यादित करना आवश्यक है। अतः प्रत्येक कार्य में निरीक्षण, नियन्त्रण एवं सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता होती है।
- (v) **प्रबन्धकीय भूमिका विचारधारा**— इस विचारधारा का प्रचार प्रो. हैनरी मिन्जबर्ग ने किया है। इन्होंने अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रबन्धक, प्रबन्धकीय कार्यों को ही निष्पादित नहीं करता है



अपितु उन विविध क्रियाओं को भी करता है जिन्हें भूमिका का निर्वाह कहते हैं। प्रबन्धकीय भूमिकाएँ तीन प्रकार की हैं—पारस्परिक सम्बन्ध वाली भूमिकाएँ, सूचनात्मक भूमिकाएँ, निर्णयन भूमिकाएँ आदि।

## आकस्मिकता विचारधारा

### (Contingency Approachs)

आकस्मिकता विचारधारा मुख्य रूप से टॉप वर्नस एण्ड जी. डब्ल्यू. स्टाकर, जोन वुडवर्क, पॉल लारन्स एण्ड जे. लॉरसन तथा जेम्स थोम्पसन आदि के अध्ययनों पर आधारित है। इन्होंने संगठन-संरचना एवं वातावरण की दशाओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया। इस विचारधारा को कई अन्य नामों से भी पुकारा जाता है जैसे सांयोगिक विचारधारा, प्रासंगिक विचारधारा, आनुसंगिक विचारधारा एवं 'आपातिकता विचारधारा' आदि।

आकास्मिकता विचारधारा या दृष्टिकोण, प्रबन्ध संगठन का आधुनिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण है यह प्रणाली दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखती है। इसकी यह मान्यता है कि सभी दृष्टिकोण को विज्ञान एवं सिद्धान्त कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही प्रभावी सिद्ध होते हैं। किसी भी दृष्टिकोण के सिद्धान्त सार्वभौमिक नहीं है और प्रबन्ध के सिद्धान्त भी प्रत्येक परिस्थिति के लिए कार्य की कोई सर्वोत्तम विधि भी उपलब्ध नहीं करा सकते हैं। अतः प्रचलित परिस्थितियों के अनुरूप ही उचित दृष्टिकोणों के सम्मिश्रण को अपनाना चाहिए।

प्रबन्ध के इस दृष्टिकोण का मानना है कि प्रबन्धक वही व्यवहार करता है जो उस समय की परिस्थितियों की मांग होती है अर्थात् उसके कार्य तथा निर्णय तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। इसके समर्थक यह कहते हैं कि प्रबन्धक को अपने कार्यों को करने में अपनी परिस्थितियों को भी ध्यान में नहीं रखना होता है बल्कि उन परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना होता है जो उन निर्णयों को लागू करने पर उत्पन्न होने वाली है। इसके अतिरिक्त प्रबन्धक को तात्कालिक परिस्थितियों, संयोगों एवं प्रसंगों आदि को ध्यान में रखकर ही अपने प्रबन्धकीय कार्य को करना चाहिए। प्रबन्धकों को अपने प्रबन्धकीय ज्ञान, चातुर्य तथा अनुभव का उपयोग परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही करना चाहिए ताकि निर्णयों का क्रियान्वयन किया जा सके।

इस प्रकार प्रबन्ध की आकस्मिक विचारधारा में प्रबन्ध को विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न तरीकों को अपनाना पड़ता है। यदि प्रबन्धक परिस्थिति की विशिष्टता या वास्तविकता को पहचानकर उसका सही परीक्षण करता है तो संगठनात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति आसानी से की जा सकती है।

### आकस्मिकता विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं : —

1. प्रबन्ध पूर्णतः परिस्थितिगत होता है। इसलिए प्रबन्ध के कोई सार्वभौमिक सिद्धान्त एवं कार्य करने का एक सर्वश्रेष्ठ तरीका नहीं होता है। अतः प्रबन्ध को चाहिए कि वे परिस्थिति एवं वातावरण को ध्यान में रखकर भी कार्य, व्यवहार एवं प्रबन्धकीय कार्य का निष्पादन करे।
2. स्थित्यात्मक दृष्टिकोण उद्देश्योन्मुखी होता है। यह प्रबन्धकों को निर्णय लेने एवं कार्य करने की स्वायत्तता प्रदान करता है। अतः उन्हें परिस्थितियों की मांग एवं व्यक्तियों की आवश्यकता के अनुरूप नवीन तरीकों, प्रक्रियाओं एवं विधियों की स्थापना करनी चाहिए।
3. आज की परिस्थिति एवं जटिलता इस बात का निर्धारण करती है कि कौनसा तरीका या विचारधारा लागू की जाए ताकि वह प्रभावशाली हो सके। इसलिए प्रबन्धकीय तरीके एवं तकनीकों का चुनाव परिस्थिति की आवश्यकता को ध्यान में रखकर करना चाहिए।
4. प्रबन्धकों के कार्य एवं निर्णय परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं इसलिए प्रबन्धकों को अपने निर्णय, कार्य एवं प्रबन्धकीय कार्य करने के पूर्व परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए, जो आन्तरीक एवं बाह्य वातावरण से सम्बन्धित हो सकती है।
5. समस्त परिस्थितियों के लिए कोई एक संगठन संरचना नहीं होती है। अतः संगठन संरचना का निर्धारण वातावरण, तकनीकों, आकार एवं व्यक्तियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।
6. प्रबन्धकों को अपने प्रबन्धकीय ज्ञान, चातुर्य एवं अनुभव का उपयोग तत्कालीन, आन्तरिक, बाह्य, वर्तमान एवं भावी सभी परिस्थितियों के सन्दर्भ में करना चाहिए।
7. आकस्मिकता विचारधारा इस बात पर भी बल देती है कि जिस प्रबन्ध के निर्णय परिस्थितियों के जितने अधिक अनुकूल होंगे, वही प्रबन्धक सर्वाधिक सफलता की सीढ़ी पर चढ़ जायेगा।

8. प्रो. लुन्थास के अनुसार, आकस्मिकता दृष्टिकोण 'अगर' तब जैसी स्थिति होगी, वैसे ही निपट लेंगे' ढाँचा है, जिसके अन्तर्गत प्रबन्धकीय कार्य, क्रियाओं, व्यवहार, प्रणाली, तरीके एवं तकनिक का निर्धारण आन्तरिक तथा बाह्य वातावरण के अध्ययन एवं विश्लेषण पर आधारित है।

### आकस्मिकता विचारधारा का योगदान –

1. यह व्यावहारिक एवं आधुनिक है।
2. इसका उपयोग कर्मचारियों के विकास, प्रशिक्षण कार्यक्रम एवं अभिप्रेरण, नियन्त्रण की पद्धतियों का निर्धारण, विकेन्द्रीकरण की सीमा का निर्धारण, सूचना, निर्णय पद्धति के नियोजन तथा प्रबन्ध-संगठन के अन्त स्रोतों से किया जा सकता है।
3. एक सामान्य व्यक्ति भी जब कुछ कार्यों का नियोजन नहीं कर पाता है तो अपने जीवन में भी इस दृष्टिकोण को अपनाता है।
4. इस दृष्टिकोण के आधार पर ठोस निर्णय लिए जा सकते हैं।
5. यह दृष्टिकोण प्रबन्धक को परिस्थिति की जटिलताओं के प्रति सचेत करता है।
6. यह परिवर्तनों का प्रबन्ध करने में भी सहायक होता है।

### आकस्मिकता विचारधारा की सीमाएँ –

1. यह दृष्टिकोण स्वतन्त्र एवं पृथक नहीं है क्योंकि प्रत्येक प्रबन्धक अपने ज्ञान अनुभव एवं कौशल का उपयोग परिस्थितियों को ध्यान में रखकर करता है।
2. प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान, चातुर्यता एवं अनुभव भिन्न-भिन्न होता है इसलिए प्रबन्धक परिस्थितियों के अनुरूप उनका उपयोग नहीं कर पाते हैं। परिणामस्वरूप सभी पक्षकारों का लाभ हो, यह आवश्यक नहीं है।
3. इस दृष्टिकोण का क्रियान्वयन सम्भव नहीं है क्योंकि परिस्थितियों का अध्ययन एवं विश्लेषण करना, समय की मांग एवं व्यक्तियों की आवश्यकता का ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है।
4. इस दृष्टिकोण में वैज्ञानिक वैधता का अभाव पाया जाता है।
5. कई बार परिस्थितियों में इतनी तीव्र गति से परिवर्तन होता है कि उन्हें समझना कठिन होता है। ऐसी परिस्थिति में इस दृष्टिकोण का महत्त्व कम हो जाता है।

### प्रश्न बोध –

#### लघूरात्मक प्रश्न

1. प्रबन्ध की मानवीय सम्बन्ध विचारधारा क्या है ?
2. वैज्ञानिक प्रबन्ध की विचारधारा को समझाईये।
3. प्रबन्ध की आकस्मिकता विचारधारा क्या है?

#### निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रबन्ध की विभिन्न स्कूल विचारधाराओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. प्रबन्ध की आकस्मिकता विचारधारा पर एक लेख लिखिए।

## अध्याय पंचम

### नियोजन [Planning]

#### नियोजन की अवधारणा [Concept of Planning] –

**जॉन एफ. मी.** का यह कथन है कि व्यक्ति जो कुछ कल्पना करता है उसे वह कार्यान्वित कर सकता है क्योंकि व्यक्ति का एक विशेष लक्षण यह है कि वह योजना बनाता है नियोजन भविष्य में किए जाने वाले कार्यों का ही पूर्व निर्धारण है। नियोजन प्रबन्ध का प्राथमिक एवं आधारभूत कार्य है यह प्रबन्ध के अन्य कार्यों की आधारशिला भी है क्योंकि संगठन, निर्देशन, समन्वय नियंत्रण आदि समस्त प्रबन्धकीय क्रियाएँ जो प्रबंधको के द्वारा की जाती हैं, निर्धारित योजना पर ही निर्भर करती हैं। इस प्रकार नियोजन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है जिसका उद्देश्य निर्धारित भावी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अग्रिम में यह निश्चित करना है कि भविष्य में क्या किया जाना है। यही नहीं नियोजन कि आवश्यकता मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भी होती है क्योंकि वह अपने जीवनकाल में कितने ही उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का निर्धारण करता है। उन्हें प्राप्त करने के लिए योजना बनाता है। तत्पश्चात् योजना के अनुसार कार्य करता है।

#### नियोजन का अर्थ एवं परिभाषा:—

साधारण शब्दों में, निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भविष्य में क्या करना है। किसे करना है, और कितना करना है आदि का पूर्व निर्धारण ही नियोजन है।

प्रबन्ध जगत में, नियोजन का अर्थ निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपलब्ध वैकल्पिक नीतियाँ विधियों एवं कार्यक्रमों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन है जिसके द्वारा प्रबंधके सीमित साधनों के द्वारा उपक्रम के उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं। यह प्रबन्ध का आधारभूत, प्राथमिक एवं बौद्धिक कार्य है और इसी से ही प्रबंध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जिसके द्वारा भविष्य की क्रियाओं का वर्तमान में निर्धारण किया जाता है।

प्रबन्ध में नियोजन को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम अनेक प्रबंध विशेषज्ञों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करते हैं।

#### परिभाषाएँ –

**विलियम एच न्यूमैन के अनुसार** – “सामान्यतः भविष्य में क्या करना है इसका पूर्व निर्धारण करना ही नियोजन है।”

**कून्टज एवं ओ डोनोल के अनुसार** – “व्यावसायिक नियोजन एक बौद्धिक प्रक्रिया है किसी क्रिया के कारण का सचेष्ट निर्धारण है, निर्णयों को लक्ष्यों, तथ्यों एवं पूर्व विचारित अनुमानों पर आधारित करना है।”

**बिल्ली ई. गोर्डेज के अनुसार** – “नियोजन मूल रूप से चयन प्रक्रिया है तथा नियोजन समस्या का उदय कार्यों के वैकल्पिक तरीकों की खोज के साथ ही होता है।”

#### नियोजन के प्रकार [Types of Planning]—

नियोजन अनेक प्रकार के होते हैं, जिनको निम्नांकित आधारों पर वर्गीकृत करके स्पष्ट किया जा सकता है।

##### (I) अवधि के आधार पर –

1. **अल्पकालीन नियोजन** – जो नियोजन बहुत कम अवधि के होते हैं, वे अल्पकालीन या अल्पावधि नियोजन कहलाते हैं। सामान्यतः अल्पकालीन नियोजन एक सप्ताह से लेकर एक वर्ष से कम अवधि के ही होते हैं। इसलिये ऐसे नियोजन साप्ताहिक, पाक्षिक, त्रिमासिक, अर्द्धवार्षिक या वार्षिक नियोजन हो सकते हैं।

अल्पकालीन नियोजन प्रायः परिचालन प्रबन्धकों या प्रथम पंक्ति प्रबन्धकों द्वारा किया जाता है। यह उच्च प्रबन्धको द्वारा निर्धारित उद्देश्यों एवं नीतियों के अन्तर्गत ही किया जाता है। इस नियोजन के निर्माण एवं क्रियान्वयन में बजट, नियमों एवं कार्यविधियों का विशेष महत्व होता है। इसके निर्माण में सामान्यतः उपलब्ध संसाधनों एवं विद्यमान संगठन संरचना को ही आधार बनाया जाता है।

2. **मध्यकालीन नियोजन** – प्रायः एक वर्ष से अधिक तथा तीन वर्षों से कम अवधि के नियोजन को मध्यकालीन नियोजन कहते हैं। ऐसा नियोजन मध्यवर्ती प्रबंधक या क्रियात्मक प्रबंधकों द्वारा किया जाता है। ऐसा नियोजन संस्था या उसके किसी विभाग की विद्यमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिए ही किया जाता है। अतः ऐसे नियोजन के क्रियान्वयन में अतिरिक्त वित्तीय एवं भौतिक संसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती है।
3. **दीर्घकालीन नियोजन** – दीर्घकालीन नियोजन सामान्यतः पांच वर्ष से अधिक का ही होता है, जो कभी-कभी 25–30 वर्ष तक की अवधि तक का भी हो सकता है। दीर्घकालीन नियोजन दीर्घकालीन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया नियोजन है। इसमें दीर्घकालीन व्यूहरचनाओं तथा परिचालन योजनाओं का समावेश किया जाता है। ऐसे नियोजन में वर्तमान में लिये जाने वाले निर्णयों का भविष्य में शीघ्रता, मितव्ययिता एवं न्यूनतम अवरोधों से निर्णय लेने का आधार बनाया जाता है।

**पीटर झाकर के मतानुसार,** “दीर्घकालीन नियोजन भविष्य के यथासम्भव श्रेष्ठतम ज्ञान के आधार पर वर्तमान में साहसिक निर्णय करने, उन निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए प्रयासों को संगठित करने तथा व्यवस्थित प्रतिपुष्टि द्वारा परिणामों को अपेक्षाओं से तुलना करने की सतत प्रक्रिया है।”

**(II) महत्व के आधार पर—** नियोजन के महत्व के आधार पर यह निम्नांकित पांच प्रकार का हो सकता है –

1. **प्रशासकीय नियोजन** – प्रशासकीय नियोजन वह नियोजन है जो संस्था की दीर्घकालीन नीतियों को निर्धारित करने के लिए किया जाता है। इस नियोजन से सम्पूर्ण संस्था की नीतियों एवं उद्देश्यों की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। इस नियोजन से संस्था एवं प्रकृति के बारे में भी सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाती है।

ऐसे नियोजन अति महत्वपूर्ण होते हैं। अतः ऐसे नियोजन से पूर्व भावी एवं वर्तमान परिस्थितियों पर पूर्ण विचार करना अनिवार्य हो जाता है। नियोजन को प्रभावित करने वाले अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन सभी घटकों को ध्यान में रखकर ही ऐसा नियोजन किया जा सकता है।

2. **व्यूहरचनात्मक नियोजन** – व्यूहरचना शब्द सेना से लिया गया है। व्यू रचनात्मक नियोजन शब्द का प्रयोग युद्ध जीतने के लिए किया जाता है। प्रबंधशास्त्री इस शब्द का उपयोग उस समय नियोजन को सम्बोधित करने के लिये करते हैं जो संस्था के प्रतिस्पर्धी वातावरण में विजय प्राप्त करने या सफल होने के लिये किया जाता है।

व्यूहरचनात्मक नियोजन वह प्रक्रिया है जिसमें संस्था के आधारभूत दीर्घकालीन उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है तथा उन व्यूहरचनाओं को तय किया जाता है जिनसे संस्था के वातावरण के संकटों/खतरों का सामना करते हुए एवं उपलब्ध अवसरों का लाभ उठाकर संस्था के दीर्घकालीन उद्देश्यों को पूरा किया जा सके।

3. **परिचालन नियोजन** – व्यूहरचनात्मक या दीर्घकालीन नियोजन को क्रियान्वित करने के लिए ही परिचालन नियोजन किया जाता है। परिचालन नियोजन व्यूहरचनात्मक नियोजन के अनुरूप किया गया वह अल्पकालीन नियोजन है जिसके अन्तर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि संस्था के दीर्घकालीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्धारित व्यूहरचनाओं के अन्तर्गत दिन-प्रतिदिन कौन-कौनसे कार्य, किस प्रकार किये जाते हैं। ऐसा परिचालन नियोजन संस्था के विद्यमान संसाधनों, उत्पादों, बाजार आदि के अनुरूप ही किया जाता है। यह नियोजन परिचालन प्रबंधकों द्वारा ही किया जाता है।

परिचालन नियोजन करते समय व्यूहरचनात्मक नियोजन को ध्यान में रखा जाता है। इसके क्रियान्वयन के लिए रणनीतिक नियोजन भी किया जाता है। विभिन्न अवधियों एवं विभागों के परिचालन नियोजनों के समन्वय के लिए समन्वयकारी या मध्यवर्ती नियोजन भी करना आवश्यक होता है।

4. **क्रियात्मक नियोजन** – क्रियात्मक नियोजन संस्था के विभिन्न क्रियात्मक क्षेत्रों या विभागों के लिए किया जाता है। उत्पादन नियोजन, विपणन नियोजन, वित्तीय नियोजन, मानव संसाधन नियोजन इत्यादि प्रमुख क्रियात्मक नियोजन हैं। प्रत्येक क्रियात्मक नियोजन प्रत्येक विभाग का नियोजन है जो सम्बन्धित विभाग के अधिकारियों एवं अधीनस्थों का मार्गदर्शन करता है तथा विभाग के उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान करता है।

5. **परियोजना नियोजन** – परियोजना किसी भी बड़े कार्य या योजना के किसी विशिष्ट चरण को पूरा करने के लिए बनायी गई उपयोजना है। अतः परियोजना नियोजन एक उप-नियोजन है जिसमें किसी नियोजन के किसी विशिष्ट चरण के अन्तर्गत की जाने वाली क्रियाओं का नियोजन किया जाता है। ऐसे नियोजन में उन क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक संसाधनों, कार्यविधियों, नियमों, बजट आदि को भी निर्धारित किया जाता है। इस परियोजना का एक स्वतन्त्र योजना के रूप में विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जा सकता है।

### (III) उद्देश्य के आधार पर –

1. **सृजनात्मक नियोजन** – सृजनात्मक नियोजन से तात्पर्य ऐसे नियोजन से है, जिसका उद्देश्य नई नीतियों, तकनीकी परिवर्तनों एवं अनुसंधानों को लागू करना होता है। ऐसी योजनाएँ मूल रूप से नई होती हैं इसलिए इसे 'नवाचार नियोजन' भी कहते हैं।
2. **सुधारात्मक नियोजन** – संस्था की वर्तमान योजनाओं एवं क्रियाओं में आवश्यक सुधार अथवा परिवर्तन हेतु तैयार की गई योजनाओं को सुधारात्मक नियोजन कहते हैं। इसका सम्बन्ध उत्पादन प्रणाली एवं कार्यविधि से होता है।
3. **नैतिक नियोजन**– ये ऐसी योजना है, जिनका सम्बन्ध उपक्रम के प्रत्येक स्तर पर होने वाली दिन-प्रतिदिन की क्रियाओं से होता है। ऐसी योजनाएँ व्यापक योजना के सहायक के रूप में कार्य करती हैं।

### (IV) स्तर के आधार पर –

1. **उच्चस्तरीय नियोजन** :-ये वे योजनाएँ हैं जिन्हें संगठन के उच्च प्रबन्ध द्वारा बनाया जाता है। इसमें संस्था के उद्देश्यों, लक्ष्य, नीतियाँ, कार्यक्रम, बजट, समय, प्रभाव एवं व्यूहरचनाओं आदि का उल्लेख होता है।
2. **मध्यस्तरीय नियोजन**– ये ऐसी योजनाएँ हैं जिनका निर्माण मध्यस्तरीय प्रबन्ध द्वारा किया जाता है। इनका सम्बन्ध मुख्यतः लक्ष्यों को प्राप्त करने से होता है।
3. **निम्नस्तरीय नियोजन**– कभी-कभी पर्यवेक्षकों द्वारा जो योजनाएँ बनायी जाती हैं, उन्हें निम्न स्तरीय नियोजन कहा जाता है। ये मुख्य रूप से कार्यकारी योजनाएँ होती हैं, जो अल्पकाल के लिए तैयार की जाती हैं।

### (V) प्रकृति के आधार पर–

1. **स्थायी नियोजन** – स्थायी नियोजन वह होता है जिसका निर्धारण इस प्रकार किया जाता है ताकि उसका बार-बार उपयोग किया जा सके। इसके अन्तर्गत उत्पादन प्रकृति, संगठन-संरचना, प्रमाणित प्रक्रिया एवं विधियों को शामिल किया जाता है।
2. **अस्थायी नियोजन**–यह एक ऐसा नियोजन होता है जो अल्पावधि के लिए किया जाता है एवं इसका अस्तित्व भी विशेष उद्देश्य के पूरा होने तक ही रहता है। अन्य शब्दों में अस्थायी नियोजन का निर्माण विशेष मामलों या उद्देश्यों के लिए किया जाता है और उसकी प्राप्ति के साथ ही नियोजन भी समाप्त हो जाता है। इसे "एकल चक्र नियोजन" भी कहते हैं।

### नियोजन प्रक्रिया

#### [Planning Process]

नियोजन भविष्य में किये जाने वाले कार्यों का निर्धारण करने की एक बौद्धिक प्रक्रिया है। इसके माध्यम से पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उपलब्ध विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन किया जाता है और उसे क्रियान्वित किया जाता है। इस प्रक्रिया को पूरा करने में निम्नलिखित चरण आवश्यक होते हैं:-

1. **बाह्य वातावरण का विश्लेषण एवं मूल्यांकन**–नियोजन करने हेतु सर्वप्रथम प्रबन्धकों को संस्था के बाह्य एवं आन्तरिक वातावरण का अध्ययन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना पड़ता है। इस हेतु प्रबन्धकों को संस्था

को प्रभावित करने वाले सभी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, कानूनी आदि सभी घटकों का अध्ययन करना चाहिये। तत्पश्चात् प्रबन्धकों को एक विवरण तैयार करना चाहिये जिसे वातावरणीय संकट एवं अवसर विवरण के नाम से जाना जाता है। इस विवरण से प्रबन्धक यह जान सकता है कि वातावरण की विद्यमान एवं सम्भावित परिस्थितियां संस्था को किस रूप में तथा किस सीमा तक प्रभावित कर सकती हैं। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर प्रबन्धक यह भी निर्धारित कर सकता है कि उसे बाह्य वातावरण में कौन-कौनसे अवसर उपलब्ध हैं तथा उन अवसरों का लाभ प्राप्त करने में किन-किन संकटों को झेलना पड़ सकता है।

2. **संस्था का आन्तरिक मूल्यांकन:**—संस्था के बाह्य वातावरण का मूल्यांकन करने के बाद संस्था का आन्तरिक मूल्यांकन किया जाता है। इस हेतु संस्था का "स्वॉट अनालिसिस" किया जाता है। स्वॉट (SWOT) परिवर्णी शब्द है। जिसमें सम्मिलित शब्दों का अर्थ निम्नानुसार है।

S= Strengths अर्थात् शक्तियों एवं गुण या सकारात्मक बातें।

W=Weaknesses अर्थात् कमियाँ या अवगुण।

O= Opportunities अर्थात् अवसर।

T= Threats अर्थात् संकट या खतरे।

स्वॉट अनालिसिस में संस्था की शक्तियों या गुणों एवं कमियों या अवगुणों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। तत्पश्चात् संस्था के समक्ष उपलब्ध अवसरों एवं उन अवसरों से जुड़े संकटों का अध्ययन किया जाता है।

3. **उद्देश्यों का निर्धारण करना:**— नियोजन प्रक्रिया के अगले चरण में उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। सर्वप्रथम सम्पूर्ण संस्था के उद्देश्यों को निर्धारित कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् संस्था के प्रत्येक विभाग एवं उपविभाग के उद्देश्यों को निर्धारित करना चाहिये। इन उद्देश्यों में दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन दोनों प्रकार के उद्देश्यों को सम्मिलित किया जाना चाहिये।

उद्देश्य संस्था के प्रत्येक क्षेत्र के लिए निर्धारित किये जाने चाहिये। दूसरे शब्दों में, विक्रय, लाभ, बाजार अंश, उत्पादन, शोध एवं विकास आदि सभी क्षेत्रों में उद्देश्य निर्धारित करने चाहिये।

4. **सूचनाओं का संकलन एवं विश्लेषण:**— नियोजन प्रक्रिया के इस कदम में उद्देश्यों के अनुरूप संस्था के आन्तरिक साधनों से एवं बाह्य स्रोतों से विभिन्न तथ्यों का संग्रह, विभिन्न प्रकार के सांख्यिकीय आंकड़ों का संकलन, महत्वपूर्ण सूचनाओं एवं समकों की प्राप्ति की जाती है। तत्पश्चात् उपलब्ध सूचनाओं का विस्तृत एवं गहन अध्ययन कर उनका विश्लेषण किया जाता है।

5. **नियोजन की मान्यताओं का निर्धारण:**— सभी सूचनाओं के विश्लेषण के बाद नियोजन की मान्यताएँ निर्धारित करना होता है। ये मान्यताएँ वास्तव में वे सीमाएँ हैं जिनके भीतर रहकर नियोजन करना होता है। ये मान्यताएँ/सीमाएँ कुछ आन्तरिक होती हैं तो कुछ बाह्य वातावरण से सम्बन्धित होती हैं। प्रबन्धकों की धारणा, संसाधनों की उपलब्धता, कर्मचारियों की कुशलता से आन्तरिक मान्यताएँ निर्धारित होती हैं। जबकि बाजार परिस्थितियाँ, सरकारी नीतियाँ, पूंजी बाजार की परिस्थितियाँ आदि बाह्य मान्यताओं को निर्धारित करती हैं। नियोजन करते समय इन सभी मान्यताओं को स्पष्ट कर लेना चाहिये ताकि नियोजन का क्रियान्वयन अधिक कुशलता के साथ किया जा सकेगा।

6. **विकल्पों की खोज** — सामान्यतः किसी भी कार्य को करने या उद्देश्य को प्राप्त करने के अनेक विकल्प होते हैं। यही कारण है कि कून्टज तथा ओ डोनेल ने भी लिखा है कि शायद ही कभी ऐसा नियोजन किया जाता होगा जिसका कोई विकल्प नहीं होता। अतः नियोजन को अन्तिम रूप देने से पूर्व नियोजन के विभिन्न सम्भावित विकल्पों की खोज करनी चाहिये। प्रबन्धक जितने अधिक सृजनशील होते हैं, वे उतने ही अधिक एवं अच्छे विकल्प खोज लेते हैं। विकल्प की खोज करने में उन्हें दूरदर्शिता एवं अनुभव का भी उपयोग करना चाहिए। विकल्प खोजते समय उन्हें प्राप्त सूचनाओं एवं नियोजन की मान्यताओं को भी नहीं भूलना चाहिये।

7. **विकल्पों का मूल्यांकन करना** — विविध विकल्पों की खोज के बाद उन विकल्पों का मूल्यांकन किया जाता है। विकल्पों का मूल्यांकन अनेक तथ्यों के आधार पर किया जाना चाहिये। इन तथ्यों में प्रत्येक विकल्प

पर लगने वाला निवेश, उससे प्राप्त होने वाली आय, आय प्राप्ति में लगने वाला समय, संस्था की सीमाएं, प्रत्येक विकल्प को अपनाने से होने वाले सामाजिक प्रभाव आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त, प्रत्येक विकल्प की लोचशीलता एवं व्यावहारिकता का भी मूल्यांकन करना चाहिये।

8. **सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन** – सभी विकल्पों का मूल्यांकन कर लेने के बाद प्रबन्धक किसी एक समुचित विकल्प का चयन करता है यह विकल्प विद्यमान परिस्थितियों में प्रबन्धक को सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। समुचित विकल्प केवल सैद्धान्तिक आधारों पर ही श्रेष्ठ नहीं होता है बल्कि संस्था की आवश्यकताओं, परिस्थितियों, लागतों, सुविधाओं, कठिनाइयों आदि के सन्दर्भ में भी श्रेष्ठ होना चाहिए। इतना ही नहीं, वह विकल्प संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी समुचित होना चाहिए।
9. **योजना तैयार करना** – नियोजन के इस कदम में निर्मित पहलुओं पर विस्तार से विचार किया जाता है। योजना कि क्रमिक अवस्थाओं का निर्धारण किया जाता है और प्रत्येक विभाग अथवा शाखा के प्रति माह अथवा तिमाही के लिए योजना को विभाजित किया जाता है। इस प्रकार नियोजन अपने अन्तिम रूप में तैयार होता है।
10. **सहायक योजनाओं का निर्माण** :- एक मूल योजना के निर्माण होने के पश्चात् उसे ठीक ढंग से क्रियान्वित करने के लिए अनेक सहायक या उप योजनाओं का निर्माण करना होता है। ये पूर्ण रूप से स्वतंत्र योजनाएँ न होकर मूल योजना का ही एक अंग होती हैं। इस सम्बन्ध में 'कून्टज एण्ड ओ' डोनेल के अनुसार "किसी योजना के प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन हेतु नई नीतियों एवं कार्यविधियों का विकास करने के लिए सहायक या उप कार्यक्रम अतिआवश्यक हैं।  
संस्था के निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए मूल योजना तो एक ही होती है लेकिन संस्था के अलग-अलग विभागों जैसे क्रय विभाग, विक्रय विभाग, बजट विभाग, वित्त विभाग और कर्मचारी विभाग आदि कि अलग अलग योजनाएँ होती हैं। इस प्रकार इन सभी विभागों कि योजनाएँ सहायक योजनाएँ कहलाती हैं।
11. **योजनाओं का क्रियान्वयन** – नियोजन की सफलता योजना के सफल क्रियान्वयन पर निर्भर करती है। अतः इस चरण पर प्रबन्धक यह प्रयास करता है कि योजना सफलतापूर्वक क्रियान्वित हो जाए इस हेतु उसे सम्पूर्ण विभाग का समुचित संगठन, निर्देशन एवं नियन्त्रण करना होता है। उसे सही व्यक्तियों को सभी कार्य सौंपने होते हैं। उन्हें सही नेतृत्व प्रदान करना एवं सही प्रकार से अभिप्रेरित करना पड़ता है। अन्त में उन सभी के कार्यों का समुचित नियन्त्रण करना होता है ताकि नियोजन के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।
12. **अनुवर्तन या अनुगमन** :- नियोजन के इस चरण में योजना के क्रियान्वयन का अनुवर्तन किया जाता है। इस चरण में प्रबन्धक योजना के क्रियान्वयन पर निगरानी रखता है तथा योजना के परिणामों की नियोजन के लक्ष्यों से तुलना करता है। इस प्रक्रिया में वह योजना की ही नहीं अपितु योजना के क्रियान्वयन की कठिनाईयों, समस्याओं, सीमाओं को ज्ञात करने का प्रयास करता है। इतना ही नहीं वह योजना में तत्काल किसी परिवर्तन की आवश्यकता एवं सम्भावना को भी ज्ञात करता है। यदि परिवर्तनशील परिस्थितियों में योजना में कोई परिवर्तन करना आवश्यक हो तो वह उसमें परिवर्तन भी करता है।

**प्रश्न बोध –**

**लघूरात्मक प्रश्न**

1. नियोजन से आप क्या समझते हैं?
2. अवधि के आधार पर नियोजन के प्रकार बताइयें।
3. महत्त्व के आधार पर नियोजन के प्रकार बताइयें।

**निबन्धात्मक प्रश्न**

1. नियोजन के प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. नियोजन की परिभाषा दीजिए तथा नियोजन की प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

## अध्याय - षष्ठम

### निर्णयन

#### [Decision Making]

#### अवधारणा [Concept]

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के विविध पहलुओं से सम्बन्धित अनेक निर्णय करता है। व्यावसायिक जगत में कार्य करने वाले प्रबन्धकों को भी अनेक निर्णय करने पड़ते हैं। यह प्रबन्ध के सभी कार्यों – नियोजन, संगठन, समन्वय, नियंत्रण, अभिप्रेरणा आदि के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण क्रिया होती है। प्रबन्ध का ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जिसका निष्पादन निर्णयन के बिना किया जा सकता हो। यह सम्पूर्ण व्यावसायिक गतिविधियों में इस प्रकार व्याप्त एवं प्रबन्ध प्रक्रिया में इस प्रकार रचा-बसा होता है कि इसे न तो प्रबन्ध से पृथक किया जा सकता है और न ही प्रबन्ध के अन्य कार्यों की भांति इसे एक पृथक कार्य माना जा सकता है। यदि प्रबन्ध में निर्णयन को पृथक करके देखा जाये तो प्रबन्ध अपने आप में कुछ नहीं होता। वास्तव में, प्रबन्ध एक निर्णयन प्रक्रिया ही है तथा एक ऐसे वाहन के रूप में है जिसके माध्यम से प्रबन्ध के कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

निर्णयन प्रबन्धक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। एक प्रबन्धक को संस्था के लक्ष्य एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने लिए तथा विभिन्न व्यवहारों में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए अनेक प्रकार के निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। पीटर एफ. ड्रकर ने कहा कि “एक प्रबन्धक जो कुछ भी करता है वह निर्णय द्वारा ही करता है।”

इसी प्रकार की विचारधारा आर.एस. डार्वर की भी है, इनका कहना है कि एक प्रबन्धक का जीवन एक सतत निर्णयन प्रक्रिया है। इस प्रकार एक प्रबन्धक निर्णय लेकर ही अपने कर्तव्यों का उचित ढंग से निष्पादन करता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध वह है जो यह तय करे कि क्या करना है।

प्रबन्धक को किसी समस्या का निवारण करते समय और भविष्य में इससे सावधान रहने के लिये किसी निर्णय पर पहुँचने से पूर्व वैकल्पिक समाधानों को पर्याप्त महत्व देना पड़ता है। प्रत्येक संस्था में चाहे वह छोटी हो या बड़ी कर्मचारियों, परिस्थितियों एवं वातावरण में परिवर्तन होता रहता है तथा विभिन्न प्रकार की आकस्मिक घटनाएँ घटती रहती हैं। इन बदलती हुई परिस्थितियों में व्यवसाय को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिये निर्णयन अत्यन्त आवश्यक है। अतः यह कहा जाता है कि व्यवसाय की सफलता प्रायः निर्णयन पर निर्भर करती है। इसलिये निर्णयन को प्रबन्ध की आत्मा और प्रबन्धक का एक मुख्य कार्य माना गया है।

#### अर्थ एवं परिभाषा –

निर्णयन एक मानसिक क्रिया है जिसमें किसी कार्य को करने या न करने अथवा समस्या के समाधान के लिये दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक विकल्प का चयन किया जाता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी कार्य की कार्यविधि को निश्चित किया जाता है तथा अनिश्चित स्थिति को निश्चय की स्थिति में बदल दिया जाता है। इस प्रकार किसी कार्य या समस्या के समाधान के दो या अधिक विकल्पों में से किसी भी विकल्प का चयन करना ही निर्णयन है।

#### परिभाषाएँ –

एलेन के अनुसार “निर्णयन वह कार्य है जिससे एक प्रबन्धक किसी निष्कर्ष या निर्णय पर पहुँचने के लिये करता है।”

जॉर्ज आर टेरी के अनुसार “किसी मापदण्ड के आधार पर दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक का चयन करना निर्णयन है।”

ट्रेवाथा तथा न्यूपोर्ट के अनुसार “निर्णयन में किसी समस्या का समाधान करने के लिये दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से किसी एक क्रियाविधि का चयन किया जाता है।”



## निर्णयन प्रक्रिया (Decision Making Process)

निर्णयन एक क्रमबद्ध प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के अनेक चरण होते हैं, जिन्हें क्रमबद्ध रूप से पूरा करना पड़ता है। निर्णयन विज्ञान के प्रमुख विद्वान **हरबर्ट साइमन** ने निर्णयन प्रक्रिया के प्रमुख तीन चरण बताये हैं।

- (i) अन्वेषण
- (ii) डिजाईन
- (iii) चुनाव

**स्टेनले वेन्स** ने निर्णयन प्रक्रिया में निम्न चरणों को सम्मिलित किया है।

- (i) प्रत्यक्ष ज्ञान
- (ii) विचार
- (iii) अन्वेषण
- (iv) विचार विमर्श
- (v) चुनाव
- (vi) घोषणा

**आर.एस. डार** के अनुसार निर्णयन प्रक्रिया को निम्न पाँच चरणों में विभाजित किया जा सकता है –

- (i) समस्या की व्याख्या करना।
- (ii) तथ्यों को प्राप्त करना।
- (iii) वैकल्पिक समाधानों का विकास करना।
- (iv) सर्वोत्तम समाधान का चयन करना।
- (v) निर्णय को क्रियान्वित करना।

उपरोक्त विद्वानों के विचारों के आधार पर अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से एक निर्णय प्रक्रिया के विभिन्न चरणों/कदमों/स्तरो को निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है।

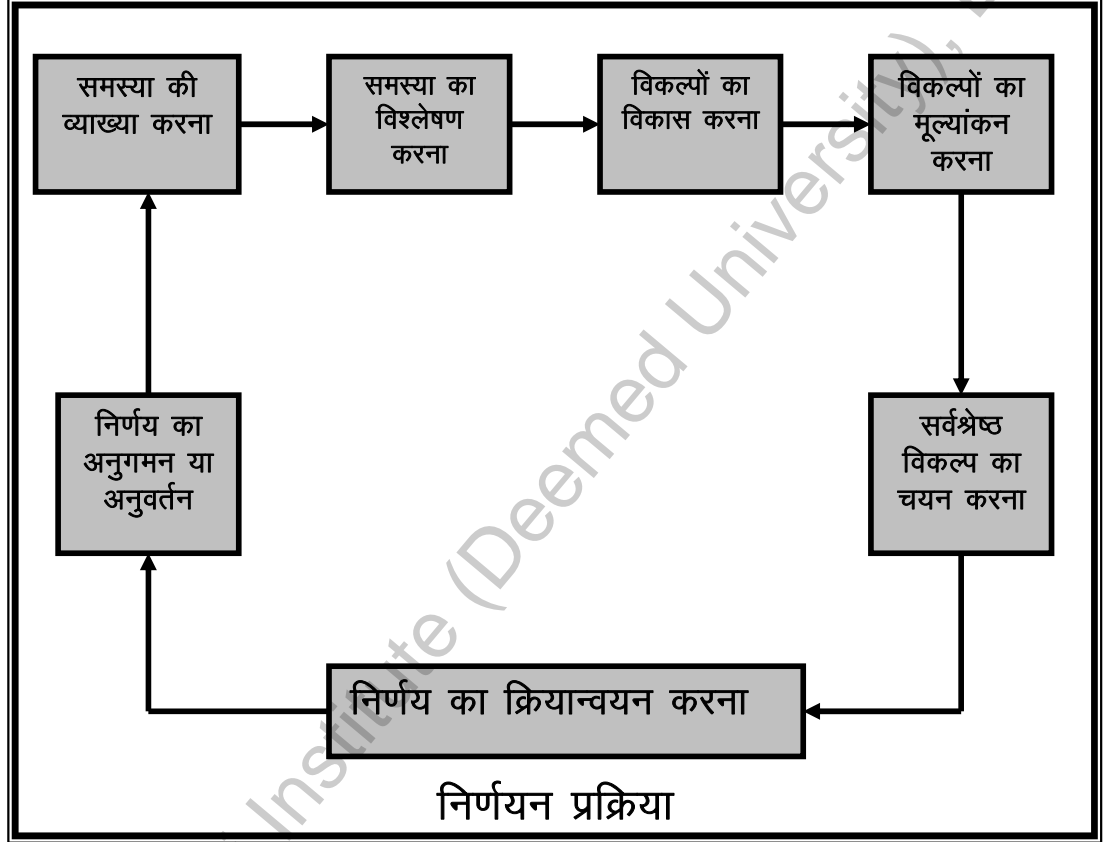
1. समस्या की व्याख्या करना –
2. समस्या का विश्लेषण करना –
3. विकल्पों का विकास करना –
4. विकल्पों का मूल्यांकन करना –
5. सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करना –
6. निर्णयन का क्रियान्वयन करना –
7. अनुवर्तन या अनुगमन करना –

**निर्णयन की इस प्रक्रिया की क्रमशः विस्तार से विवेचना इस प्रकार है –**

1. **समस्या की व्याख्या करना** – निर्णय किसी समस्या के समाधान के लिये ही लिये जाते हैं। अतः निर्णय करने से पूर्व सर्वप्रथम समस्या को ठीक से समझने का प्रयास करना चाहिए। समस्या को ठीक से समझे बिना उसके समाधान की आशा करना व्यर्थ है।

समस्या की समुचित ढंग से व्याख्या करने के लिये समस्या के सही स्वरूप को समझना आवश्यक होता है। जिस प्रकार कोई भी डॉक्टर अपने मरीज का सही ईलाज तब तक नहीं कर सकता है जब तक वह उसकी बीमारी को ठीक से समझ नहीं लेता है। ठीक उसी प्रकार एक प्रबन्धक को भी अपनी समस्या को ठीक से समझकर ही निर्णय करना चाहिए।

2. **समस्या का विश्लेषण करना** – निर्णयन प्रक्रिया में अगला कदम समस्या का विश्लेषण करना है। समस्या के विश्लेषण से तात्पर्य समस्या के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में व्यापक सूचनाएँ तथा तथ्य एकत्र करना तथा उनके प्रभावों का विश्लेषण करना। इस हेतु समस्या के विश्लेषण के लिये समस्या की प्रकृति, समस्या के प्रभाव, उसको प्रभावित करने वाले तत्व, उसकी पुनरावृत्ति की संभावना आदि के सम्बन्ध में व्यापक सूचनाएँ तथा तथ्य एकत्रित किये जाते हैं। तत्पश्चात् उनका विश्लेषण करके निष्कर्ष प्राप्त किये जाते हैं और समस्या की गम्भीरता एवं मूल कारणों को ज्ञात किया जाता है।



3. **विकल्पों का विकास करना** – जब समस्या की भली प्रकार व्याख्या एवं विश्लेषण कर लिया जाता है तो उसके समाधान के लिए विकल्पों की खोज की जाती है। विकल्पों की खोज करना भी एक श्रमसाध्य कार्य है। कई प्रबन्धक इसमें आवश्यक परिश्रम नहीं करते हैं और समस्या के समाधान के लिए कोई रेडिमेन्ट निर्णय ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं परन्तु अच्छे प्रबन्धक सदैव ही विकल्पों की खोज के लिये व्यापक प्रयास करते हैं।

विकल्पों के विकास के लिये प्रबन्धको को अपनी योग्यताओं के साथ साथ दूसरों का भी सहयोग लेना चाहिए। इसके लिये उन्हें अपने सहकर्मियों, विशेषज्ञों से व्यापक विचार विमर्श एवं समूह वार्ताएँ करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें सदैव इस बात में पूर्ण विश्वास करना चाहिए कि कार्य का कोई अन्य तरीका भी हो सकता है और हमें उनकी खोज करनी चाहिए।

4. **विकल्पों का मूल्यांकन करना** – विभिन्न विकल्पों का विकास कर लेने के बाद उनका मूल्यांकन करना भी आवश्यक हो जाता है। विकल्पों का मूल्यांकन सामान्यतः निम्नलिखित बातों एवं तथ्यों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए—

- (i) **जोखिम** – प्रत्येक विकल्प में पायी जाने वाली जोखिम पर विचार करना चाहिए। सभी विकल्पों में समान जोखिम नहीं पायी जाती है। अतः सभी विकल्पों की तुलनात्मक जोखिमों का अध्ययन करना चाहिए।
- (ii) **लागत या मितव्ययता** – विकल्पों का मूल्यांकन करते समय विभिन्न विकल्पों की लागतों तथा प्राप्त होने वाली मितव्ययताओं पर भी ध्यान देना चाहिए।
- (iii) **समय** – प्रत्येक विकल्प को क्रियान्वित करने में लगने वाले समय का भी तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। आपातकालीन स्थितियों में निर्णय लेने के लिये समय तत्व का महत्त्व सर्वाधिक हो जाता है।
- (iv) **संसाधनों की सीमाएँ** – विकल्पों के मूल्यांकन में संसाधनों की सीमाओं को भी ध्यान में रखना चाहिए। प्रत्येक निर्णय के क्रियान्वयन में भौतिक, मानवीय एवं वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होती है तथा प्रत्येक संसाधन की सीमाएँ होती हैं।
- (v) **कानूनी सीमाएँ** – कानूनी प्रावधानों का भी विकल्पों के मूल्यांकन में ध्यान में रखना चाहिए।
- (vi) **पर्यावरण सीमा** – वातावरण पर पड़ने वाले प्रभाव को भी विकल्पों के मूल्यांकन में ध्यान में रखना चाहिए।

5. **सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन** – विभिन्न विकल्पों का मूल्यांकन करने के बाद उनमें से किसी एक सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन किया जाता है। तुलनात्मक मूल्यांकन से यह ज्ञात हो जाता है कि कौनसा विकल्प सर्वश्रेष्ठ है। जो विकल्प उद्देश्यों की पूर्ति में सर्वाधिक योगदान दे सकता है, उसी विकल्प का चयन किया जाता है। विकल्प के चयन के साथ ही निर्णय हो जाता है। किन्तु व्यवहार में सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करना आसान नहीं होता है। क्योंकि प्रत्येक विकल्प की श्रेष्ठता भी अनेक बातों एवं तथ्यों से प्रभावित होती है।

**कुन्डज एण्ड ओ डोनेल के अनुसार** 'एक प्रबन्धक को सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करते समय निम्नलिखित मापदण्डों का अनुशरण करना चाहिए—

- (i) **अनुभव** – अन्तिम निर्णयन में प्रबन्धक अपने भूतकालीन अनुभव से निर्देशित एवं प्रभावित होता है। यह अनुभव ज्ञान मार्गदर्शन में सहायक होता है। अतः प्रबन्धक को चाहिए कि वह उसे उचित महत्त्व दे।
- (ii) **परीक्षण** – सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करने के लिए उपलब्ध प्रत्येक विकल्प को व्यवहार में लागू करके उसके प्रभावों, परिणामों का अवलोकन करना चाहिए। इसके पश्चात् जो विकल्प सर्वोत्तम परिणाम देने वाला हो उसका चुनाव अंतिम निर्णय के रूप में कर लिया जाना चाहिए।
- (iii) **शोध एवं विश्लेषण** – यह मापदण्ड समस्याओं एवं उसके सम्बन्धों को गणितीय आधार पर देखता है। इसके अन्तर्गत विकल्पों का गणितीय विश्लेषण एवं अध्ययन किया जाता है।

6. **निर्णय का क्रियान्वयन करना**— किसी एक सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन कर लेने के बाद उसका क्रियान्वयन किया जाता है। निर्णयन की सफलता उसके सफलतापूर्वक क्रियान्वयन पर ही निर्भर करती है। निर्णय के सफलतापूर्वक क्रियान्वयन के लिये कर्मचारियों का सहयोग आवश्यक है। सामान्यतः निर्णयों के क्रियान्वयन के लिये प्रबन्धकों को निम्नलिखित विशेष प्रयास करने चाहिए—

- (i) कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।
- (ii) इसके लिए कर्मचारियों को निर्णयों से अवगत करवाना चाहिए।
- (iii) निर्णयों पर उनके विचार एवं सम्मति ज्ञान करनी चाहिए।

- (iv) प्रबन्धकों को निर्णयन में प्रारम्भ से ही कर्मचारियों को सहभागिता देनी चाहिए।
  - (v) कर्मचारियों की निर्णयन के क्रियान्वयन में रूचि उत्पन्न करनी चाहिए तथा उन्हें अभिप्रेरित करना चाहिए।
  - (vi) कुशल संचार व्यवस्था स्थापित करके निर्णयन के क्रियान्वयन की बाधाओं को दूर करना चाहिए।
  - (vii) निर्णय के प्रभावों को ज्ञात करने के लिए समुचित नियंत्रण व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए।
7. **अनुवर्तन या अनुगमन करना** – निर्णयन प्रक्रिया के अन्तिम चरण में प्रबन्धक को निर्णय लेने एवं उसे लागू करने हेतु उसके प्रभावों की जानकारी करनी चाहिए। निर्णय का अनुवर्तन करके ही निर्णय लेने वाले व्यक्तियों की कुशलता एवं निर्णय की व्यावहारिकता का पता लगाया जा सकता है। यदि निर्णय गलत या अव्यावहारिक है तो उसमें आवश्यक संशोधन किये जाने चाहिए। निर्णयों पर पुनः विचार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। प्रबन्धक को निर्णय के अनुवर्तन हेतु इसकी प्रतिपुष्टि की व्यवस्था भी करनी चाहिए। परिणामतः सुधारात्मक कार्यवाही करने एवं भविष्य में निर्णय लेने में सहायता मिल सकें।

## सीमित विवेकशीलता (Bounded Rationality)

निर्णयन का विवेकशीलता एवं सीमित विवेकशीलता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। निर्णयन में विवेकशीलता तो होनी चाहिए, किन्तु व्यवहार एवं वास्तविक जीवन में सम्पूर्ण विवेकशीलता से निर्णय करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। वास्तविक जीवन में तो सीमित विवेकशीलता से ही निर्णय किये जाते हैं। **प्रॉ. साईमन ने इसी स्थिति को सीमित विवेकशीलता की अवधारणा के नाम से सम्बोधित किया है।** उन्होंने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वास्तविक जीवन में सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन एवं क्रियान्वयन करना सामान्यतः असम्भव होता है। ऐसा मानवीय एवं वातावरण की सीमाओं के कारण होता है। ऐसी सीमाओं के होने से व्यवहार में केवल 'संतोषजनक निर्णय' या 'उचित निर्णय' ही लिये जा सकते हैं।

निम्नांकित स्थितियों में सम्पूर्ण विवेकशीलता से निर्णय करना असम्भव हो जाता है जिनके कारण सीमित विवेकशीलता उपयोग करते हुए संतोषजनक निर्णय ही लिये जा सकते हैं। सीमित विवेकशीलता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं –

1. **अनिश्चित भविष्य** – प्रत्येक निर्णयकर्ता जो भी निर्णय करता है। उन्हें भविष्य में ही क्रियान्वित करता है और भविष्य बहुत अनिश्चित होता है। अतः निश्चित भविष्य के लिये सम्पूर्ण विवेकशीलता से निर्णय करना बहुत कठिन ही नहीं, असम्भव भी होता है।
2. **सीमित सूचनाएँ** – विवेकपूर्ण निर्णय की एक सबसे बड़ी सीमा यह है कि एक व्यक्ति सीमित मात्रा में ही सूचनाएं प्राप्त कर सकता है और उनका विश्लेषण एवं उपयोग कर सकता है। फलस्वरूप निर्णयन सदैव विवेकपूर्ण नहीं हो पाते हैं।
3. **समस्या की अस्पष्टता** – कई निर्णयकर्ता समस्या को स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं कर पाते हैं। ऐसे में समस्या के समाधानों के लिये विवेकपूर्ण निर्णय की अपेक्षा करना ही व्यर्थ होता है।
4. **सभी विकल्पों पर विचार असम्भव** – व्यवहार में किसी भी समस्या के सभी विकल्पों को खोजना एवं उनका विश्लेषण करना एक कठिन कार्य है। फलस्वरूप सम्पूर्ण विवेकशीलता से निर्णय करने की कल्पना करना ही हास्यास्पद हो जाता है।
5. **समस्या में समाधान निहित** – कई बार समस्याओं में ही समाधान छिपा होता है। फलस्वरूप समस्या की व्याख्या से समाधान प्रकट होने लगता है। इसलिये निर्णयकर्ता नये विकल्पों का विकास एवं मूल्यांकन करने की आवश्यकता ही नहीं समझते हैं। इससे निर्णयन में विवेकशीलता का उपयोग ही नहीं हो पाता है।

6. **सूचना की किस्म** – कई बार निर्णयकर्ता निर्णयन के लिए आवश्यक सूचना की किस्म पर ध्यान नहीं देते हैं। वे आसानी से उपलब्ध होने वाले अप्रमाणित आकड़ों, तथ्यों एवं सूचनाओं का उपयोग कर लेते हैं। फलस्वरूप वे महत्वपूर्ण एवं प्रमाणित सूचनाओं का निर्णय में उपयोग करने से वंचित रह जाते हैं और निर्णय विवेकपूर्ण ढंग से नहीं हो पाते हैं।
7. **पूर्व निश्चित निर्णय** – कभी कभी कुछ प्रबन्धक निर्णयन प्रक्रिया के प्रारम्भ में ही किसी एक विकल्प का चयन कर लेते हैं। इस प्रकार निर्णय तो पहले से ही कर लेते हैं किन्तु औपचारिकता के लिए निर्णयन प्रक्रिया को पूरी करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में निर्णयन में विवेकशीलता के दर्शन ही नहीं हो पाते हैं।
8. **असफलताजनित प्रतिबद्धता**– कभी कभी पहले लिया गया कोई निर्णय असफल हो जाता है तो प्रबन्धक नया निर्णय नहीं करना चाहता है। वे पूर्ववर्ती निर्णयों को सफल बनाने के लिये अधिक प्रतिबद्धता के साथ प्रयास करते हैं एवं उसमें अधिक संसाधन लगाते हैं। ऐसा कभी कभी वे अपनी अहंकारी भावना से भी करते हैं। ऐसी स्थिति में निर्णयन में विवेक का स्थान समाप्त होने लगता है।
9. **निर्णयन परम्पराएँ एवं पूर्ववर्ती निर्णय**– कभी कभी विद्यमान निर्णयन परम्पराएँ नये विकल्पों को विकसित करने एवं विवेकपूर्ण निर्णय लेने के मार्ग में बाधा पहुँचाती हैं। इसी प्रकार कई बार पूर्ववर्ती निर्णयों को ध्यान में रखकर ही वर्तमान में निर्णय करने पड़ते हैं। परिणामस्वरूप निर्णयन में विवेकशीलता सीमित हो जाती है।
10. **भिन्न-भिन्न हित एवं दृष्टिकोण** – संस्था में अनेक व्यक्ति होते हैं जिनके हित भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे में संस्था में सभी निर्णय संस्था के सामान्य हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं किये जाते हैं। प्रत्येक निर्णयकर्ता अपने अपने हितों से प्रभावित होकर ही निर्णय करने लगता है। इसी प्रकार सभी निर्णयकर्ता संस्था की समस्याओं एवं परिस्थितियों को समान रूप से भी नहीं समझ पाते हैं। परिणामस्वरूप विभिन्न निर्णयकर्ता एक ही समस्या को अलग अलग विकल्पों से हल करना उचित समझ सकते हैं। ऐसे निर्णयों में विवेकशीलता सीमित हो जाती है।
11. **व्ययभार** – कभी कभी निर्णयन में भारी व्यय करना पड़ता है। आँकड़ों, तथ्यों एवं सूचनाओं का संग्रहण करने एवं उनसे निष्कर्ष निकालने में बहुत समय एवं धन खर्च करना पड़ता है। किन्तु सभी संस्थाएँ आवश्यक समय एवं धन खर्च करने की स्थिति में नहीं होती हैं। परिणामस्वरूप ऐसी संस्थाएँ विवेकशील निर्णयों के लिये तरस जाती हैं।
12. **यथास्थिति में विश्वास** – कुछ संस्थाएँ 'यथास्थिति' बनाये रखने में विश्वास रखती हैं। वे नये निर्णय करने एवं उनकी सफलता की जोखिम उठाने को तैयार नहीं होती हैं। कुछ संस्थाएँ नवकरणों में भी विश्वास नहीं करती हैं। इसलिये उन्हें विकल्पों के विकास एवं चयन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। अतः विवेकशीलता दर्शाने की आवश्यकता नहीं होती है।

### प्रश्न बोध—

#### लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निर्णयन की अवधारणा को समझाईये।
2. "निर्णयन प्रबन्धक का प्रमुख कार्य है।" व्याख्या कीजिए।
3. सीमित विवेकशीलता से आप क्या समझते हैं ?

#### निम्बन्धात्मक प्रश्न –

1. निर्णयन क्या है ? निर्णयन की प्रक्रिया को सविस्तार समझाईये।
2. सीमित विवेकशीलता पर एक संक्षेप में लेख लिखिए।

**SECTION – B**  
**PRINCIPLES OF BUSINESS MANAGEMENT**

**अध्याय प्रथम**  
**उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध**

**[Management by Objectives]**

प्रबन्ध शास्त्र का इतिहास यह बताता है कि किसी भी एक विद्वान को उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली का जन्मदाता नहीं कहा जा सकता है। किन्तु इस प्रणाली का वर्णन सर्वप्रथम महान प्रबन्धशास्त्री पीटर एफ ड्रकर ने सन् 1954 में अपनी पुस्तक (The Practice of management) में किया था। तत्पश्चात् अनेक शिक्षाविदों, प्रबन्धकों एवं शोधकर्ताओं ने उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध पर अपनी पुस्तकों एवं अपने लेखों में इस प्रबन्ध प्रणाली की विवेचना की है।

**आशय (Meaning) –**

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध का सामान्य अर्थ उद्देश्यों का निर्धारण करके उनके आधार पर प्रबन्ध करने से है। यह प्रबन्ध की एक ऐसी प्रणाली है जिसके अन्तर्गत प्रबन्ध का एवं अधीनस्थों द्वारा सामुहिक प्रयासों से संस्थागत, विभागीय, वैयक्तिक उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है तत्पश्चात् उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रबन्धकीय क्रियाओं का संचालन करते हैं और किये गये प्रयासों की प्रगति का सामयिक मूल्यांकन किया जाता है।

**परिभाषाएँ (Definitions)**

**पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार –** “उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक ऐसी प्रणाली है जिसमें व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक प्रबन्धक की तथा सम्पूर्ण उपक्रम दोनों की कार्यकुशलता में सुधार हेतु निगमिय, विभागीय तथा प्रत्येक प्रबन्ध के स्तर पर उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है।”

**कून्टज एण्ड ओ डोनेल के अनुसार –** उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक व्यापक प्रबन्धकीय प्रणाली है जो अनेक महत्वपूर्ण प्रबन्धकीय क्रियाओं में व्यवस्थित तरीके से एकीकरण लाता है उसे व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक उद्देश्यों की कुशलता तथा प्रभावी प्राप्ति के लिए दिशा देता है।”

**तोसी एवं करोल के अनुसार –** “उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत प्रबन्धक एवं अधीनस्थ उन क्रियाओं, लक्ष्यों, तिथियों एवं उद्देश्यों के समूह के सम्बन्ध में एकमत होते हैं जो भविष्य में अधीनस्थों की कार्य-निष्पत्ति तथा मूल्यांकन हेतु आधार स्वरूप प्रयुक्त किये जायेंगे।”

**विशेषताएँ (Characteristics of M.B.O.)**

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की परिभाषाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करने से इसमें निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं –

1. **उद्देश्य प्रधान**— उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली उद्देश्य प्रधान है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम संस्था के सामान्य उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है तत्पश्चात् उन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रत्येक मण्डल, विभाग, उपविभाग एवं कर्मचारी के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। इतना ही नहीं, उद्देश्यों का निर्धारण करते समय संस्थागत उद्देश्यों एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों में भी समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।
2. **एक दर्शन** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध, प्रबन्ध का एक दर्शन है क्योंकि इससे बाह्य नियंत्रण एवं दिशा-निर्देश को बल मिलता है और यह प्रबन्धकों तथा अधीनस्थों के मध्य एकीकरण पर जोर देता है।
3. **एक दिशा**—उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध, उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह दिशा प्रदान करते हैं कि कर्मचारियों को कैसे अभिप्रेरित किया जाये, नियोजन का निर्माण कैसे किया जाये, संगठन ढाँचा, क्रियाओं का समूह एवं अधिकारों का प्रत्यायोजन कैसे किया जाये आदि।

4. **एक साधन है** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध, व्यूहरचनात्मक नियोजन एवं नियंत्रण स्थापित करने का एक साधन है। इसका कारण यह है कि इसके आधार पर ही संस्था की आन्तरिक एवं बाह्य दशाओं को ध्यान में रखते हुए व्यूहरचना बनायी जाती है। इसके पश्चात यह देखा जाता है कि वह व्यूहरचना कहाँ तक सफल हुई है और कहाँ तक नहीं? परिणामस्वरूप किसी नई व्यूहरचना का निर्माण किया जा सकता है।
5. **प्रबन्ध प्रक्रिया है** – यह एक ऐसी प्रबन्ध प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उच्च एवं अधीनस्थ मिलकर उद्देश्यों का निर्धारण करते हैं उनकी प्राप्ति हेतु क्रियाओं या साधनों का प्रयोग करते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति, संगठन, एवं वातावरण में एकीकरण स्थापित किया जा सके।
6. **प्रबन्ध की एक प्रणाली** – यह एक ऐसी प्रणाली है जो संस्था के प्रबन्ध के प्रत्येक व्यवहार को प्रभावित करती है। इसलिए इसके अन्तर्गत उद्देश्य का निर्धारण किया जाता है, अधीनस्थों को उद्देश्यों की जानकारी देता है और उन्हें पूरा करने का दिशा निर्देश भी प्रदान किया जाता है।
7. **परिणाम-प्रधान अवधारणा** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध एक परिणाम प्रधान अवधारणा है क्योंकि इसमें क्रिया प्रधान के स्थान पर परिणामों को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। इसलिए जो क्रियाएँ परिणामों की प्राप्ति में सहयोग नहीं देती हैं, उन्हें हटा दिया जाता है। इस सम्बन्ध में **ऐलन ने कहा कि**, “उद्देश्य का अर्थ अन्तिम परिणाम है।” इसी प्रकार **कून्ट्ज एण्ड ओ’ डोनेल** ने इसे “उद्देश्य प्रबन्ध कार्यक्रम का अन्तिम बिन्दु कहा गया है।”
8. **सहभागिता**– उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध में इस बात पर जोर दिया जाता है कि उद्देश्यों का निर्धारण केवल उच्चाधिकारी ही न करे अपितु अधीनस्थों को साथ में लें। इसका कारण यह है कि उन्हीं के द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है, अन्यथा वे सहयोग नहीं करेंगे।
9. **निष्पादन मूल्यांकन** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली के अन्तर्गत न केवल सहभागिता के आधार पर उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है बल्कि इसके अन्तर्गत सामयिक कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन भी किया जाता है। इसी मूल्यांकन के आधार पर कर्मचारियों का पारिश्रमिक निर्धारित किया जाता है तथा निष्पादन में रही कमियों को भी दूर करने का प्रयास किया जाता है।
10. **समीक्षा प्रणाली का निर्धारण** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के माध्यम से समीक्षा प्रणाली का निर्धारण किया जाता है जिसमें वास्तविक परिणामों की समीक्षा निर्धारित किये गये उद्देश्यों के सन्दर्भ में की जाती है।
11. **महत्वपूर्ण कार्य-क्षेत्रों की पहचान** :- उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली के अधीन उद्देश्यों का निर्धारण करते समय महत्वपूर्ण कार्य-क्षेत्रों या परिणाम क्षेत्रों की पहचान की जाती है ये महत्वपूर्ण परिणाम-क्षेत्र ही प्राथमिक क्षेत्र होते हैं जो सम्पूर्ण संस्था की सफलता एवं विकास को प्रभावित करते हैं। तत्पश्चात् इन सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में इस प्रकार सामन्जस्य स्थापित किया जाता है ताकि वे सम्पूर्ण संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में सर्वाधिक योगदान दे सकें।
12. **व्यापक विचारधारा** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध विचारधारा एक व्यापक विचारधारा है। यह संस्था के आर्थिक एवं मानवीय दोनों ही पहलुओं को महत्व देती है। यह संस्था के आन्तरिक वातावरण के साथ-साथ बाह्य वातावरण के बीच समन्वय पर भी बल देती है।
13. **सार्वभौमिक**–उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली को व्यावसायिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सभी कार्यों में अपनाया जा सकता है। यह प्रबन्ध के सभी स्तरों पर अपनायी जा सकती है। यह छोटी एवं बड़ी सभी प्रकार की संस्थाओं में भी अपनायी जा सकती है।
14. **विकेन्द्रीकृत जवाबदेही**– उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली के अन्तर्गत जवाबदेही केन्द्रीकृत नहीं होती है बल्कि संस्था का प्रत्येक सदस्य अपने कार्यों के लिए स्वयं जवाबदेह होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक विभाग, उप-विभाग के कार्यों के लिए उनके प्रमुखों का कोई दायित्व नहीं होता है। वस्तुतः सभी विभागाध्यक्ष अपने-अपने विभागों के कार्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा उनका नियंत्रण भी करते हैं।
15. **यह एक प्रौद्योगिकी है** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के उपयोग, प्रयोग से उत्पन्न अनुभव तथा प्रबन्ध के क्षेत्र में कार्यरत विशेषज्ञों एवं परामर्शदाताओं के व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर इसका विकास ‘एक प्रौद्योगिकी के रूप में’ हुआ है।

## उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के उद्देश्य (Objectives of M.B.O)

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के प्रमुख उद्देश्य निम्नानुसार हैं –

1. प्रत्येक विभाग एवं विभाग के प्रत्येक सदस्य के सामूहिक प्रयासों से उद्देश्यों का निर्धारण करना।
2. सत्यापन योग्य एवं मापन योग्य ठोस लक्ष्यों का निर्धारण करना।
3. प्रत्येक विभाग एवं सदस्य से जुड़ी आशाओं तथा किये जाने वाले कार्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित करना।
4. अधीनस्थों एवं अधिकारियों के बीच सन्देश वाहन या सम्प्रेषण को बढ़ावा देना और सहयोग बढ़ाना।
5. प्रत्येक विभाग एवं सदस्य के कार्य निष्पादन को मापना एवं उस पर निर्णय करना।
6. व्यक्तिगत कार्य-निष्पादन एवं संस्थागत उद्देश्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनमें समन्वय स्थापित करना।
7. अधीनस्थों के बीच स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा प्रोत्साहित करना तथा उनके विकास को सुनिश्चित करना।
8. प्रत्येक सदस्य के कार्य निष्पादन का मूल्यांकन करना और उचित पारिश्रमिक एवं अन्य पारितोषिक उपलब्ध करना।
9. कर्मचारियों को अभिप्रेरित करना।
10. संस्था में नियंत्रण एवं समन्वय को सरल एवं सहज बनाना।

## उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया

### (Process of M.B.O.)

उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया उन कदमों को स्पष्ट करती है, जिनकी सहायता से उसको व्यापक प्रबन्ध के तंत्र के रूप में कुशलतापूर्वक काम में लिया जा सकता है। लेकिन इसे किसी भी संगठन में लागू करने के लिए काफी सोच समझकर पूर्व तैयारी की आवश्यकता होती है।

सामान्यतः उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रक्रिया में निहित आवश्यक कदम निम्नलिखित होते हैं –

1. **संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध के अन्तर्गत सर्वप्रथम संस्था के समग्र उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है। संस्था का सर्वोच्च प्रबन्ध संस्था के समय उद्देश्यों को निर्धारित करता है। ऐसे उद्देश्यों को निगमिय या उच्च-स्तरीय उद्देश्यों के नाम से जाना जाता है। ये उद्देश्य सामान्यतः दीर्घ अवधि के लिए होते हैं। फलतः ये व्यूहरचनात्मक प्रकृति के होते हैं।

संस्था के उद्देश्यों या निगमिय उद्देश्य निश्चित ही संस्था के दीर्घकालीन अस्तित्व एवं निरन्तर विकास को सुनिश्चित करने वाले होते हैं। अतः इन उद्देश्यों में संस्था की स्थापना तथा उसके द्वारा किसी विशेष व्यवसाय को संचालित करने के उद्देश्यों को अवश्य स्पष्ट किया जाना चाहिए।

संस्था के उद्देश्यों को निर्धारित करते समय संस्था के प्रबन्ध को अनेक पहलुओं को ध्यान में रखना चाहिए उनमें कुछ पहलू निम्नानुसार हैं–

- i. प्रबन्धन की अपनी विचारधारा,
- ii. संस्था के संसाधन,
- iii. संस्था के आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण की परिस्थितियाँ,
- iv. बाजार की विशिष्ट परिस्थितियाँ,
- v. संस्था में हित रखने वाले विभिन्न वर्गों के हित एवं उनकी अपेक्षाएँ आदि।

उद्देश्यों को निर्धारित करते समय संस्था के प्रबन्धन को अपने समक्ष उपलब्ध अवसरों एवं खड़ी जोखिमों के सन्दर्भ में अपनी शक्तियों एवं कमियों का आंकलन भी करना चाहिए।



सर्वोच्च प्रबन्ध जब संस्था के उद्देश्यों को निर्धारित कर लेता है तो भी उसे इन्हें स्थायी या अन्तिम नहीं मान लेना चाहिए। प्रबन्ध को इन उद्देश्यों को तब तक अस्थायी या अन्तरिम या प्रारम्भिक उद्देश्य ही मानना चाहिए जब तक इन उद्देश्यों में सभी स्तरों के प्रबन्धकों के उद्देश्यों को अन्तिम रूप नहीं दे दिया जाता है। दूसरे शब्दों में संस्था के उद्देश्यों को अन्तिम रूप देते समय संस्था के सभी स्तरों के प्रबन्धकों की समस्याओं उनके समक्ष उपलब्ध अवसरों, खड़ी जोखिमों तथा उनके सुझावों को भी ध्यान में रखना चाहिए। ऐसा करके ही उद्देश्यों के निर्धारण में सभी स्तरों पर सहभागिता को सुनिश्चित किया जा सकेगा।

2. **अधीनस्थों के उद्देश्यों का निर्धारण** – उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध सम्पूर्ण संस्था के विभिन्न स्तरों पर एक साथ संचालित किया जाता है। अतः संस्था के सभी अधीनस्थ स्तरों के सभी प्रबन्धकों (यथा मण्डल, विभागीय, अनुभागीय प्रबन्धकों) तथा कर्मचारियों के वैयक्तिक उद्देश्य भी निर्धारण करने होते हैं।

संस्था के प्रत्येक स्तर के अधीनस्थ प्रबन्धक या कर्मचारी के उद्देश्य निर्धारित करने के लिए उसके अधिकारी या प्रबन्धक (जिसे अधीनस्थ अपने कार्यों की रिपोर्ट देता है) को पहल करनी पड़ती है। इस हेतु प्रत्येक अधिकारी अपने निकटतम अधीनस्थों को संस्था के तथा अपने उद्देश्यों से अवगत करवाता है। तत्पश्चात् वह प्रत्येक अधीनस्थ से पृथक्-पृथक् विचार विमर्श करके यह ज्ञात करता है कि एक निश्चित समय में इन उद्देश्यों की प्राप्ति में किस प्रकार एवं कितना योगदान दे सकता है। तत्पश्चात् अधिकारी यह ज्ञात करने का प्रयास करता है कि कोई अधीनस्थ संस्था के तथा उसके (अधिकारी) उद्देश्यों में और अधिक योगदान किस प्रकार दे सकता है। फलतः वह प्रत्येक अधीनस्थ की समस्याओं एवं विचारों को समझने का प्रयास करता है। इस हेतु अधिकारी अपने अधीनस्थ से अनेक प्रकार के प्रश्न भी पूछ सकता है। प्रश्न निम्न प्रकार के हो सकते हैं –

- i. आपके अनुसार संस्था तथा विभाग के उद्देश्यों की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा क्या है ?
- ii. संस्था तथा विभाग के उद्देश्यों की प्राप्ति में किन सुविधाओं की आवश्यकता है ?
- iii. आप और अधिक एवं अच्छे परिणाम किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?
- iv. उच्च प्रबन्धन एवं मैं स्वयं संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में किस प्रकार सहायता कर सकते हैं ?

इन या ऐसे ही अन्य प्रश्नों के द्वारा अधिकारी अपने अधीनस्थों को अपने वास्तविक उद्देश्य निर्धारित करने में मदद कर सकता है। अधीनस्थों द्वारा निर्धारित उद्देश्यों पर अधिकारी एवं अधीनस्थ संयुक्त रूप से विचार करते हैं। अधिकारी उन उद्देश्यों में सुधार एवं समायोजन की आवश्यकता पर विचार करता है। अन्त में खुली चर्चा एवं आपसी सहमति से अधीनस्थों के लिए उचित उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है।

प्रत्येक अधीनस्थ के लिए निर्धारित उद्देश्य सम्पूर्ण संस्था के उद्देश्यों की सीमाओं के भीतर ही होने चाहिए तथा संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान देने वाले होने चाहिए। इतना ही नहीं, प्रत्येक अधीनस्थ प्रबन्धक/कर्मचारी के उद्देश्य अपने विभाग के अन्य सह-कर्मियों तथा अन्य विभागों के उद्देश्यों के पूरक भी होने चाहिए।

प्रत्येक अधीनस्थ प्रबन्धक/कर्मचारी के उद्देश्य स्पष्ट एवं लिखित होने चाहिए। ये मापन योग्य एवं सत्यापन योग्य भी होने चाहिए। ऐसे उद्देश्यों से अपेक्षित परिणाम स्पष्ट रूप से प्रकट होने चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रत्येक अधीनस्थ के कार्य का सही-सही मूल्यांकन सम्भव हो सकेगा। ये उद्देश्य निर्धारित एवं सीमित अवधि में पूरे करने योग्य एवं व्यावहारिक होने चाहिए।

3. **उद्देश्यों एवं संसाधनों में सन्तुलन बनाना** – स्पष्ट, मापन योग्य, सत्यापन योग्य उद्देश्यों का निर्धारण कर लेने के बाद उनका संस्था के उपलब्ध संसाधनों के बीच सन्तुलन स्थापित किया जाता है। उद्देश्यों तथा उपलब्ध पूँजी, सामग्री, मानवीय संसाधनों में प्रभावकारी सन्तुलन स्थापित करके ही उद्देश्यों को सफलतापूर्वक पूरा किया जा सकता है।

4. **उद्देश्यों का पुनः आवर्तन करना** :- उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध प्रणाली में उद्देश्यों का निर्धारण अधिकारी एवं अधीनस्थों की संयुक्त सहमति एवं परस्पर विचार-विमर्श से होता है। इस प्रक्रिया में अधिकारी अधीनस्थों से परामर्श करके उद्देश्यों का निर्धारण करते हैं। तत्पश्चात् अधीनस्थ अपने अधिकारियों के उद्देश्यों में संशोधन एवं समायोजन करते हैं। इस प्रकार संस्था के प्रत्येक स्तर के अधीनस्थ अपने से ऊपर के स्तर के अधिकारी के उद्देश्यों को निर्धारित करने में भूमिका निभाते हैं। फलतः अधीनस्थ अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रतिबद्ध हो जाते हैं।

5. **कार्य योजनाओं का विकास**— संस्था के सभी स्तरों पर उद्देश्यों का निर्धारण कर लेने के बाद उनके क्रियान्वयन की बारी आती है। इस हेतु कार्य योजनाओं का निर्माण किया जाता है।

कार्य योजनाएँ कार्य निष्पादन में मार्गदर्शन करती हैं तथा सभी कार्यों में एकरूपता बनाये रखने में सहायक होती हैं कार्य योजनाओं से निम्नांकित प्रश्नों को निर्धारित किया जा सकता है —

- i. उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कौन-कौन सी क्रियाएँ की जायेगी ?
  - ii. उन क्रियाओं में आपसी सम्बन्ध क्या होगा जिससे उनमें पूर्ण समन्वय स्थापित किया जा सके ?
  - iii. उन क्रियाओं में से प्रत्येक के निष्पादन का क्रम क्या होगा तथा वे कब प्रारम्भ की जायेंगी तथा कब पूरी हो जायेगी ?
  - iv. विभिन्न कार्यों में प्राथमिकता क्रम क्या होगा ?
  - v. अपेक्षित परिणामों के लिए उत्तरदायित्व किसका होगा ?
  - vi. विभिन्न क्रियाओं के करने में किस प्रकार के एवं कितने संसाधनों की आवश्यकता पड़ेगी ?
6. **कार्य योजनाओं का क्रियान्वयन**—उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया में अगला चरण कार्य योजनाओं के क्रियान्वयन का होता है। इस चरण में संस्था के सभी व्यक्ति कार्य योजनाओं के अनुसार अपने कार्यों को पूरा करते हैं। इस हेतु सभी लोगों को अभिप्रेरित किया जाता है तथा सभी आवश्यक संसाधनों की व्यवस्था की जाती है।
7. **विशिष्ट कार्य योजनाओं में परिवर्तन करना** — उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की सफलता के लिए विशिष्ट कार्य योजनाओं में परिवर्तन करना आवश्यक है। इसके लिए इन योजनाओं में कौनसी क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं और किस समयावधि में सम्पन्न की जाती हैं, का स्पष्ट उल्लेख किया जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक रूप से वरिष्ठ एवं अधीनस्थों के मध्य विचार विमर्श किया जाना चाहिए ताकि अधीनस्थों के समझ में आने वाली समस्याओं का समाधान किया जा सके एवं मानवीय सम्बन्धों की स्थापना की जा सके। अतः कार्य योजना का निर्माण करते समय निम्नलिखित कदम उठाने चाहिए।
- i. उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मुख्य कार्य एवं क्रियाओं का निर्धारण करना चाहिए।
  - ii. प्रमुख क्रियाओं के मध्य महत्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।
  - iii. भूमिकाओं एवं सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करना चाहिए तथा प्रत्येक कार्य के लिए अधिकारसत्ता सौंपनी चाहिए।
  - iv. प्रत्येक प्रमुख क्रिया एवं उपक्रिया के लिए समयावधि का अनुमान लगाना चाहिए एवं संसाधनों का निर्धारण करना चाहिए।
  - v. समय सीमाओं की पुनः जाँच करके कार्य योजनाओं में सुधार किया जाना चाहिए।
8. **परिणामों का मूल्यांकन करना** — उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया के अन्तिम कदम में परिणामों का मूल्यांकन करना होता है। इसके अन्तर्गत अपेक्षित परिणामों से वास्तविक परिणामों की तुलना करना, विचलनों का पता लगाना, उनका विश्लेषण करना, सुधार करने के सम्बन्धित कदम सुझाना एवं सुधारों को क्रियान्वित करना आदि कदम सम्मिलित हैं। लेकिन इन कदमों में जहाँ तक सम्भव हों कर्मचारियों को स्वतः नियन्त्रण एवं मूल्यांकन का अवसर दिया जाना चाहिए और उच्च स्तरीय प्रबन्ध को उन कारणों की खोज करने का प्रयास करना चाहिए, जिनके कारण निष्पादन निर्धारित उद्देश्य से कम रहा है। इस प्रकार की खोज अधीनस्थ कर्मचारी एवं उच्च प्रबन्धक दोनों के सहयोग से की जाती है।

**प्रश्न बोध —**

**लघुतरात्मक प्रश्न—**

1. उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध किसे कहते हैं।
2. उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की विशेषताएँ बताइयें।

**निम्बन्धात्मक प्रश्न —**

1. उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध को परिभाषित कीजिए तथा इसके उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए।
2. उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध की प्रक्रिया की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

## अध्याय—द्वितीय

### निगमीय नियोजन

#### [Corporate Planning]

#### आशय (Meaning) -

निगमीय नियोजन का अर्थ समग्र संस्था की व्यूहरचना को विकसित करने की प्रक्रिया से है। किन्तु विस्तृत अर्थ में यह एक ऐसी योजना है जो विशेष कठिन परिस्थितियों में कुछ चुने हुए उद्देश्यों को अपेक्षाकृत अधिक कुशलता से प्राप्त करने के लिए संस्था की समस्त कार्यवाहियों को दिशा प्रदान करने के लिए बनाई जाती है।

इस प्रकार निगमीय नियोजन का अर्थ प्रतिस्पर्द्धियों की नीतियों, उद्देश्यों एवं लक्ष्यों तथा क्रियाओं को ध्यान में रखकर एक एकीकृत एवं व्यापक योजना तैयार करने से है जिसमें सम्पूर्ण संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है, संस्था की शक्तियों एवं कमियों को वातावरणीय घटकों में होने वाले सम्भावित परिवर्तन को ध्यान में रखा जाता है और संसाधनों का आवण्टन किया जाता है ताकि वह अपने दीर्घकालीन उद्देश्यों की प्राप्ति कर सके।

#### परिभाषाएँ (Definitions) –

1. **डेविड हैम्पटन के अनुसार,**“ निगमीय नियोजन वह मूलभूत संसाधन नियोजन है। जिसमें संस्था को इसके वातावरण में उचित स्थान दिलाने के लिए संस्था की शक्तियों का निर्धारण एवं व्यवस्थीकरण किया जाता है।”
2. **डेविड हुसी के अनुसार,**“ निगमीय—नियोजन वह प्रक्रिया है जिसमें संस्था एवं संस्था के सभी अंगों के लिए उद्देश्यों का विकास किया जाता है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु व्यूहरचनाओं का निर्माण किया जाता है एवं यह सब कुछ संस्था की आन्तरिक बाह्य शक्तियों तथा कमजोरियों और बाह्य वातावरण के परिवर्तनों को ध्यान में रखकर किया जाता है।”
3. **एण्डरसन के अनुसार :-** “निगमीय नियोजन में भविष्योन्मुख व्यूहरचनात्मक योजनाओं का निर्माण करना तथा संचालक मण्डल द्वारा निर्धारित निगमीय नीति के ढाँचे के भीतर रहते हुए संस्था द्वारा दीर्घकाल, मध्यकाल तथा अल्पकाल में अपनाये जाने वाले उद्देश्यों की व्याख्या करना है।”

#### विशेषताएँ (Characteristics)

निगमीय नियोजन की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित है –

1. **औपचारिक प्रक्रिया** – निगमीय नियोजन एक औपचारिक प्रक्रिया है। इसका कारण यह है कि इसमें सभी उद्देश्यों का निर्धारण तथा व्यूहरचनाओं, योजनाओं एवं नीतियों का निर्माण औपचारिक प्रलेखों, तथ्यों एवं सूचनाओं के आधार पर किया जाता है।
2. **व्यवस्थित प्रक्रिया** – यह व्यवस्थित प्रक्रिया है। इसका कारण यह है कि इसकी प्रक्रिया तार्किक एवं क्रमबद्ध चरणों पूरी होती है। इस प्रक्रिया में संस्था के बाह्य एवं आन्तरिक वातावरण का विश्लेषण किया जाता है, उन्हीं के सन्दर्भ में उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है तथा व्यूहरचना एवं योजनाओं का निर्माण किया जाता है और अन्ततः उन योजनाओं पर विधिवत क्रियान्वयन में एवं अनुवर्तन किया जाता है।
3. **सतत् प्रक्रिया** – निगमीय नियोजन एक सतत् प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया संस्था के जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। संस्था के वातावरण में निरन्तर रूप से हो रहे परिवर्तनों की समीक्षा करके निगमीय नियोजन प्रक्रिया एवं योजनाओं में सतत् परिवर्तन करना पड़ता है।
4. **व्यापक एवं एकीकृत प्रक्रिया** – निगमीय नियोजन व्यापक एवं एकीकृत प्रक्रिया है। इसका कारण यह है कि इसमें नियोजन तथा सभी प्रकार की योजनाएँ सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दों में, निगमीय नियोजन

में संस्थागत, विभागीय, उपविभागीय, दीर्घकालीन, अल्पकालीन, मध्यकालीन, व्यूहरचनात्मक, परिचालन आदि सभी प्रकार का नियोजन एवं सभी योजनाएँ निगमीय नियोजन में सम्मिलित हैं।

5. **बौद्धिक प्रक्रिया** – निगमीय नियोजन प्रक्रिया एक बौद्धिक प्रक्रिया है, न कि यन्त्रीकृत प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में प्रबन्धक को अपने ज्ञान, अनुभव, चार्तुय, सूचनाओं आदि का विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग करना पड़ता है।
6. **भविष्योन्मुखी प्रक्रिया** :- सभी नियोजन भविष्योन्मुख ही होते हैं। निगमीय नियोजन भी भविष्योन्मुख ही होता है। इस प्रक्रिया में भावी घटनाओं, अवसरों, चुनौतियों, खतरों आदि का अनुमान लगाया जाता है तथा उन्हीं के अनुरूप नियोजन किया जाता है। इतना ही नहीं ऐसा नियोजन भावी चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए ही किया जाता है।
7. **विभिन्न घटकों पर आधारित**:- निगमीय नियोजन विभिन्न घटकों पर आधारित होता है। इसके लिये अनेक आन्तरिक एवं बाह्य घटकों पर विचार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसके निर्माण हेतु संस्था की शक्तियों एवं कमियों पर विचार किया जाता है इसका निर्धारण करते समय वातावरण में उपलब्ध अवसरों एवं उन अवसरों से जुड़े संकटों/खतरों को विशेष रूप से ध्यान में रखा जाता है। ऐसे नियोजन के समय देश की ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण दुनिया में हो रहे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी आदि सभी परिवर्तनों को ध्यान में रखना पड़ता है।
8. **प्रतिबद्धता का प्रगटीकरण** – निगमीय नियोजन में दो प्रमुख प्रतिबद्धता को प्रकट एवं स्वीकार किया जाता है। **प्रथम**, ऐसा नियोजन करके यह प्रतिबद्धता प्रकट की जाती है कि भविष्य में निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्य किया जायेगा तथा उन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कुछ निश्चित नीतियों, प्रक्रियाओं, नियमों आदि को अपनाया जायेगा। **द्वितीय**, इसमें संसाधनों की प्रतिबद्धता भी स्वीकार की जाती है। प्रबन्धक इस बात के लिये प्रतिबद्ध होते हैं की वे उन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आवश्यक संसाधन उपलब्ध करेंगे।
9. **पूर्वानुमानों पर आधारित** – निगमीय नियोजन पूर्वानुमानों पर आधारित नियोजन है। पूर्वानुमान करके ही भविष्य में झांका जा सकता है। इसके द्वारा भावी घटनाओं, सम्भावनाओं, चुनौतियों, खतरों, आदि का अनुमान लगाने का प्रयास किया जाता है एवं उसी के अनुसार नियोजन किया एवं क्रियान्वित किया जाता है। अतः पूर्वानुमान नियोजन का आधार है। नियोजन की सफलता के सूत्र पूर्वानुमान से ही ज्ञात किये जाते हैं।
10. **निर्णयन का समावेश**:- निगमीय नियोजन प्रक्रिया में निर्णयन प्रक्रिया का समावेश है। बिना निर्णय किये नियोजन किया ही नहीं जा सकता है। उद्देश्यों के निर्धारण के दौरान भी अनेक वैकल्पिक उद्देश्यों में से कुछ उद्देश्यों के चयन का निर्णय लेना पड़ता है ठीक इसी प्रकार उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किये जाने वाले कार्यों तथा अपनाये जाने वाली व्यूहरचनाओं, नीतियों, प्रक्रियाओं, नियमों, कार्यविधियों, संसाधनों आदि के भी अनेक विकल्पों में से श्रेष्ठतम विकल्प का चयन किया जाता है। अतः निगमीय नियोजन में निर्णय प्रक्रिया का स्वतः समावेश होता है

## निगमीय नियोजन को प्रभावित करने वाले घटक

### [Factors Affecting Corporate Planning]

निगमीय नियोजन कई घटकों से प्रभावित होता है। जिनमें से कुछ प्रमुख घटक निम्नानुसार हैं –

1. **संस्था का आकार (Size of the firm)** – संस्था का आकार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटक है जिससे निगमीय नियोजन प्रभावित होता है। बड़ी संस्था बहुत समय एवं धन लगाकर वातावरण सम्बन्धी कई घटकों का अधिक गहराई से अध्ययन कर सकती है। अतः ऐसी संस्था का नियोजन अधिक व्यवस्थित एवं व्यूहरचनात्मक होता है। किन्तु, इसके विपरीत छोटी संस्था यह सब कुछ नहीं कर पाती है। फलतः नियोजन बहुत ही व्यापक एवं व्यूहरचनात्मक नहीं बन पाता है।
2. **संस्था का स्वामित्व एवं प्रबन्ध (Ownership and Management of the firm)** – संस्था का स्वामित्व एवं प्रबन्ध भी निगमीय नियोजन को प्रभावित करता है। यदि संस्था का स्वामित्व एवं प्रबन्ध पेशेवर एवं

शिक्षित-प्रशिक्षित व्यक्तियों के हाथों में है तो निगमिय नियोजन व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक आधार पर किया जा सकेगा। ऐसी संस्था में सभी स्तरों के प्रबन्धक एवं सदस्य भाग ले सकेंगे। किन्तु, एक छोटी संस्था में ऐसा प्रायः नहीं होता है ऐसी संस्था में नियोजन अनौपचारिक रूप से ही हो पाता है। इतना ही नहीं, ऐसा नियोजन केवल स्वामी ही अपने स्तर पर कर लेते हैं।

राजकीय उपक्रमों एवं निजी क्षेत्र के उपक्रमों में भी नियोजन में भारी अन्तर पाया जाता है। राजकीय उपक्रमों में निगमिय नियोजन पूर्णतः औपचारिक एवं कभी-कभी तो कानूनी खानापूति के लिए होता है। दूसरी ओर, निजी क्षेत्र के उपक्रमों में निगमिय नियोजन औपचारिक तो हो सकता है किन्तु कानूनी प्रक्रिया पूरी करने हेतु नहीं बल्कि कुछ परिणाम प्राप्त करने के लिए होता है।

3. **प्रबन्धकीय विचारधारा (Managerial Thought)**—प्रबन्धकीय विचारधारा की छाप निगमिय नियोजन पर बहुत ही स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। निरंकुश प्रबन्धक ;नजवबतंजपब उदंहमतेद्ध स्वयं नियोजन कर लेते हैं। वे दूसरों के विचारों, सुझावों को महत्त्व नहीं देते हैं। वे समस्त निगमिय नियोजन अपने ही स्तर पर करते हैं तथा इसके सम्बन्ध में समस्त अधिकार भी उनके पास कन्द्रित रहते हैं। इनके अधीनस्थ नियोजन के अनुरूप आदेशित कार्य करने के आदी होते हैं। दूसरी ओर, प्रजातांत्रिक प्रबन्धक ;कमउवबतंजपब उदंहमतेद्ध अपने अधीनस्थों से राय, परामर्श, सुझाव लेकर, उनको साथ लेकर निगमिय नियोजन करते हैं। फलतः ये सभी लोग निगमिय नियोजन को अपना स्वयं का नियोजन मानते हैं तभी उसे मन से क्रियान्वित करते हैं।
4. **नियोजन योग्यताएँ (Planning Skills)**—संस्था में नियोजन करने वाले लोगों की योग्यताएँ भी नियोजन को प्रभावित करती हैं। जिन संस्थाओं में नियोजन कार्य कुशल, अनुभवी एवं योग्य व्यक्तियों के हाथों में है, उन संस्थाओं में अधिक प्रभावी निगमिय नियोजन सम्भव होता है। ऐसे व्यक्ति विधिवत रूप से आँकड़ों एवं तथ्यों का संकलन करते हैं, उनका वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण कर भावी घटनाओं का सही-सही पूर्वानुमान लगा पाते हैं। ऐसे व्यक्ति वातावरण के सभी घटकों के प्रभावों का आंकलन भी सही कर पाते हैं। ऐसे व्यक्ति सभी विभागीय एवं उपविभागीय योजनाओं के बीच बहुत प्रभावी समन्वय भी कर पाते हैं। फलतः उनका नियोजन बहुत ही प्रभावी एवं भविष्योन्मुख होता है। किन्तु, जहाँ योग्य नियोजनकर्ता नहीं होते हैं उनके नियोजन, उनकी योजनाओं में ऐसा कुछ नहीं होता है।
5. **उत्पादों की विविधता (Diversification of Products)** – संस्था के कार्यों एवं उत्पादों की विविधता भी निगमिय नियोजन को प्रभावित करती है। यदि कोई संस्था एक-दो उत्पादों का ही उत्पादन करती है या उसके एक-दो ही विभाग हैं तो उसका नियोजन बहुत आसानी से किया जा सकता है। स्वयं मालिक या प्रबन्धक किसी से भी व्यापक विचार-विमर्श किये बिना निगमिय नियोजन कर सकते हैं। किन्तु, जिस संस्था में कई विभाग हैं अथवा कई उत्पादों का उत्पादन किया जाता है तो उसका नियोजन भी व्यापक होगा। ऐसी संस्था में नियोजन करने से पूर्व सभी विभागों, उपविभागों, उनके प्रबन्धकों एवं अधीनस्थों से सूचनाएँ एकत्र करनी पड़ेगी तथा सुझाव लेने पड़ेंगे।
6. **व्यवसाय की जटिलता (Complexity of business)** – एक जटिल व्यवसाय वाली संस्था को एक साथ अनेक घटक प्रभावित करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक घटक से सम्बन्धित अनेक सूचनाएँ, तथ्य, आँकड़े एकत्र करने पड़ते हैं। उनसे अनेक क्रियाओं का पूर्वानुमान लगाना पड़ता है। इन सभी से बाद में सम्पूर्ण संस्था के लिए पूर्वानुमान करना पड़ता है। इस प्रकार जटिल व्यवसाय वाली संस्थाओं का निगमिय नियोजन भी जटिल होता है। विपरीत स्थिति वाली संस्थाओं का निगमिय नियोजन करना बहुत आसान हो जाता है।
7. **बाजार गतिशीलता (Market dynamics)**—जिन संस्थाओं के उत्पादों का बाजार प्रायः स्थिर होता है उनके उत्पादों की माँग का पूर्वानुमान करना अधिक आसान होता है। फलतः उनका निगमिय नियोजन बहुत ही आसानी से किया जा सकता है। किन्तु, जब किसी संस्था के उत्पादों के बाजार में भारी उच्चावचन आते रहते हों तथा उनकी माँग में घट-बढ़ होती रहती हो तो उनकी माँग का ठीक-ठीक पूर्वानुमान करना भी कठिन होता है। ऐसे में उनका सही-सही निगमिय नियोजन करना भी कठिन हो जाता है।
8. **उत्पादों की प्रकृति या प्रकार (Nature or Types of products)** – उत्पादों की प्रकृति या उत्पादों के प्रकार भी निगमिय नियोजन को प्रभावित करते हैं। यदि संस्था उपभोक्ता उत्पादों का निर्माण करती है

तो उनकी माँग का अनुमान लगाना अधिक आसान होता है क्योंकि इनकी माँग प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होती है। बाजार में प्रतिस्पर्धी एवं स्थानापन्न उत्पादों की स्थिति, उपभोक्ता की आय, रुचियों आदि में परिवर्तन को ध्यान में रखकर नियोजन करना आसान होता है। किन्तु, यदि संस्था किन्हीं औद्योगिक उत्पादों का निर्माण करती है तो उनकी माँग का अनुमान लगाना एवं उनका नियोजन करना कठिन होता है। इसका कारण यह है कि इन उत्पादों की माँग अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होती है। उपभोक्ता उत्पाद अधिक बिकने, कृषि उद्योग तथा अन्य उद्योगों की प्रगति होने पर ही औद्योगिक उत्पादों की माँग बढ़ेगी। अतः औद्योगिक उत्पादों का नियोजन करना अपेक्षाकृत कठिन होता है।

9. **आर्थिक प्रणाली एवं नीतियाँ (Economic system and policies)** – देश की आर्थिक प्रणाली तथा आर्थिक नीतियाँ निगमिय नियोजन को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। एक पूँजीवादी अथवा मिश्रित अर्थव्यवस्था में जहाँ बहुत ही लोचशील कानून एवं नीतियाँ होती हैं, वहाँ निगमिय नियोजन बहुत ही निश्चितता से किया जा सकता है। दूसरी ओर, समाजवादी या साम्यवादी अर्थव्यवस्था में ऐसा करना बहुत ही कठिन होता है।
10. **तकनीकी परिवर्तन (Technological change)** – तकनीकी/प्रौद्योगिकीय विकास एवं परिवर्तन की गति निगमिय नियोजन को प्रभावित करती है। जब इनमें परिवर्तन की गति तीव्र होती है तो निगमिय नियोजन बहुत निश्चितता से नहीं किया जा सकता है।
11. **योजना बनाने एवं क्रियान्वयन की अवधि में अन्तराल (Time lag between plan formulation and implementation)** – जब किसी योजना को बनाने एवं उसके क्रियान्वयन के बीच की अवधि का अन्तराल छोटा या साधारण होता है तो उसका निर्माण अत्यन्त ही सरल होता है। इसका कारण यह है कि योजना बनाने तथा उसके क्रियान्वयन के समय की परिस्थितियों में बहुत कम परिवर्तन होने की सम्भावना होती है। किन्तु, दूसरी ओर जब इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तराल होता है तो परिस्थितियों में भारी अन्तर आने की संभावना रहती है। अतः ऐसा निगमिय नियोजन करना बहुत चुनौतीपूर्ण हो जाता है।

### निगमिय नियोजन प्रक्रिया (Corporate Planning Process)

प्रभावी निगमिय नियोजन प्रक्रिया में सामान्यतः निम्नांकित चरण होते हैं:-

1. **उद्देश्यों का निर्धारण करना (Setting Objectives)** – निगमिय नियोजन करने हेतु प्रबन्धकों को सर्वप्रथम संस्था के उद्देश्यों को निर्धारित करना होता है। वस्तुतः प्रबन्धकों को यह तय करना चाहिये कि संस्था के अस्तित्व का मूल लक्ष्य क्या है तथा क्या करना एवं पाना चाहती है। इन उद्देश्यों की व्यापक एवं विस्तृत व्याख्या की जानी चाहिये। ऐसी व्याख्या करते समय संस्था की लाभदेयता, बाजार अंश की प्राप्ति, भावी विकास, मानव संसाधन विकास, प्रौद्योगिकीय विकास, सामाजिक दायित्व आदि पहलुओं की विवेचना होनी चाहिये। विद्यमान संस्थाओं को अपने इन सभी उद्देश्यों की समय-समय पर समीक्षा करनी चाहिये।
2. **बाह्य वातावरण का विश्लेषण (Analysis External Environment)**- निगमिय नियोजन के लिए प्रबन्धकों को अपनी संस्था के बाह्य वातावरण का विश्लेषण भी करना पड़ता है। इस विश्लेषण से वे यह ज्ञात कर सकते हैं कि वातावरण के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी, प्रौद्योगिकीय आदि घटक किस प्रकार एवं किस गति से परिवर्तित हो रहे हैं तथा उनका उनकी संस्था पर कैसा एवं कितना प्रभाव हो रहा है। इनके अतिरिक्त, इस विश्लेषण से प्रबन्धक यह भी जान सकते हैं कि संस्था के ग्राहक, प्रतिस्पर्धी संस्थाएँ, आपूर्तिकर्ता, सरकारी विभाग आदि का संस्था के प्रति कैसा व्यवहार है तथा वे इसे और सकारात्मक बनाने हेतु क्या उपाय कर सकते हैं।

प्रबन्धक वातावरण विश्लेषण करने हेतु प्रायः **वातावरण संकट तथा अवसर रूपरेखा या विवरण** तैयार करते हैं। यह रूपरेखा या विवरण यह स्पष्ट कर देता है कि वातावरण के विभिन्न घटकों का संस्था पर क्या प्रभाव हो रहा है या हो सकता है। इसी से प्रबन्धक यह भी जान सकते हैं कि संस्था को वातावरण में कौन-कौन से अवसर उपलब्ध हैं तथा उनके साथ कौन-कौन से संकट या खतरे जुड़े हुए हैं। इन सभी की जानकारी करके प्रबन्धक उचित अवसरों का लाभ उठाने हेतु आवश्यक व्यूह रचना तैयार कर सकते हैं।

3. **वैकल्पिक व्यूहरचनाओं का विकास (Developing Strategic alternatives)** – निगमीय नियोजन प्रक्रिया के इस चरण में प्रबन्धक वैकल्पिक व्यूहरचनाओं की खोज करता है तथा उनका विकास करता है। इस हेतु प्रबन्धक **स्वॉट अनालिसिस** करते हैं।  
स्वॉट अनालिसिस करने के लिए प्रबन्धक संस्था की शक्तियों एवं कमजोरियों की वातावरण में उपलब्ध अवसरों एवं संकटों से तुलना करते हैं। ऐसी तुलना करके प्रबन्धक यह ज्ञात कर सकता है कि संस्था की वर्तमान स्थिति तथा सम्भावित स्थिति में क्या अन्तर है। तत्पश्चात् उस अन्तर को दूर करने या पाटने हेतु समुचित व्यूहरचनाओं के विकल्प तैयार करता है या ढूँढता है।
4. **वैकल्पिक व्यूहरचनाओं का मूल्यांकन (Evaluation of alternative strategies)** – इस चरण में प्रबन्धक अपने द्वारा खोजी या विकसित की गई विभिन्न वैकल्पिक व्यूहरचनाओं का मूल्यांकन करता है। ऐसा मूल्यांकन निश्चित रूप से संस्था की शक्तियों एवं कमजोरियों तथा संस्था को उपलब्ध अवसरों तथा उनसे जुड़े संकटों के सन्दर्भ में ही करना चाहिये।  
विकल्पों का मूल्यांकन करते समय उत्पादों/सेवाओं के साथ-साथ प्रतिस्पर्धियों को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये। यह ध्यान रहे कि उस व्यूहरचना का कोई महत्त्व नहीं है जो किसी संस्था को अपने प्रतिस्पर्धी की तुलना में अधिक लाभकारी स्थिति में नहीं पहुँचा सके।
5. **समुचित व्यूहरचना का चयन (Choosing appropriate strategy)** – विभिन्न विकल्पों का मूल्यांकन कर लेने के बाद प्रबन्धक को किसी एक समुचित व्यूहरचना का चयन करना पड़ता है। समुचित विकल्प वही है जिससे संस्था की शक्तियों (अर्थात् संसाधनों, सुविधाओं एवं योग्यताओं) का अनुकूलतम उपयोग किया जा सके। अतः प्रबन्धक को समुचित विकल्प का चयन करते समय संस्था के संसाधनों, सुविधाओं, परिस्थितियों, जोखिम उठाने की क्षमताओं, प्रबन्धकीय नीतियों, उपलब्ध समय, अतिरिक्त संसाधन जुटाने की क्षमताओं आदि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिये।
6. **संसाधनों एवं संरचना का प्रबन्ध-(Management of Resources and structure)-** निगमीय नियोजन की प्रक्रिया के इस कदम में संचालकीय पहलू आ जाता है। इसलिए इसमें व्यूहरचना को क्रियान्वित करने के लिए सामान्य नीतियों, नियमों, कार्य पद्धतियों का निर्धारण किया जाता है, संसाधनों का आवंटन किया जाता है और व्यवस्थित रूप में इन्हें जुटाया जाता है।
7. **व्यूहरचना का क्रियान्वयन (Implementation of the strategy)** – व्यूहरचना का चयन कर लेने के बाद प्रबन्धक को उसे क्रियान्वित करना पड़ता है। इस हेतु चयनित व्यूहरचना को संस्था के दैनिक कार्य-कलापों में स्थान देना चाहिये। इस हेतु आवश्यक कार्यक्रम, बजट आदि भी तैयार करना चाहिये।  
व्यूहरचनात्मक नियोजन के क्रियान्वयन हेतु तीन कदम उठाये जाते हैं— व्यूहरचना के लिए निर्धारित उद्देश्यों को अल्पकालीन वार्षिक लक्ष्यों में परिवर्तन करना, विपणन, उत्पादन, कर्मचारी शोध एवं विकास आदि क्षेत्रों में लक्ष्यों का विकास करना और विभिन्न विभागों तथा कर्मचारियों की नीतियों का सम्प्रेषण करना आदि।
8. **व्यूहरचना का अनुवर्तन (Follow up of the strategy)** व्यूहरचना का क्रियान्वयन करने के दौरान प्रबन्धक को सदैव सचेत रहना चाहिये। उसे उस व्यूहरचना के क्रियान्वयन की प्रगति पर ही नहीं बल्कि उस दौरान आने वाली कठिनाइयों को भी ध्यान में रखना चाहिये। यदि सम्भव हो तो तत्काल अन्यथा भविष्य में उन कठिनाइयों को दूर करने के उपाय करने चाहिए।

## वातावरण विश्लेषण एवं निदान

### (Environmental Analysis and Diagnosis)

प्रत्येक व्यावसायिक संस्था अपने वातावरण में ही कार्य करती है। इस सम्पूर्ण वातावरण के अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, वैधानिक, तकनीकी घटक हैं तथा अनेक सामाजिक, आर्थिक संस्थाएँ हैं। ये सभी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा प्रभावित होते हैं।

प्रबन्धकों को अपनी संस्था के वातावरण का विश्लेषण करना पड़ता है। वातावरण विश्लेषण में वातावरण के विभिन्न घटकों एवं उनकी विभिन्न शक्तियों एवं उन सबका किसी संस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना सम्मिलित है।

**विलियम एफ. गुलिक के अनुसार** “वातावरण विश्लेषण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यूहरचना प्रबन्धक अपनी संस्था के लिए अवसरों एवं चुनौतियों का निर्धारण करने हेतु आर्थिक, सामाजिक, सरकारी, पूर्तिकर्ता प्रौद्योगिक एवं बाजार दशाओं का मूल्यांकन करते हैं।”

इस प्रकार वातावरण विश्लेषण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत वातावरण में किसी संस्था के लिए उपलब्ध अवसरों एवं व्याप्त संकटों को जाना एवं समझा जाता है। इस हेतु वातावरण के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों, सूचनाओं, आँकड़ों आदि का संकलन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जाता है और उनके अनुरूप अपनी व्यूहरचनाओं तथा उद्देश्यों का समायोजन किया जाता है।

### वातावरण विश्लेषण की विशेषताएँ

वातावरण विश्लेषण की विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

1. यह एक व्यापक तथा सतत प्रक्रिया है जिसमें समग्र रूप में निरन्तर वातावरण का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता है, न कि कुछ वातावरणीय घटकों का यदा-कदम सूक्ष्म परीक्षण।
2. यह एक अन्तर्ज्ञानयुक्त तथा विदोहक प्रक्रिया है।
3. इसमें संस्था की व्यूहरचनाओं तथा उद्देश्यों का समायोजन किया जाता है।
4. **कोटलर के अनुसार**, यह ‘अवसर तथा धमकी विश्लेषण है’ अर्थात् एक प्रबन्धक को वातावरण यह अवसर देता है कि अभी परिस्थितियाँ अच्छी हैं, तुरन्त निर्णय ले लिया जाये, क्रियान्वयन कर लिया जाये तो लाभ होगा। इसके विपरीत वातावरण यह धमकी देता है कि परिस्थितियाँ ठीक नहीं हैं, निर्णय न ले अन्यथा हानि हो जायेगी।
5. प्रबन्धक वातावरण विश्लेषण द्वारा अवसर ढूँढकर अपना लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है।

### वातावरण विश्लेषण की आवश्यकता एवं महत्त्व

#### (Need and Importance of Environment Analysis)

एक व्यावसायिक संस्था के प्रबन्धक के लिए वातावरण विश्लेषण का निरन्तर अध्ययन एवं मूल्यांकन करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में **विलियम एफ. गुलिक ने कहा कि**, “प्रबन्धक के लिए वातावरण विश्लेषण की आवश्यकता इसलिए होती है कि वह यह ज्ञात कर सके कि वातावरण के कौन-से घटक प्रबन्धक की वर्तमान व्यूहरचना एवं प्राप्त किये जाने वाले उद्देश्यों के लिए धमकी उपस्थित कर रहे हैं एवं वातावरण के कौन-से घटक अवसर प्रस्तुत कर रहे हैं जो वर्तमान व्यूहरचना में आवश्यक समायोजन के साथ प्राप्त किये जा रहे हैं।”

वातावरण विश्लेषण की आवश्यकता एवं महत्त्व निम्नानुसार है —

1. **संस्था की सफलता (Success of Institution)** – वातावरण विश्लेषण में उसके घटक के दूरगामी सुप्रभावों एवं दुष्प्रभावों का मूल्यांकन किया जाता है। परिणामस्वरूप विशेष जानकारी मिलने पर प्रबन्धक उसके प्रति सचेत हो जाते हैं और अपने निर्णय को उसमें समायोजित करने का प्रयास करते हैं। इससे संस्था की सफलता देखी जा सकती है।
2. **योजना का निर्माण (Formation of Plan)** – वातावरण विश्लेषण का अध्ययन कर प्रबन्धक, व्यावहारिक एवं कार्यात्मक योजना का निर्माण कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक सफल योजना का निर्माण भी कर सकते हैं।
3. **सुदृढ़ उपायों का निर्माण (Creates Sound Measures)** – वातावरण विश्लेषण के माध्यम से प्रतिस्पर्द्धियों की व्यूहरचनाओं के विरुद्ध उपायों का निर्माण कर सकते हैं एवं आवश्यक हो तो प्रति-व्यूहरचनाओं को अपना सकते हैं।



4. **सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन (Selection of Best Alternatives)** – वातावरण विश्लेषण में भावी अवसरों, चुनौतियों एवं धमकियों को मध्यनजर रखते हुए उपलब्ध विकल्पों की मात्रा को सीमित कर असंगत विकल्पों को हटाने में सहायता करते हैं। परिणामस्वरूप सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन सम्भव होता है।
5. **व्यावसायिक लाभ के अवसरों का उपयोग (Use of Business Profit Opportunities)** – वातावरण विश्लेषण प्रबन्धकों को व्यावसायिक लाभ उठाने के उनके अवसरों की जानकारी देता है, उन्हें सजग रहने के लिए सचेत करता है, अनुकूलतम अवसरों का लाभ उठाने का मौका देता है और भावी चुनौतियों एवं खतरों के प्रति सजग करता है।
6. **उत्पादों की बिक्री सम्भावनाओं को स्थायी रूप देना (To Stable of Sales Possibilities of Products)** – वातावरण विश्लेषण में प्रतिस्पर्द्धियों के उत्पादों, उत्पादन प्रक्रिया एवं विधि, बाजार, व्यूहरचना, विक्रय विधियाँ एवं उत्पाद लागतों का अध्ययन किया जाता है। इसके प्रश्चात् उनका विश्लेषण उत्पाद की बिक्री सम्भावनाओं को स्थायी बनाया जा सकता है।
7. **बाजार का नेतृत्व (Market Leadership)** – वातावरण विश्लेषण की आवश्यकता एवं महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि इससे बाजार में उपलब्ध नये उत्पाद, नई सेवाएँ, फैशन, उपभोक्ता की रुचि तथा प्रतिस्पर्द्धियों के उत्पादन की नई तकनीकों आदि की जानकारी हो जाती है। ऐसी दशा में एक प्रबन्धक इनका उपयोग कर बाजार का कुशल नेतृत्व कर बिक्री बढ़ा सकता है, जिसके एवज में लाभ मिलना निश्चित है।
8. **भावी खतरों एवं चुनौतियों के प्रति सतर्क (Vigilance Towards Future Shocks ad Challenges)** – वातावरण विश्लेषण प्रबन्धकों को अनेक खतरों एवं चुनौतियों को जानकारी ही नहीं देते हैं, अपितु उन्हें सतर्क भी करते हैं। इस सम्बन्ध में गुलिक ने कहा कि, “निगमीय संस्था का उच्च प्रबन्ध एवं उसका नियोजन विभाग इस बात पर सतत् नजर रखता है कि बाजार में क्या हो रहा है एवं संस्था में कौन-कौन से खतरे तथा अवसर उनकी प्रतिक्रिया कर रहे हैं।”
9. **स्थायी अस्तित्व (Perpetual Existence)** – एक प्रबन्धक को अपनी संस्था के स्थायी अस्तित्व हेतु वातावरण विश्लेषण करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि वह वातावरण एवं इसके घटकों को ध्यान में रखते हुए व्यूहरचना तथा उद्देश्यों में आवश्यक समायोजन करता है।

## वातावरण विश्लेषण को प्रभावित करने वाले घटक (Factors Affecting Environment Analysis)

वातावरण विश्लेषण को अनेक घटक प्रभावित करते हैं उनमें से प्रमुख घटक अग्रलिखित हैं—

1. **संस्था का आकार** – संस्था का आकार वातावरण विश्लेषण के रूप एवं विधियों सभी को प्रभावित करता है। बड़ी संस्था बड़े-बड़े उपक्रम एवं बड़ी जोखिमोयुक्त परियोजनाएँ संचालित करते हैं। फलतः उनके कार्यों को वातावरण के अनेक घटक एक साथ प्रभावित करते हैं। उन्हें उन सभी घटकों को समझना एवं समुचित प्रत्युत्तर देना आवश्यक होता है। किन्तु, छोटी संस्थाओं के साथ ऐसी कोई गम्भीर स्थिति नहीं होती है।
2. **संस्था की प्रकृति** – वातावरण का विश्लेषण संस्था की वर्तमान एवं भावी क्रियाओं से भी प्रभावित होता है। जिन संस्थाओं का कार्य साधारण प्रकृति का है और वे उसको विस्तार देना भी नहीं चाहती हैं उन्हें अपने वातावरण के विश्लेषण में कोई विशेष कठिनाई नहीं आती है। इसके विपरीत जिनका व्यवसाय एवं उत्पाद जटिल होता है, उन्हें अपने वातावरण के विश्लेषण एवं निदान में बहुत कठिनाइयाँ आती हैं।
3. **संस्था की आयु** – एक पुरानी संस्था का व्यवसाय जमा हुआ होता है, उसमें प्रबन्धक एवं कर्मचारी भी अनुभवी होते हैं। फलतः उन्हें अपने वातावरण का विश्लेषण करने एवं उसे समझने में कोई विशेष असुविधा नहीं होती है। इसके विपरीत, किसी नयी संस्था को अपने वातावरण का अध्ययन एवं विश्लेषण करने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। उन्हें बहुत ही व्यापक व्यवस्था करके वातावरण को समझना होता है।

4. **भौगोलिक कार्य-क्षेत्र** – संस्था का भौगोलिक कार्य-क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होता है, वातावरण के अध्ययन एवं विश्लेषण में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्हें तो राष्ट्रीय ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का भी अध्ययन करना पड़ता है। किन्तु, एक छोटी एवं स्थानीय संस्था को ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता है। उसके सामने वातावरण की चुनौतियाँ भी सीमित ही होती हैं और वातावरण का विश्लेषण भी सीमित रूप में ही करना होता है।
5. **प्रबन्धकों की क्षमता**—जो प्रबन्धक पेशेवर एवं क्षमतावान होते हैं वे वातावरण के अध्ययन एवं विश्लेषण में गहरी रूचि लेते हैं। वे अपने निर्णय ऐसे अध्ययनों के निष्कर्षों के आधार पर ही करना पसन्द करते हैं। अन्यथा प्रकार के प्रबन्धक अन्य प्रकार से ही निर्णय एवं प्रबन्ध करते हैं।
6. **प्रबन्धकों की विचारधारा**—प्रबन्धकों की विचारधारा भी वातावरण विश्लेषण के क्षेत्र एवं प्रक्रिया को प्रभावित करती है। कुछ प्रबन्धक पुरातन विचारों से प्रभावित होते हैं और यह मानते हैं कि “जो होना है, होकर रहेगा।” अतः वे वातावरण विश्लेषण कर भविष्य को जानने एवं समझने का प्रयास करना ठीक नहीं समझते हैं। किन्तु, दूसरी ओर कुछ प्रबन्धक ऐसे होते हैं जो यह मानते हैं कि “हम चाहेंगे वैसा ही होगा तथा हम किसी भी बात को भगवान भरोसे नहीं छोड़ते।” ऐसे प्रबन्धक वातावरण विश्लेषण एवं अध्ययन पर बहुत ध्यान देते हैं।
7. **वातावरण की चंचलता**—वातावरण परिवर्तनशीलता को सभी स्वीकार करते हैं तथा उसकी अपेक्षा भी करते हैं। किन्तु, वातावरण की चंचलता को कोई भी सहज रूप में स्वीकार नहीं करता है। अतः जब वातावरण में बहुत अधिक चंचलता होती है तो उसका बहुत ही सावधानी से अध्ययन एवं विश्लेषण करना पड़ता है। सामान्य गति से होने वाले परिवर्तनों की स्थिति में वातावरण का विश्लेषण सहज रूप से कर लिया जाता है।
8. **संस्था का प्रभाव**—यह बहुत बड़ी सच्चाई है कि वातावरण तो सभी संस्थाओं को गम्भीर रूप से प्रभावित करता है किन्तु कोई भी संस्था सम्पूर्ण वातावरण को नगण्य रूप में ही प्रभावित करती है। किन्तु इसका एक अपवाद यह है कि एक अकेली बहुत प्रभावी संस्था भी सम्पूर्ण वातावरण को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित भी कर सकती है। अतः ऐसी बड़ी संस्था को वातावरण विश्लेषण एवं अध्ययन में बड़ी कठिनाई नहीं आती है। यह स्वयं वातावरण का निर्माण करती है तथा उसे दिशा दे सकती है। किन्तु अल्प एवं मध्यम प्रभाव वाली संस्थाओं को वातावरण की हवा के साथ चलना होता है। अतः उन्हें वातावरण के अध्ययन पर ध्यान देना ही पड़ता है।

## वातावरण के विश्लेषण एवं निदान की विधियाँ

### (Methods of Environment Analysis and Diagnosis)

वातावरण के विश्लेषण एवं निदान के सम्बन्ध में निम्नलिखित विधियों का अध्ययन किया जा सकता है –

1. **महत्त्वपूर्ण प्रश्न विश्लेषण (Critical Question Analysis)** – महत्त्वपूर्ण प्रश्न विश्लेषण से संस्था की वर्तमान स्थिति के विश्लेषण का सामान्य ढाँचे का पता लगाया जा सकेगा। इसके लिए निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विश्लेषण किया जाता है और उत्तर जाना जाता है –
  - (i) संस्था का उद्देश्य क्या है ?
  - (ii) संस्था वर्तमान में कहाँ जा रही है।
  - (iii) वर्तमान में संस्था किन-किन महत्त्वपूर्ण वातावरण सम्बन्धी घटकों से प्रभावित हैं।
  - (iv) भविष्य में संस्था के उद्देश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त करने के लिए क्या किया जा सकता है ?
2. **वातावरण का विश्लेषण एवं निदान करना (Diagnosis and Analysis of Environment)**— उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विश्लेषण करने के पश्चात् उनके निदान हेतु दो विधियों का उपयोग किया जा सकता है – (i) वातावरणीय धमकी/चुनौती एवं अवसर परिदृश्य, (ii)

शक्ति, कमजोरी, अवसर एवं धमकियाँ/चुनौतियाँ विश्लेषण। इन दोनों का संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है।

- (i) **इटोप (ETOP)** वातावरण के विश्लेषण एवं निदान हेतु यह एक ऐसी विधि है जिसमें वातावरण के विभिन्न घटकों को विभाजित कर संस्था के प्रत्येक घटक के प्रभाव का विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जाता है। फलस्वरूप प्रबन्धक यह जान जाते हैं कि संस्था को वातावरण में कौन कौन से अवसर उपलब्ध है तथा उनके साथ कौनसे संकट अथवा खतरे जुड़े हुए हैं। इससे उनको उचित अवसरों का लाभ उठाने हेतु आवश्यक व्यूहरचना तैयार करने में आसानी होती है।
  - (ii) **स्वॉट विश्लेषण (SWOT Analysis)** यह एक ऐसी विधि है जिसका उपयोग संस्था के प्रबन्धक वातावरण को समझने हेतु करते हैं। इसके अन्तर्गत प्रबन्धक संस्था की शक्तियों एवं कमजोरियों का वातावरण में उपलब्ध अवसरों एवं चुनौतियों से तुलना करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी तुलना करके ज्ञात कर लेते हैं कि संस्था की वर्तमान एवं सम्भावित स्थिति में क्या अन्तर है ताकि उन्हें दूर करने या पाटने के लिए व्यूहरचना तैयार की जा सके या ढूँढी जा सके।
3. **वातावरण का अन्दाज लगाना (Estimates Environment)** हम यह जानते हैं कि वातावरण गतिशील होता है। इसलिए यह प्रबन्धक को संस्था की व्यूहरचना तैयार करने के लिए आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, तकनीकी एवं सरकारी आदि घटकों का अध्ययन कर वातावरण का विश्लेषण एवं निदान करना चाहिए। परिणामस्वरूप वातावरण के व्यवहार एवं उन अवसरों तथा आंशकाओं का पता लगाया जा सकेगा जिनके अन्तर्गत संस्था को कार्य करना है।
  4. **अर्थपूर्ण अवसरों का ज्ञान (Knowledge of Meaningful Opportunities)** – इसमें उन अर्थपूर्ण अवसरों को जाना जा सकेगा जो कि संस्था की आन्तरिक अवस्था एवं बाह्य वातावरण के सम्बन्ध प्राप्त करने के योग्य हैं।
  5. **भेद लगाना या जासूसी करना (Spying)** – वातावरण के विश्लेषण एवं निदान की यह एक ऐसी विधि है जिसमें प्रबन्धक अन्य संस्थाओं की गोपनीय सूचनाएँ तथा रहस्यों की जानकारी लेते हैं। इसके लिए योग्य एवं कुशल प्रबन्धकों का होना आवश्यक है। लेकिन यदि संस्था चाहे तो जासूसी का कार्य किसी भी व्यक्ति से करवा सकती है, लेकिन यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह व्यक्ति कितना विश्वसनीय एवं जवाबदेही है।

## वातावरण के विश्लेषण एवं निदान की प्रक्रिया

### (Process of Environment Analysis and Diagnosis)

वातावरण के विश्लेषण एवं निदान की प्रक्रिया में निम्नलिखित कदम उठाये जाने चाहिए –

1. **घटक (Factors)** – वातावरण के अनेक घटक या तत्व – आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं सरकार आदि हैं जो बाजार की शक्तियों, संस्था की कार्यशैली एवं निष्पादन को प्रभावित करती रहती हैं।
2. **प्रभाव (Effects)** – वातावरण में अनेक खतरे, आशंकाएँ एवं चुनौतियाँ विद्यमान होती हैं जो निरन्तर संस्था पर अपना प्रभाव डालती हैं।
3. **प्रतिस्पर्धा (Competition)** – वातावरण से मिलने वाली प्रतिस्पर्धा संस्था के कार्यों में बाधा बन सकती है। अतः इस पर गहनता से विचार करना चाहिए।
4. **वातावरणीय परिवर्तन (Environmental Change)** – यह देखा गया है कि प्रतिस्पर्धी कि व्यावसायियों की क्रियाएँ एवं नीतियाँ, संस्था के उत्पादों, बिक्री एवं लाभों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती हैं। किन्तु बाजार में लाभ के ऐसे अनेक अवसर भी विद्यमान रहते हैं, जिनका उपयोग करके संस्था अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकती है।

5. **मूल्यांकन (Evaluation)** – वातावरण के विश्लेषण एवं निदान की प्रक्रिया के अन्तिम कदम में वातावरण की जाँच एवं विश्लेषण करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संस्था को अपनी शक्तियों एवं दुर्बलताओं का भी मूल्यांकन कर लेना चाहिए ताकि उन्हें वातावरण के साथ अच्छे ढंग से समायोजन किया जा सके।

## व्यूहरचना का निर्माण (Strategy Formulation)

वर्तमान समय में तीव्र प्रतिस्पर्धा में प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर अपने उत्पादों को बेचना प्रत्येक व्यवसाय का प्रमुख लक्ष्य बन गया है। बाजार के बढ़ते संघर्ष के बीच अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये व्यवसाय को एक सुदृढ़ व्यूहरचना तैयार करनी होती है।

### व्यूहरचना का आशय –

व्यूहरचना से तात्पर्य उस योजना से है जो संस्था को प्रतिस्पर्धी वातावरण में सफल बनाने के लिए बनाई जाती है। विस्तृत रूप में, व्यूहरचना का अर्थ व्यवसाय के क्षेत्र में अपने प्रतिस्पर्द्धियों को परास्त करने की विस्तृत, दीर्घकालीन एवं एकीकृत योजना से है जो व्यवसाय के व्यूहरचना लाभों को वातावरण की चुनौतियों से जोड़ती है और यह सुनिश्चित करने के लिए बनायी जाती है ताकि उचित क्रियान्वयन के द्वारा उपयोग के आधारभूत लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।

### परिभाषाएँ (Definition)

हेनरी मिन्टजबर्ग के शब्दों में, “व्यूहरचना एक शैली या योजना है जो एक संगठन के प्रमुख लक्ष्यों, नीतियों एवं कार्यवाहियों की सशक्तिशील समग्र के रूप में एकीकृत करती है।”

ग्लुएक के अनुसार, “व्यूहरचना एक व्यापक तथा एकीकृत योजना है जो यह सुनिश्चित करने हेतु बनायी गयी है कि संस्था के आधारभूत उद्देश्य प्राप्त हो जायेंगे।”

मेलविन जे. स्टानफोर्ड के मतानुसार “व्यूहरचना एक ऐसा तरीका है जिसमें प्रबन्ध कार्य के संसाधनों को उसके वातावरण के भीतर उसके उद्देश्यों तक पहुँचाने के लिए प्रयोग हेतु चुनता है। इस प्रकार व्यूहरचना में फर्म, इसके उद्देश्यों तथा वातावरण के मध्य बहु-आयामी सम्बन्ध सम्मिलित है।”

### विशेषताएँ (Characteristics)

व्यूहरचना की प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार हैं –

1. व्यूहरचना एक एकीकृत एवं समन्वित योजना है जिसका निर्माण संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया जाता है।
2. यह दीर्घकालीन योजना है जो संस्था के दीर्घकालीन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु बनायी गयी है।
3. व्यूहरचना में उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संसाधनों के आबण्टन से लेकर दैनिक क्रियाओं के निर्धारण सम्बन्धी कार्य सम्मिलित हैं।
4. व्यूहरचना में समय तत्व का उल्लेख होता है। इसमें किसी क्रिया के सम्पन्न होने में लगने वाले समय तथा उस क्रिया से परिणाम प्राप्त होने के सम्भावित समय दोनों को निर्धारित किया जाता है।
5. व्यूहरचना में वे सभी निर्णय भी सम्मिलित होते हैं जो एक समयावधि में लिये जायेंगे।
6. व्यूहरचना निर्धारण का कार्य उच्च प्रबन्धकों का है जबकि उसके क्रियान्वयन का दायित्व संस्था के सभी स्तर के सभी सदस्यों का है।
7. व्यूहरचना में वे आधारभूत नीतियाँ एवं कार्यक्रम भी सम्मिलित होते हैं जिनकी सहायता से कोई संस्था भविष्य में अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहती है।

8. व्यूहरचना के निर्माण का उद्देश्य संस्था का उसके वातावरण से प्रभावी सम्बन्ध स्थापित करना एवं उसमें सुधार करना है।
9. यह संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु भावी कार्य-पथ का निर्माण करती है।
10. व्यूहरचना संस्था की कार्यकारी योजनाओं का निर्माण करने तथा दिन-प्रतिदिन के निर्णय करने का आधार प्रस्तुत करती है।

## व्यूहरचना के उद्देश्य

### (Objectives of Strategy)

व्यूहरचना के उद्देश्य के सम्बन्ध में एन्थॉनी ने कहा कि, "व्यूहरचना, संगठन के उद्देश्यों के निर्धारण, उद्देश्यों में परिवर्तन, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त संसाधनों तथा इन संसाधनों को प्राप्त करने और विनियोग करने का फैसला करना।"

इस प्रकार व्यूहरचना का मुख्य उद्देश्य संगठनात्मक उद्देश्यों को पारिभाषित करना एवं उन्हें प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त अन्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. संस्था के लिए एकीकृत एवं समन्वित योजना बनाकर दिशा देना।
2. संसाधनों का आवंटन करना एवं सदुपयोग करना।
3. आधारभूत नीतियाँ एवं कार्यक्रम बनाना।
4. संस्था को वातावरण की चुनौतियों का मुकाबला करने योग्य बनाना।
5. संस्था का उसके वातावरण से प्रभावी सम्बन्ध स्थापित करना एवं सुधार करना।
6. संस्था के लिए भावी कार्यपथ का निर्माण करना।
7. संस्था की कार्यकारी योजनाओं का निर्माण करना एवं नैतिक निर्णय का आधार प्रस्तुत करना।
8. संस्था के दीर्घकालीन अस्तित्व एवं विकास को सुनिश्चित करना।

## व्यूहरचना निर्माण की प्रक्रिया

### (Process of Strategy Formulation)

व्यूहरचना का सम्बन्ध उपलब्ध विकल्पों में से ऐसे विशिष्ट पथ का चुनाव करना है जो कि संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में श्रेष्ठतम योगदान कर सके। इसलिए व्यूहरचना का निर्माण न केवल प्रतिस्पर्द्धी की स्थिति, बाजार की आवश्यकता, उपभोक्ता की सन्तुष्टि के स्तर एवं सम्भावित खतरों के ऊपर आदि बातें ध्यान में रखकर करना चाहिए अपितु व्यवस्थित विश्लेषण पर आधारित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त संस्था को चाहिए कि वह सभी क्षेत्रों में ऐसी व्यूहरचना करे जिससे उसे प्रत्येक स्तर पर लाभ हो।

व्यूहरचना के निर्माण में निम्नलिखित कदम उठाने चाहिए –

1. **उद्देश्य का निर्धारण करना (Determination of Objectives)** – व्यूहरचना की निर्माण – प्रक्रिया में सर्वप्रथम कदम संस्था के उद्देश्यों के निर्धारण का आता है। इसलिए प्रबन्धकों को यह निश्चित करना चाहिए कि संस्था के अस्तित्व का मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य क्या है वह क्या तो करनी चाहती है एवं क्या पाना चाहती है। अतः इन प्रश्नों के उत्तर के लिए उन्हें उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की व्यापक तथा विस्तृत व्याख्या करनी चाहिए। लेकिन ऐसा करते समय अनेक बातों पर ध्यान रखना चाहिए, जैसे – संस्था की लाभदायकता, बाजार अंश की प्राप्ति, मानव संसाधन विकास, प्रौद्योगिक विकास, सामाजिक उत्तरदायित्व एवं भावी विकास आदि।
2. **विद्यमान उद्देश्यों एवं क्रियाकलापों की समीक्षा (Review of Current Objectives)** – व्यूहरचना के निर्माण की प्रक्रिया में द्वितीय कदम में संस्था के विद्यमान उद्देश्यों तथा क्रियाओं की समीक्षा की जानी

चाहिए। इस हेतु यह विचार करना चाहिए कि संस्था द्वारा प्रदत्त उत्पाद एवं सेवाएँ, संस्था का भौगोलिक विस्तार और संस्था के उत्पादन तथा सेवाओं की श्रेष्ठता के कारण संस्था को प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति का लाभ कितना मिलना चाहिए और कितना नहीं आदि।

3. **वातावरण विश्लेषण (Environment Analysis)** – वातावरण विश्लेषण में संस्था की अच्छाइयों एवं कमियों का वातावरण के साथ इस प्रकार एकीकरण किया जाता है कि अर्थपूर्ण अवसरों का पता लगाया जा सके। अतः निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है –

- (i) संस्था की वर्तमान स्थिति में उसके आन्तरिक घटकों का विश्लेषण किया जाना चाहिए। इसके पश्चात् संस्था की सामर्थ्य, कमजोरियों अवसरों एवं आशंकाओं का पता लगाना चाहिए।
- (ii) व्यूहरचना करते समय आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं तकनीकी घटकों का विश्लेषण करना चाहिए ताकि वातावरण के व्यवहार, अवसरों एवं आशंकाओं का पता लगाया जा सकेगा जिनके अन्तर्गत संस्था को कार्य करना है।
- (iii) ऐसे अर्थपूर्ण अवसर को जानना चाहिए जो कि संस्था की आन्तरिक व्यवस्था, बाह्य एवं वातावरण के सम्बन्ध प्राप्त करने के योग्य है।

संस्था प्रबन्ध वातावरण विश्लेषण हेतु 'वातावरण संकट एवं अवसर रूपरेखा' तैयार करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वातावरण के घटकों का संस्था पर क्या प्रभाव हो रहा है या क्या हो सकता है। यही नहीं, वे यह जानने में भी सक्षम हो सकते हैं कि संस्था को वातावरण में कौन-कौन से अवसर उपलब्ध है एवं इसके साथ कौन-से संकट या खतरे जुड़े हुए हैं। इस प्रकार जानकारी प्राप्त कर प्रबन्धक अच्छी एवं व्यावहारिक व्यूहरचना तैयार कर सकेंगे और उचित अवसरों का लाभ भी उठा सकेंगे।

4. **व्यूहरचना की खोज (Search of strategy)**– व्यूहरचना की निर्माण प्रक्रिया के इस कदम के अन्तर्गत संस्था के व्यापक उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न विकल्पों के विकास करने का कार्य किया जाता है। इसके लिए दो कार्य किये जाते हैं–

- (i) व्यूहरचना निर्णय लेने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण क्षेत्रों तथा समस्याओं का पता लगाया जाता है। इससे संस्था की आशाओं एवं वास्तविकताओं में तालमेल ही स्थापित नहीं किया जा सकेगा अपितु प्रमुख क्षेत्रों का निर्धारण भी किया जा सकेगा।
- (ii) व्यूहरचना के लिए विकल्पों का विकास करने हेतु प्रबन्धक को सृजनात्मक बनाना आवश्यक है। इसके लिए अपेक्षित परिवर्तनों का पता लगाया जाता है, इनके प्रभावों का विश्लेषण किया जाता है एवं अवसरों का संस्था की क्षमताओं के साथ तालमेल बैठाकर ऐसे विकल्पों का विकास किया जा सकेगा जिनसे समस्या का निदान सम्भव हो सकेगा।

5. **व्यूहरचना का चयन (Selection of Strategy)** – व्यूहरचना के निर्माण हेतु इस कदम में विभिन्न विकल्पों में से सर्वाधिक उपयोगी विकल्प के चयन का कार्य किया जाता है। इसके लिए प्रत्येक विकल्प का उत्पाद एवं बाजार के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया जाता है। इसके लिए तथ्यात्मक एवं किस्म सम्बन्धी घटकों को आधार बनाना उपयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त इसमें ऐसे विकल्प का चयन किया जाता है जिसे व्यवहार में लाया जा सके।

6. **व्यूहरचना का क्रियान्वयन (Implementation of Strategy)** – व्यूहरचना के विचार को वास्तविकता में बदलते हुए दो कार्य किये जाते हैं।

- (i) आगत योजना बनाने के लिए साधनों एवं परिणामों में अनुकूलता लायी जाती है। इसके लिए संगठन-ढाँचे का निर्धारण, व्यक्तियों का विकास, प्रभावी सम्प्रेषण व्यवस्था, निष्पादन के मापन के आधारों को बनाने एवं साधनों के विभाजन का कार्य किया जाता है।
- (ii) व्यूहरचना के क्रियान्वयन किये जाने से उत्पन्न परिणामों की तुलना अपेक्षित परिणामों से की जाती है, विचलनों का पता लगाया जाता है और सुधार के कदम उठाये जाते हैं।

**प्रश्न बोध –**

**लघुतरात्मक प्रश्न–**

1. निगमीय नियोजन से आप क्या समझते हैं।
2. व्यूहरचना किसे कहते हैं।
3. वातावरण विश्लेषण से आप क्या समझते हैं।
4. वातावरण विश्लेषण की विशेषता बतलाईयें।

**निम्बन्धात्मक प्रश्न –**

1. निगमीय नियोजन को प्रभावित करने वाले घटकों की विवेचना कीजिए।
2. निगमीय नियोजन की प्रक्रिया का संक्षेप में विवेचन कीजिए।
3. वातावरण विश्लेषण एवं निदान की विधियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
4. व्यूहरचना निर्माण में उठाये जाने वाले कदमों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

## अध्याय – तृतीय

### संगठन [Organisation]

#### संगठन की अवधारणा (Concept of Organisation) –

संगठन प्रबन्ध का आधार है। संगठन की आवश्यकता उस समय उत्पन्न होती है जब किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति हेतु की जाने वाली क्रियाएँ अनेक हों तथा उन क्रियाओं को निष्पादित करने के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता हो। इस प्रकार संगठन का आधार निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त करना होता है। वास्तव में प्रत्येक संस्था की सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी संगठन संरचना किसी सुदृढ़ है।

संगठन, प्रबन्ध का तन्त्र है जिसके माध्यम से प्रबन्ध अपना कार्य सम्पन्न करता है। साधारणतः संगठन किसी कार्य को सम्पन्न करने हेतु कार्य एवं क्रियाओं का निर्धारण करने एवं उनको व्यक्तियों के बीच बाँटने की व्यवस्था करना है। विस्तृत अर्थ में संगठन का अभिप्राय एक ऐसी प्रबन्धकीय प्रक्रिया से है जो आवश्यक कार्य एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है, व्यक्तियों के मध्य उनका विभाजन करती है, उन्हें अधिकार एवं दायित्व सौंपती है ताकि संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।

इस प्रकार संगठन किसी वांछित उद्देश्य की पूर्ति हेतु बनाया गया व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिनका निर्माण किसी संस्था के कार्यों का निर्धारण एवं विभाजन करके साधनों में तालमेल स्थापित करने के लिए किया जाता है।

#### परिभाषाएँ (Definitions) –

**मैकफारलैण्ड के अनुसार** – “संगठन व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है जो उद्देश्यों की प्राप्ति में अपने प्रयासों का योगदान देता है।”

**उर्विक के अनुसार** – “किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए कौन-कौन सी क्रियाओं को किया जाये, इसका निर्धारण करना एवं उन क्रियाओं को व्यक्तियों के मध्य वितरण की व्यवस्था करना ही संगठन कहलाता है।”

**किम्बाल एण्ड किम्बाल के अनुसार**, “संगठन में उन सभी कर्तव्यों का समावेश किया जाता है जो विभागों एवं उनके कर्मचारियों को निर्दिष्ट करने, उनके कार्यों को परिभाषित करने तथा विभागों एवं व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों को निश्चित करने से सम्बन्धित है।”

#### विशेषताएँ (Characteristics)

संगठन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. यह व्यक्तियों का समूह है।
2. यह समूह कार्यकारी नेतृत्व के निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करता है।
3. यह प्रबन्ध का साधन एवं कार्य है।
4. इसमें निर्देशन क्षमता होती है जिससे समूह के प्रयासों को नियंत्रित किया जाता है।
5. इसमें श्रम, अधिकार एवं दायित्व के विभाजन का नियोजन किया जाता है।
6. संगठन कार्य करने वालों के आपसी सम्बन्धों का स्पष्ट करता है।
7. यह सभी व्यक्तियों के अधिकारों की सीमा को स्पष्ट करता है।
8. यह कार्यों एवं दायित्वों के स्वरूप को निर्धारित करता है।
9. यह सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है।
10. यह क्रियात्मक प्रक्रिया है।



## संगठन की प्रकृति (Nature of Organization)

संगठन की उपरोक्त अवधारणा एवं परिभाषाओं के आधार पर इसकी प्रकृति को निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है –

1. **सामान्य उद्देश्य (Common Objectives)** – संगठन सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया जाता है। इसका उद्देश्य कार्यरत व्यक्तियों के अधिकारों, कर्तव्यों एवं उद्देश्यों को स्पष्ट करना ही नहीं है, अपितु इनकी कुशलता तथा क्रमबद्धता में समन्वय भी लाना है।
2. **व्यक्तियों का समूह (Group of Individuals)**– संस्था में कार्यरत व्यक्तियों की बाहुल्यता के कारण ही संगठन का जन्म हुआ है। इसलिए संगठन को व्यक्तियों का समूह कहा गया है। यह समूह किसी अधिशासी नेतृत्व के अन्तर्गत कार्य करता है।
3. **प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य (Important Function of Management)**– प्रबन्ध के कई कार्यों में संगठन भी एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसका कारण यह है कि इसमें क्रियाओं एवं व्यक्तियों की विविधताएँ होने के बावजूद भी वह उपक्रम के उद्देश्यों तक पहुँचाता है।
4. **यह एक प्रक्रिया है (It is a Process)**– संगठन एक प्रक्रिया है क्योंकि इसमें संस्था के कार्यों का निर्धारित करने, समूहों को बाँटने, योग्य कर्मचारियों को सौंपने एवं आपसी सम्बन्धों की व्याख्या करना सम्मिलित है।
5. **यह एक पद्धति है (It is a system)** – संगठन का निर्माण कई विभागों, उप-विभागों एवं उनके बीच की क्रियाओं से होता है। इसलिए यह एक पद्धति या प्रणाली है।
6. **यह एक ढाँचा है (It is a Structure)**– संगठन एक ढाँचा है जिसमें कार्यरत कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है और उनके मध्य सम्बन्धों की संरचना की जाती है।
7. **यह एक साधन है, साध्य नहीं (It is a Means, not an End)** – संगठन एक साधन है क्योंकि इसमें उपक्रम की कार्यविधि एवं कार्यों का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया जाता है कि उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सके।
8. **यह प्रबन्ध का एक तन्त्र है (It is a Mechanism of Management)** – संगठन प्रबन्धक का एक तन्त्र है क्योंकि यह बौद्धिक है, यह संसद नहीं है और पूर्व-निर्मित भी नहीं है। यह तो प्रत्येक व्यक्तिगत व्यवसाय अथवा संस्था के लिये क्रमिक तथा अपूर्व है।
9. **सहकारी सम्बन्ध (Co-operative Relationship)** –संगठन दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य सहकारी सम्बन्ध स्थापित करने की पद्धति है। इसलिए प्रबन्धकों द्वारा संगठन के सदस्यों के साथ समतल एवं लम्बवत् दोनों प्रकार से सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं।
10. **कार्य का विभाजन (Division of Work)**-निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये जब व्यक्तियों में कार्य का विभाजन कर दिया जाता है तो वे समूह के रूप में संगठित होने की आवश्यकता महसूस करते हैं और सत्ता सम्बन्धों से बाध्य होते हैं।
11. **गतिशील वातावरण (Dynamic Environment)** – प्रत्येक संगठन वातावरण से प्रभावित होता है। यह संगठन के लिए धमकियाँ/खतरे उत्पन्न करता है और सुअवसर भी प्रदान करता है। इसलिए संगठन को वातावरण की आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य करना पड़ता है।
12. **व्यवस्थित कार्यप्रणाली (Systematic Working)**– संगठन एक व्यवस्थित कार्यप्रणाली है। इसका कारण यह है कि इसमें नीतियाँ, कार्यविधियाँ नियम एवं नियमन आदि शामिल होते हैं, जिनका विभिन्न क्रियाओं के निष्पादन में इनका पालन किया जाता है।

## संगठन की प्रक्रिया

## (Process of Organisation)

किसी भी संस्था के उद्देश्यों के निर्धारण एवं उन्हें प्राप्त करने के लिए बनायी गई योजना के पश्चात् संगठन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। संगठन की प्रक्रिया प्रत्येक स्तर के प्रबन्धक को पूरी करनी पड़ती है। इस प्रक्रिया में अनेक कदम पूरे करने होते हैं। संगठन की आदर्श प्रक्रिया में निम्नलिखित कदम होते हैं –

1. **संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण (Establishing Institutional Objectives)** –संगठन की प्रक्रिया का प्रारम्भ संस्था के उद्देश्यों के निर्धारण से ही होता है। संगठन का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं होता है किन्तु यह उद्देश्यों की प्राप्ति का एक साधन है। अतएव संस्था के उद्देश्यों का निर्धारण करना परमावश्यक है। टैरी का कहना है कि “संगठन कोई रामबाण औषधि नहीं है जिसको सभी उपक्रम में एक निश्चित मात्रा में प्रयोग किया जा सके।” संगठन का प्रयोग तो संस्था के उद्देश्यों के अनुरूप किया जा सकता है। उद्देश्य एक संगठन की आधारभूत आवश्यकता है।
2. **क्रियाओं को निर्धारण करना (Determination of Activities)** – संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की जाने वाली क्रियाओं का निर्धारण करना संगठन की प्रक्रिया का द्वितीय कदम है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रबन्धकीय एवं क्रियात्मक कार्य छोटी-छोटी क्रियाओं एवं उप-क्रियाओं में, कार्य की प्रगति, उद्देश्य एवं उनमें निहित दायित्वों को ध्यान में रखकर विभाजित किया जाता है। उदाहरणार्थ, उत्पादन, क्रय-विक्रय, वित्त विज्ञापन एवं लेखा कार्य आदि।
3. **क्रियाओं का समूहीकरण (Grouping of Activities)** –संगठन प्रक्रिया के आवश्यक कदमों में क्रियाओं का निर्धारण, वर्गीकरण करने के पश्चात् इनका श्रेणी या समूहीकरण किया जाता है। इसके लिए समान प्रकृति एवं परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं को एक श्रेणी में रखा जाता है, जैसे-विक्रय, बाजार अनुसंधान, विज्ञापन, पैकिंग, विक्रय संवर्द्धन तथा विक्रय प्रशिक्षण आदि। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं की अन्य श्रेणियाँ बनायी जा सकती है। इस प्रकार क्रियाओं का समूहीकरण करके विभिन्न विभागों एवं उप-विभागों की स्थापना की जा सकती है।
4. **कर्तव्यों की व्याख्या (Defining duties)** – क्रियाओं का समूहीकरण कर देने के बाद इन क्रियाओं को करने वाले व्यक्तियों के क्या-क्या कर्तव्य होंगे, इन कार्यों के करने वाले व्यक्तियों से संस्था क्या आशा रखती है, आदि की स्पष्ट व्याख्या करनी चाहिये।
5. **योग्य व्यक्तियों को कार्य सौंपना (Assigning work to suitable personnel)** – कार्यों की प्रकृति निश्चित हो जाने तथा उनके कर्तव्यों की व्याख्या हो जाने के बाद योग्य व्यक्तियों को कार्य पर लगाया जाता है। यदि संस्था का पुनर्संगठन किया जा रहा है तो वर्तमान कर्मचारियों की योग्यता की कार्यों के संदर्भ में तुलना की जाती है और यदि वे नये कार्यों के लिए योग्य नहीं होते हैं तो उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाता है।
6. **अधिकारों का प्रत्यायोजन (Delegation of authority)** – प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्यों के अनुरूप उसे अधिकार भी दिए जाने चाहिए। केवल कार्य सौंप दिये जाने से कार्य पूरे नहीं हो जाते हैं। कार्यों को करने के लिए अधिकारों का प्रत्यायोजन परमावश्यक है।
7. **आपसी सम्बन्धों का निर्धारण (Determining Relationships)** – संगठन की प्रक्रिया के इस कदम में विभिन्न कार्यों, क्रियाओं, विभागों, उप-विभागों, समूहों, व्यक्तियों, संस्था के उद्देश्यों एवं संसाधनों के मध्य सन्तुलन तथा सम्बन्धों को स्थापित किया जाता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण संगठन के रूप में उसके स्थान, विभाग, पदाधिकारियों के साथ स्थापित सम्बन्ध, उत्तरदायित्व, वह किसके प्रति उत्तरदायी है आदि से अवगत कराना चाहिए। फलस्वरूप उपक्रम की क्रियाओं का न केवल निर्बाध संचालन होता है अपितु आदेश की श्रृंखला या प्रबन्धकीय क्रमबद्धता का अनुसरण किया जाता है।
8. **संसाधनों का आवन्तन (Allocations of Resources)** –संगठन की प्रक्रिया के अन्तिम कदम में उपक्रम में उपलब्ध भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का आवन्तन संगठन के सभी स्तरों पर किया जाता है। फलस्वरूप संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाये।

## संगठन का महत्व

### (Significance of Organisation)

जहाँ भी सामूहिक प्रयत्नों से उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है, वहाँ संगठन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण एवं आधारभूत कार्य माना जाता है। संगठन प्रबन्ध का वह तन्त्र है जिसमें व्यवसाय का संचालन, समन्वय एवं नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। अच्छा संगठन ही अच्छे प्रबन्ध की नींव है। एलेन (Allen) का कहना है कि, "सुदृढ संगठन ही उपक्रम को सफलतापूर्वक चलाने में महान योगदान दे सकता है।"

किसी भी संस्था की सफलता सुदृढ संगठन पर ही निर्भर करती है। कुशल व प्रभावी संगठन के अभाव में न तो संस्था का संचालन कुशलतापूर्वक किया जा सकता है, न उत्पादन के विभिन्न साधनों विभागों व क्रियाओं में समन्वय स्थापित किया जा सकता है और न उपलब्ध साधनों का समुचित उपयोग ही किया जा सकता है। इस प्रकार संगठन प्रबन्ध का वह आधार स्तम्भ है जिसके द्वारा एक उपक्रम की समस्त क्रियाएँ कुशलतापूर्वक संचालित की जा सकती हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध उद्योगपति एण्ड्रयू कारनेगी ने अपनी विशाल सम्पत्ति को अमेरिका के इस्पात निगम को बेचा तब संगठन के महत्व के सम्बन्ध में कहा था कि "हमारे सारे कारखाने, हमारा व्यापार, हमारे यातायात के साधन, हमारा धन हमसे ले लीजिए, किन्तु हमारा संगठन हमारे पास छोड़ दीजिए। कुछ वर्षों में ही हम स्वयं अपने आपको पुनः स्थापित कर लेंगे।" इस प्रकार संगठन जितना सुदृढ होता है, संस्था की सफलता उतनी ही अधिक विश्वसनीय बन जाती है।

संक्षेप में, संगठन के महत्व को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

1. **योजनाओं का व्यवस्थित क्रियान्वयन (Systematic Execution of Plans)** – किसी भी बड़े व्यावसायिक उपक्रम में हजारों की संख्या में व्यक्ति कार्यरत होते हैं। सभी व्यक्ति किसी एक योजना पर तालमेल के साथ कार्य करें, इसके लिए योजना में किये जाने वाले सभी बड़े कार्य इन व्यक्तियों में उचित ढंग से आवन्तित किये जाने की आवश्यकता होती है। परिणामस्वरूप किसी कार्य का न तो दोहराव होगा और न ही कार्य छूटेगा। इसके अतिरिक्त क्रमिक रूप से किये जाने वाले कार्यों में वांछित क्रमबद्धता भी रहेगी
2. **प्रबन्धकीय कार्यक्षमता में वृद्धि (Increases in Managerial Efficiency)** – यदि संगठन की स्पष्ट व्याख्या की गयी हो, विधिवत् हो, निश्चित हो एवं प्रबन्धकों की सहायताार्थ उपयुक्त क्रियात्मक समूह उपलब्ध किया गया हो तो –
  - (i) प्रबन्ध सुचारु रूप से चलता है,
  - (ii) उपक्रम समस्त कर्मचारियों, उनकी योग्यताओं एवं गुणों का पूरा-पूरा लाभ उठाता है।
  - (iii) निम्न प्रबन्ध स्तर के लोगों में कार्य का विभाजन करके उच्च प्रबन्ध स्तर को अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने का सुअवसर प्रदान करता है,
  - (iv) किसी भी कार्य में विलम्ब नहीं होता है,
  - (v) उनके निष्पादन में दोहराव अथवा उलझने पैदा नहीं होती हैं तथा कर्मचारियों में फूट अथवा द्वेष नहीं होता है।
3. **मानवीय प्रयत्नों का अनुकूलतम उपयोग (Optimum Utilisation of Human Efforts)** – संगठन में क्रियाओं का वर्गीकरण कर दिये जाने से प्रत्येक व्यक्ति को उसके ज्ञान, कौशल एवं अनुभव के आधार पर सही पद पर नियुक्त कर दिया जाता है। विलक्षण योग्यता वाले व्यक्तियों को अपनी शक्ति एवं समय को छोटे कार्यों में अपव्यय नहीं करना पड़ता है। सही कार्य के लिए सही व्यक्ति और सही व्यक्ति के लिए सही कार्य के सिद्धान्त का अनुसरण कर विशिष्टीकरण का लाभ उठाया जा सकता है।
4. **कर्मचारियों में सहयोग की भावना (Espirit-de-Corps of Employees)** – प्रभावी संगठन कर्मचारियों में पारस्परिक सहयोग की भावना जागृत करता है क्योंकि यह व्यक्ति, व्यक्ति तथा व्यक्तियों एवं उपक्रम के मध्य मतभेदों को समाप्त करता है। इसके अतिरिक्त संगठन प्रत्येक व्यक्ति, उनके कार्यों एवं सहयोग को मान्यता भी प्रदान करता है। जिसमें व्यक्तियों में स्वामीभक्ति की भावना जागृत होती है। परिणामस्वरूप समस्त व्यक्ति सामूहिक प्रयत्नों द्वारा संस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए परस्पर सहयोग की भावना से कार्य करते हैं।
5. **प्रबन्धकों एवं विकास के क्षेत्र की उपलब्धि (Achievement of Managers and Development Sector)**—कुछ पद ऐसे भी होते हैं जिनके लिए विशेषज्ञों के बजाय सम्भाव्य ज्ञान वाले व्यक्तियों की

आवश्यक होती है। उपयुक्त संगठन प्रबन्धकों को विभिन्न कार्यों तथा पदों पर बारी-बारी से नियोजित करके उन्हें विविध प्रकार का अनुभव दिया जाता है और उन्हें प्रशिक्षित एवं विकसित किया जाता है।

6. **विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन (Encourages to Specilisation)** – संगठन संरचना का निर्माण श्रम विभाजन के आधार पर किये जाने से प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का कार्य लम्बे समय तक करने का अवसर मिलता है। परिणामस्वरूप विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। इससे व्यक्तियों की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। अधिकतम उत्पादन का मार्ग प्रशस्त होता है और प्रति इकाई लागत घटती है। इस प्रकार संगठन द्वारा “सही व्यक्ति को सही काम” की नीति सफल होती है।
7. **प्रत्यायोजन का सुगम होना (Easy of Delegation)** – कुछ प्रबन्धक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहते हैं जिन्हें उनके अधीनस्थों द्वारा किया जाना आवश्यक है। ऐसे कार्यों में अति-व्यस्तता के कारण उनके पास अपने प्रबन्ध के उत्तरदायित्वों को पूरा करने का समय ही नहीं मिलता है। ऐसी दशा में संगठन उन्हें मुक्त करता है। श्रम के उचित विभाजन, प्रभावी संगठन एवं कार्यों की स्पष्ट परिभाषा होने से वे कार्यों को अपने अधीनस्थों को सौंप देते हैं। परिणामस्वरूप अधिकारों का प्रत्यायोजन सुगम हो जाता है।
8. **समन्वय स्थापित करने में सुविधा (Facilitating in Establishment of Co-ordination)**– संगठन, समन्वय स्थापित करने में सुविधा प्रदान करता है क्योंकि वह
  - (i) विभिन्न विभागों में स्पष्ट सम्बन्धों को परिभाषित करता है,
  - (ii) संरचनात्मक सम्बन्धों द्वारा विभिन्न विभाग एवं अनुभाग, पद एवं कार्य, क्रियाएँ एवं गतिविधियाँ सूत्रबद्ध करता है,
  - (iii) संस्थान के प्रत्येक हिस्से या कार्यक्षेत्र के समक्ष सामान्य हित एवं उपक्रम के उद्देश्य सर्वोपरि रखता है,
  - (iv) विभिन्न क्रियाओं के सन्तुलित महत्त्व पर जोर देता है, और
  - (v) विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने के लिए प्रभावी सम्प्रेषण शृंखला भी प्रदान करता है।
9. **संसाधनों का अधिकतम उपयोग (Maximum Utilisation of Resources)** – प्रत्येक उपक्रम में भौतिक एवं मानवीय संसाधन सीमित होते हैं, जिनका अधिकतम उपयोग आवश्यक होता है। यह संगठन के माध्यम से ही सम्भव है क्योंकि कुशल संगठन में प्रत्येक कार्य को योग्य व्यक्ति को सौंपा जाता है, उचित समन्वय द्वारा अपव्यय को बचाया जा सकता है। परिणामस्वरूप संसाधनों का अधिकतम उपयोग होता है।
10. **मनोबल में वृद्धि (Increases in Morale)** – एक कुशल संगठन में व्यक्ति को अपनी रुचि, योग्यताओं एवं क्षमता के अनुसार कार्य दिया जाता है, उसे अपनी स्थिति, दायित्वों एवं अधिकारों का स्पष्ट ज्ञान होता है तथा समस्याओं के दौरान किन अधिकारियों से निर्देश प्राप्त करना है, भी उसे मालूम होता है। फलस्वरूप उसकी कार्य की इच्छा, सन्तुष्टि एवं मनोबल में वृद्धि होती है।
11. **सृजनशीलता को प्रोत्साहन (Encouragement to Creativity)** – एक सुदृढ़ एवं प्रभावी संगठन-संरचना, सृजनशीलता एवं नवीन विचारों को प्रोत्साहित करती है तथा अधिकारों का प्रत्यायोजन कर व्यक्तियों में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान करती है जिससे पहलपन एवं स्वतन्त्र विचारों को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त सुदृढ़ संगठन कर्मचारियों में उत्तरदायित्व की भावना भी जागृत करता है, उनकी योग्यता को मान्यता प्रदान करता है। इन सबके परिणामस्वरूप कर्मचारी अपने अधिकारों के अन्तर्गत नवीन विधियों से कार्य करने को प्रोत्साहित होते हैं।
12. **मानवीय सम्बन्धों में सुधार एवं विकास (Improvement and Development of Human Relations)** – अच्छी संगठन-संरचना कार्यों एवं साधनों का उचित आवन्टन करती है, अधिकारों एवं दायित्वों की स्पष्ट व्याख्या करती है, कुशल सम्प्रेषण सम्भव बनाती है और कर्मचारियों को उनकी रुचि के अनुसार कार्य सौंपती है। इन सबके परिणामस्वरूप संस्था में मानवीय सम्बन्ध में सुधार एवं विकास होता है।
13. **तकनीकी सुधार (Technical Improvement)**–संगठन संरचना के माध्यम से परिवर्तित ज्ञान-विज्ञान का उपयोग किया जाता है, उत्पादन प्रणालियाँ प्रयुक्त की जाती हैं, नई मशीनों का उपयोग बढ़ता जा रहा

है और वस्तुओं की किस्म को भी बदला जा रहा है। इस सम्बन्ध में ऐलन का मत है कि, "नये तकनीकी विकास संगठन-संरचना को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं और इन नये घटकों को स्थान देते हुए उच्चतम संगठन प्रारूपों की आवश्यकता है।" इस प्रकार संगठन में प्रबन्ध, संगठनात्मक संरचनाओं को गतिशील बनाये रख सकते हैं और तकनीकी परिवर्तनों का लाभ, संस्था एवं समाज को उपलब्ध करा सकते हैं।

14. **भ्रष्टाचार की समाप्ति (Eradicates Corruption)**— एक अच्छा एवं सुदृढ संगठन अपने कर्मचारियों में वैयक्तिक गुण, जैसे— परिश्रम, निष्ठा, दायित्व, भावना, सहचारिता, ईमानदारी आदि फूट-फूट कर भरने के प्रयास करता है और इन गुणों को प्रोत्साहित भी करता है, परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार एवं निष्क्रियता समाप्त हो जाती है।
15. **कार्यक्षेत्र का स्पष्ट विभाजन (Clear cut division of work-area)** — संगठन संरचना के प्रत्येक कर्मचारी एवं अधिकारी के कार्यक्षेत्र की सीमा का स्पष्ट निर्धारण हो जाता है। इससे एक-दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं हो पाता है और आपसी मधुर सम्बन्धों का निर्माण सम्भव है।
16. **कार्यकुशलता में वृद्धि (Increases Efficiency)** — निश्चित उद्देश्यों, कार्यों, दायित्वों एवं आपसी सम्बन्धों में अधिकारियों एवं कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। इससे ही अंततोगत्वा सम्पूर्ण संस्था की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।
17. **संदेशवाहन में सफलता (Facilitates Communication)**— अच्छी संगठन संरचना से पूर्व निश्चित सम्बन्धों के कारण संदेशों का आदान-प्रदान सरल हो जाता है। संदेशों के आदान-प्रदान में प्रबन्ध व्यवस्था आसान हो जाती है।
18. **कर्मचारियों के आवागमन में कमी (Decreases employees turnover)** — संगठन संरचना का एक महत्वपूर्ण लाभ यह भी है कि अच्छे संगठन में कर्मचारियों का आवागमन कम हो जाता है। निश्चित कार्यों एवं उद्देश्यों तथा वैयक्तिक मान्यता से प्रत्येक कर्मचारी खुश रहता है। अतः ऐसे कर्मचारी को संगठन सामान्यतः छोड़ता नहीं है। इससे कर्मचारियों के आवागमन में कमी हो जाती है।

**प्रश्न बोध —**

**लघुतरात्मक प्रश्न—**

1. संगठन की अवधारणा से आप क्या समझते हैं।
2. संगठन की विशेषताएँ बताइयें।
3. संगठन की प्रकृति का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

**निम्बन्धात्मक प्रश्न —**

1. संगठन की एक आदर्श प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. संगठन की परिभाषा दीजिए। संगठन के महत्त्व की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

# अध्याय चतुर्थ

## अधिकारसत्ता एवं उत्तरदायित्व

### [Authority and Responsibility]

### अधिकारसत्ता (Authority)

#### आशय (Meaning) –

अधिकारसत्ता का आशय किसी कार्य को करने अथवा दूसरों की क्रियाओं को निर्देशित करने का अधिकार है ताकि संस्था के लक्ष्यों को पूरा किया जा सके। दूसरे शब्दों में, अधिकारसत्ता, प्रबन्धकों का वह अधिकार है जिसके द्वारा वह संगठन के लक्ष्यों को निष्पादित करने हेतु अपने अधीनस्थों को आदेश देने, उनके सम्बन्ध में निर्णय लेने एवं उनका पालन करवाने के लिए बाध्य करता है।

इस प्रकार अधिकारसत्ता या प्राधिकार किसी अधिकारी का अधिकार है जिससे वह अपने अधीनस्थों को कार्य करने का आदेश दे सकता है तथा उस आदेश की अनुपालना करवा सकता है। अधिकार सामान्यतः पद में निहित होते हैं और जो व्यक्ति उस पद को स्वीकार करता है उसे उस पद के अधिकारों के उपयोग का अधिकार मिल जाता है।

#### परिभाषाएँ (Definitions)

फेयोल के अनुसार "अधिकारसत्ता आदेश देने का अधिकार तथा उसे पालन करवाने की शक्ति है।"

एच.ए. साइमन के अनुसार, "अधिकारसत्ता निर्णयन की वह शक्ति है, जो कि दूसरों की क्रियाओं को निर्देशित करती है।"

टेरी एवं फ्रेंकलिन के अनुसार, "अधिकारसत्ता दूसरों से कार्य करवाने का आदेश देने एवं उसकी अनुपालना करवाने का अधिकार है।"

#### विशेषताएँ – (Characteristics)

अधिकारसत्ता की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. **शासकीय पद एवं स्थिति**— अधिकारसत्ता, व्यक्ति के शासकीय पद एवं स्थिति से जुड़ी हुई होती है। इसलिए यह सामान्यतः ऊपर से उच्चाधिकारियों से प्राप्त होती है और निचले स्तरों से ऊपर की ओर प्रवाहित हो सकती है।
2. **अधिकार**—यह एक अधिकार है क्योंकि इसमें दूसरों को आदेश देने, दूसरों की क्रियाओं को निर्देशित करने अथवा आज्ञा का पालन करवाया जाता है। इसी प्रकार यह दूसरों से काम लेने अथवा उन्हें बदलने का अधिकार भी है।
3. **बाध्यकारी शक्ति**—अधिकारसत्ता संगठन की एक बाध्यकारी शक्ति है क्योंकि इसमें अधीनस्थों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सन्तोषप्रद निष्पादन करे अन्यथा इसके लिए उन्हें बाध्य किया जा सकता है।
4. **विषय सामग्री**—अधिकारसत्ता में निर्णय लेने, कार्य सौंपने, कार्यवाही करने, दण्ड देने अथवा पुरस्कार देने का विचार आदि सम्मिलित है।
5. **संस्थागत प्रभाव**—अधिकारसत्ता उत्तरदायित्व, प्रभाव एवं शक्ति से जुड़ी हुई है। इसलिए इसको 'संस्थागत प्रभाव' भी कहते हैं।
6. **केन्द्रीय शक्ति**—संगठनात्मक प्रबन्ध में अधिकारसत्ता एक केन्द्रीय सशक्तिशील शक्ति मानी जाती है।
7. **निर्भरता** – अधिकारसत्ता निरपेक्ष नहीं है क्योंकि यह अनेक घटकों पर निर्भर करती है।
8. **वैध शक्ति** –अधिकारसत्ता एक वैध शक्ति है। इसलिए उसे न्यायसंगत बनाती है और इसमें निर्णय को आरोपित करने के लिए पुलिस एवं न्यायालय की सहायता भी ली जा सकती है।

9. **मानवीय व्यवहार**— अधिकारसत्ता को मानवीय व्यवहार के सन्दर्भ में भी देख सकते हैं। इसका कारण यह है कि यह कोई निगूढ़ तत्त्व नहीं है, अपितु एक ऐसी चीज है जिसका विश्लेषण और अध्ययन मानव क्रियाओं में ही किया जाता है।
10. **वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिपरकता** — अधिकारसत्ता वस्तुनिष्ठ होते हैं, किन्तु उनके उपयोग के समय नहीं चाहते हुए भी व्यक्तिपरकता आ जाती है।

### अधिकारसत्ता के स्रोत (Sources of Authority)

अधिकारसत्ता का उद्गम कहाँ से होता है और यह कहाँ से प्रवाहित होती है? इसके प्रत्युत्तर में अनेक विचारकों के अपने-अपने विचार हैं, जिन्हें अधिकारसत्ता की विचारधाराएँ कहे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, जैसे औपचारिक अधिकारसत्ता विचारधारा, स्वीकृति अधिकारसत्ता विचारधारा एवं क्षमता, सत्ता विचारधारा आदि। इन विचारधाराओं के आधार पर अधिकारसत्ता के निम्नलिखित स्रोत बताये जा सकते हैं—

1. **कानून**— अधिकारसत्ता का महत्वपूर्ण स्रोत कानून है। ये वे अधिकारसत्ता होती हैं जो कि औपचारिक संगठनों की कार्यप्रणाली के अन्तर्गत एक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। अधिकारसत्ता संस्था के उच्च स्तर से प्रवाहित होती हुई निम्न स्तर पर तकनीकी पर्यवेक्षकों तक पहुँचती है। उदाहरणार्थ, संस्था के स्वामियों से संचालक मण्डल, सभापति, मुख्य प्रबन्धक, प्रबन्धक एवं पदाधिकारियों से अधिकारसत्ता प्राप्त होती है।  
संस्था के स्वामियों को अधिकारसत्ता की प्राप्ति देश के कानून के अन्तर्गत होती है और संविधान देश के सभी कानूनों का मूल स्रोत माना जा सकता है। संविधान का निर्माण, संशोधन एवं परिवर्तन देशवासियों द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी प्रजातांत्रिक देश में सर्वोच्च अधिकारसत्ता देशवासियों में रहती है।
2. **स्वीकृति** — स्वीकृति भी अधिकारसत्ता का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। इसलिए किसी प्रबन्धक की अधिकारसत्ता का अस्तित्व तब तक बना रहता है, जब तक कि उसके अधीनस्थ कर्मचारी उसको स्वीकार करते रहते हैं। एक व्यक्ति के पास औपचारिक अधिकारसत्ता हो सकती है, किन्तु यह अर्थहीन है जब तक कि अधीन उनको स्वीकार नहीं करे। **इस सम्बन्ध में टेनेनबॉम ने कहा कि** “एक व्यक्ति तभी अपने उच्चाधिकारियों को स्वीकार करेगा, जब कि उस अधिकारी की स्वीकृति से उत्पन्न होने वाला लाभ अस्वीकृति से उत्पन्न होने वाली हानि से अधिक होगा।”
3. **दक्षता**— दक्षता या क्षमता का आशय किसी विशेष क्षेत्र में उसकी कुशलता को मान्यता प्रदान करने से है। इससे उस सीमा तक दक्ष व्यक्ति को अधिकारसत्ता मिलती है, जिस सीमा तक अन्य व्यक्ति उसकी दक्षता को स्वीकार करें। यद्यपि इन्हें औपचारिक रूप से कुछ भी अधिकारसत्ता नहीं होती है, किन्तु वे अपने ज्ञान एवं दक्षता को इतना प्रभावी बना लेते हैं कि उसके परामर्श को अन्य व्यक्ति आदेश की तरह लेता है। जैसे — एक प्रबन्ध सलाहकार अपने पेशेवर योग्यता एवं दक्षता के कारण ही कम्पनी में सलाहकार के रूप में नियुक्त होता है। उसे अपने ज्ञान एवं क्षमता के आधार पर उपक्रम को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए सलाह देने की अधिकारसत्ता होती है, इसके अलावा वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियर्स एवं कलाकार आदि को ज्ञान एवं अधिकार से ही अधिकारसत्ता प्राप्त होती है।
4. **स्थिति** — स्थिति वह अधिकारसत्ता होती है जो एक व्यक्ति को किसी पद पर होने के कारण प्राप्त होती है। यदि एक व्यक्ति संगठन में प्रबन्धक के पद पर नियुक्त है तो उसे अपनी स्थिति के अनुसार सभी अधिकारसत्ता प्राप्त होती है और यह उस समय तक उसके पास रहती है जब तक उस स्थिति से सम्बन्धित रहता है।
5. **व्यक्तित्व**— व्यक्तित्व भी व्यक्तियों को अधिकारसत्ता सौंपती है। लेकिन इन्हें औपचारिक अधिकारसत्ता तो प्राप्त नहीं होती है, फिर भी उनके निर्णयों से सरकार प्रभावित होती थी, जैसे — जयप्रकाश नारायण। इसी प्रकार महात्मा गांधी एवं सुभाषचन्द्र बोस भी व्यक्तित्व के कारण ही विभिन्न अधिकारसत्ता प्राप्त कर लेते थे अथवा अपने विचारों से दूसरों की क्रियाओं को प्रभावित करते थे।
6. **व्यक्तिगत पसन्द**— व्यक्तिगत पसन्द अधिकारसत्ता का प्रतीक होता है। यह मानव की प्रकृति होती है कि वह किसी व्यक्ति को अन्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है और उसके सम्मान के साथ-साथ उसके

विचारों का आदर भी करता है। इस प्रकार जिस व्यक्ति को पसन्द किया जाता है, उसे अनौपचारिक रूप से कुछ अधिकारसत्ता की प्राप्ति हो जाती है।

## उत्तरदायित्व (Responsibility)

### आशय (Meaning) –

सामान्यतः निश्चित कार्यों को करने एवं निश्चित परिणामों को प्राप्त करने का दायित्व ही उत्तरदायित्व कहलाता है। उत्तरदायित्व को एक क्रिया, कर्तव्य एवं कार्य के रूप में परिभाषित किया जाता है, जिसे एक व्यक्ति निष्पादित करने का प्रयास करता है। यह उच्च अधीनस्थ सम्बन्धों के कारण पैदा होता है। जब एक उच्च अधिकारी अपने अधिकार से किसी अधीनस्थ को कुछ कार्य सुपुर्द करता है तो वह अधीनस्थ का उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह उसको पूरा करे। उत्तरदायित्व निश्चित होने के बाद निर्धारित उत्तरदायित्व के लिए अधीनस्थ अधिकारियों के लिए जवाबदेय भी हो जाते हैं।

इस प्रकार उत्तरदायित्व किसी भी कार्य को करने का बन्धन है और यह बन्धन अधिकारी एवं अधीनस्थ के आपसी सम्बन्धों के कारण उत्पन्न होता है।

### परिभाषाएँ (Definitions)

**थियो हैमन के अनुसार**— “उत्तरदायित्व एक अधीनस्थ पर अपने अधिकारियों के इच्छित कार्य को करने का बन्धन है।”

**जॉर्ज आर. टैरी के अनुसार**— “सुपुर्द किये गये कार्य को अपनी श्रेष्ठतम योग्यता से करने के बन्धन को ही उत्तरदायित्व कहा जाता है।”

**आर.सी. डेविस के अनुसार**— “उत्तरदायित्व किसी व्यक्ति पर किसी निश्चित कार्य को अपनी योग्यता के अनुसार सर्वोत्तम रूप से अपने अधिकारी के निर्देशन में कार्य करने का बन्धन है।”

### विशेषताएँ (Characteristics)

1. उत्तरदायित्व एक बन्धन होता है जो नैतिक एवं वैधानिक दोनों प्रकार का हो सकता है।
2. उत्तरदायित्व हमेशा अधीनस्थ व्यक्तियों पर लागू होता है।
3. यह उच्च-अधीनस्थ के औपचारिक सम्बन्धों के कारण उत्पन्न होता है।
4. कुछ उत्तरदायित्व अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं, जिन्हें निर्धारित एवं स्पष्ट नहीं किया जाता है।
5. उत्तरदायित्वों को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है।
6. उत्तरदायित्व विशिष्ट या सामान्य हो सकता है।
7. जिस व्यक्ति का उत्तरदायित्व होता है, उसे पूरा करने के लिए अधिकारसत्ता भी सौंपी जाती है।

### अधिकारसत्ता एवं उत्तरदायित्व में अन्तर

1. अधिकार दूसरों को प्रत्यायोजित किये जा सकते हैं परन्तु उत्तरदायित्व का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता।
2. अधिकार का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है जबकि उत्तरदायित्व का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर होता है।
3. अधिकार दूसरे व्यक्तियों से कार्य करवाने की शक्ति है जबकि उत्तरदायित्व किसी कार्य को करने का बन्धन है।
4. अधिकार हमेशा उच्च अधिकारी से सम्बन्धित होता है जबकि उत्तरदायित्व अधीनस्थ व्यक्तियों से।

### शक्ति या सत्ता (Power)



सामान्यतः शक्ति से आशय किसी व्यक्ति की किसी कार्य को कराने की योग्यता या क्षमता से है। जिससे वह दूसरों को प्रभावित कर सकता है और उनके व्यवहार को अपने अनुकूल बना सकता है। अतः संगठन में प्रभाव उत्पन्न करने की योग्यता को शक्ति कहते हैं। विस्तृत रूप में, शक्ति का अर्थ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों पर अपना प्रभाव उत्पन्न करके, उसकी क्रियाओं एवं कार्यों को प्रभावित करने, अपनी इच्छानुसार दूसरों से कार्य करवाने की योग्यता और वांछित व्यवहार के लिए दण्ड या पुरस्कार प्रदान करने की योग्यता से है।

### परिभाषाएँ (Definitions)

1. **फ्रैंड लुथान्स के शब्दों में**, "किसी व्यक्ति अथवा समूह से कोई कार्य करवाने के लिए उसे किसी प्रकार बदलने की योग्यता को शक्ति कहा जाता है।"
2. **स्टेफेन पी. रॉबिन्स के अनुसार**, "शक्ति, योग्यता अथवा क्षमता से सम्बन्धित है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को कुछ करने अथवा न करने हेतु प्रभावित करता है।"
3. **मैक्स वेबर के अनुसार**, "सामाजिक सम्बन्ध के अन्तर्गत किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिरोध के बावजूद अपनी इच्छा को क्रियान्वित कर लेने की सम्भाविता को शक्ति कहा जाता है।"

### विशेषताएँ (Characteristics)

1. शक्ति एक सम्भावित ताकत तथा स्रोत भी हैं।
2. शक्ति में बलपूर्वक धमकी की भावना प्रदर्शित होती है।
3. शक्ति के अन्तर्गत इरादों के स्थान पर वास्तविकता का महत्त्व अधिक होता है।
4. शक्ति दूसरों को बदलकर अपनी इच्छानुसार कार्य कराने की योग्यता है। चाहे ऐसी योग्यता में दूसरे व्यक्तियों को प्रतिबद्ध करना पड़े।
5. शक्ति प्राप्त होने के बाद प्रायः संस्थागत बन जाती है।
6. शक्ति, अधिकारसत्ता को सृजित एवं सुदृढ़ करती है।
7. शक्ति, प्रभाव एवं अधिकारसत्ता से जुड़ी हुई विचारधारा है।
8. यह औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार की हो सकती है।
9. शक्ति का पूर्ति एवं हिंसा से निकट सम्बन्ध होता है।
10. शक्ति में आदेश मनवाने एवं आज्ञा पालन करवाने की दोनों स्थितियाँ होती हैं।

### अधिकारसत्ता एवं शक्ति में अन्तर

#### Difference between Authority and Power

प्रायः अधिकारसत्ता एवं शक्ति को एक-दूसरे का पर्यायवाची समझा जाता है क्योंकि दोनों का लक्ष्य अन्य व्यक्तियों से व्यवहार को प्रभावित करना होता है, दोनों में कार्य करने एवं करवाने की शक्ति होती है, दोनों, औपचारिक एवं अनौपचारिक होते हैं, दोनों से सम्बन्धित व्यक्तियों एवं अधिकारियों में निर्णय लेने की क्षमता होती है।

अधिकारसत्ता एवं शक्ति में निम्नलिखित अन्तर हैं –

अन्तर का आधार	अधिकारसत्ता	शक्ति
1. अर्थ	अधिकारसत्ता का अर्थ उस वैधानिक एवं कार्यावली से होता है जिसके अधीन प्रबन्धक आदेश देता है और इच्छानुसार उस आदेश का पालना करवाता है।	शक्ति का अर्थ विरोध के बावजूद एक व्यक्ति द्वारा विद्यमान सामाजिक सम्बन्धों में अपनी इच्छा को दूसरों से मनवाने की सम्भावना से है।

2. उत्पत्ति	इसकी उत्पत्ति संगठन के नियामों, नीतियों, सिद्धान्तों एवं कार्य प्रणालियों आदि से होती है।	शक्ति की उत्पत्ति संगठन के नियामों, नीतियों, सिद्धान्तों एवं कार्यप्रणालियों से होना आवश्यक नहीं है।
3. प्रकृति	अधिकारसत्ता बलपूर्वक एवं धमकी देना नहीं होती है।	शक्ति में तो बलपूर्वक, धमकी का भाव देखने को मिलता है।
4. परिभाषित करना	अधिकारसत्ता को एक समझना एवं परिभाषित करना आसान है क्योंकि यह गतिशील नहीं है।	शक्ति को परिभाषित करना कठिन है क्योंकि यह गतिशील, लोचशील, बहुआयामी एवं मापन-योग्य नहीं है।
5. विद्यमानता	अधिकारसत्ता में शक्ति विद्यमान होती है।	शक्ति में अधिकारसत्ता की विद्यमानता होना आवश्यक नहीं है।
6. भाव	अधिकारसत्ता में समूह की स्वीकृति का भाव होता है।	शक्ति में समूह द्वारा आदेश की पालना का भाव है।
7. क्षेत्र	इसका क्षेत्र संकुचित होता है। क्योंकि ये मुख्यतः अन्य व्यक्तियों की स्वीकृति पर निर्भर करता है।	इसका क्षेत्र अधिकारसत्ता की तुलना में विस्तृत होता है क्योंकि शक्तिशाली व्यक्ति अपने बल से दूसरों की इच्छा को बदल सकता है।
8. स्रोत	अधिकारसत्ता के स्रोत स्थिति, विधान, अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा अधिकारों की स्वीकृति एवं दक्षता आदि होते हैं।	शक्ति के स्रोत सूचना, सन्दर्भ, न्यायसंगत, पुरस्कार, सम्बन्ध, उत्पीड़न आदि होते हैं।
9. प्रत्यायोजन	अधिकारसत्ता का प्रत्यायोजन किया जा सकता है।	शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता है।
10. उत्तरदायित्व की विद्यमानता	अधिकारसत्ता एवं उत्तरदायित्व साथ-साथ चलते हैं, दोनों को अलग-थलग नहीं किया जा सकता है।	शक्ति एवं उत्तरदायित्व का साथ-साथ चलना आवश्यक नहीं है। क्योंकि शक्ति के बिना भी एक व्यक्ति उत्तरदायी हो सकता है।
11. अनुपालना	अधीनस्थों द्वारा अधिकारसत्ता की अनुपालना करना आवश्यक है अन्यथा असहयोग होगा।	शक्ति की अनुपालना करना अनिवार्य नहीं है। इसलिए इसकी अनुपालना नहीं करना असहयोग नहीं माना जाता है।
12. प्रभाव	अधिकारसत्ता एक विधिक होती है। इसलिए इसका प्रभाव वैधानिक एवं अवैधानिक हो सकता है।	शक्ति का विधिक होना आवश्यक नहीं है। इसलिए इसका प्रभाव वैधानिक एवं अवैधानिक होना आवश्यक नहीं है।

## अधिकारों का प्रत्यायोजन (Delegation of Authority)

प्रत्येक व्यक्ति के कार्य करने की एक निश्चित सीमा होती है तथा उस सीमा से अधिक कार्य उतनी ही कुशलता से करना, किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं होता है। बढ़ते हुए व्यापार के क्षेत्र के कारण यह सम्भव नहीं है कि एक व्यक्ति समस्त व्यापार पर स्वयं ही नियन्त्रण कर सकें, तकनीकों एवं नियमों की जटिलता के कारण यह भी सम्भव नहीं है कि वह सभी कार्यों का सम्पादन कुशलपतापूर्वक कर सके। चूँकि एक व्यक्ति की शक्ति व समय दोनों ही सीमित होते हैं, इसलिए भी समस्त कार्य वह स्वयं नहीं कर सकता। अतः आधुनिक युग में यह नितान्त आवश्यक है कि एक व्यक्ति अपने अधिकारों का प्रत्यायोजन करे, अधिकारों का प्रत्यायोजन करके ही संगठन के समस्त कार्यों का कुशलतापूर्वक निष्पादन किया जा सकता है।

### आशय (Meaning)

सामान्यतः अधिकारों के प्रत्यायोजन से तात्पर्य दूसरे व्यक्तियों को कार्य भार सौंपने से है अर्थात् अन्य व्यक्तियों को कार्य-भार सुपुर्द करने एवं उन्हें निष्पादित करने के लिए आवश्यक अधिकार प्रदान करने के अधिकारों का प्रत्यायोजन कहते हैं। अतः अधिकारों का प्रत्यायोजन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक उच्चाधिकारी अपने कुल कार्य को स्वयं के एवं अपने अधीनस्थ के मध्य वितरित करता है ताकि प्रबन्धकीय एवं क्रियात्मक विशिष्टीकरण की प्राप्ति की जा सके।

इस प्रकार, प्रत्यायोजन उच्च अधिकारी द्वारा अपने अधीनस्थों को कार्य भार सौंपने, उन्हें करने के लिए आवश्यक अधिकार देने तथा उन्हें जवाबदेय बनाने की प्रक्रिया है।

### परिभाषाएँ (Definitions)

1. **एफ.जी. मूरे के शब्दों में**, "अधिकार – प्रत्यायोजन से आशय अन्य लोगो को कार्य सौंपना एवं उसे करने हेतु अधिकार प्रदान करना है।"
2. **जॉर्ज आर. टैरी के अनुसार**, "प्रत्यायोजन का अर्थ एक अधिकारी अथवा संगठन की किसी इकाई से दूसरी इकाई या अधिकारी को अधिकारों के सौंपने से है।"
3. **कून्टज एण्ड ओ' डोनेल के मतानुसार**, "जब उच्च अधिकारी द्वारा अधीनस्थ" अधिकारी को निर्णयन की शक्ति सौंप दी जाती है तो इसे अधिकारों का प्रत्यायोजन कहते हैं।

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अधिकारों के प्रत्यायोजन से आशय दूसरों को कार्य सौंपना तथा उनके सम्बन्ध में आवश्यक अधिकारों को प्रदान करना है किन्तु अधिकारी अपने अधिकारों का प्रत्यायोजन, दूसरे व्यक्तियों को करके भी उन अधिकारों से उत्पन्न होने वाले दायित्वों से मुक्त नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अधिकारों को अधीनस्थों को सौंप देने के बाद भी वह स्वयं उन अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

### विशेषताएँ (Characteristics)

1. प्रत्यायोजन एक प्रक्रिया है जिसमें कर्तव्यों का निर्धारण किया जाता है, अधिकारसत्ता दी जाती है और उत्तरदायित्व उत्पन्न किये जाते हैं।
2. यह अधीनस्थों की अधिकार सीमा को स्पष्ट करता है।
3. प्रत्यायोजन असहयोग न होकर सहयोग प्राप्त करने की एक प्रक्रिया है।
4. प्रत्यायोजन करने के पश्चात् भी प्रत्यायोजन करने वाला अपने दायित्व से मुक्त नहीं होता है।
5. अधिकारों का प्रत्यायोजन किया जाता है, न कि अधिकारी द्वारा पदों का।
6. यह अधिकारसत्ता का उपविभाजन है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक प्रबन्धक इस बात का निर्धारण करता है कि अधिकार के किस भाग को स्वयं क्रियान्वित करेगा एवं किस भाग को अधीनस्थों को सुपुर्द करेगा।
7. यह कोई स्थायी हस्तान्तरण नहीं है। प्रत्यायोजित अधिकार कभी भी वापिस लिये जा सकते हैं।

8. यह सामान्यतया उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर प्रवाहित होता है, किन्तु कभी कभी समान स्तर पर भी हो सकता है।
9. यह अधिकारों के विकेन्द्रीकरण से भिन्न है।
10. कोई भी उच्चाधिकारी ऐसे अधिकारों का प्रत्यायोजन नहीं कर सकता है जो उसके स्वयं के पास न हों।

## अधिकार प्रत्यायोजन की आवश्यकता एवं महत्त्व (Need and Importance of Delegation)

प्रत्येक व्यक्ति के कार्य करने की कुछ सीमाएँ होती हैं। सभी कार्य वह स्वयं नहीं कर सकता है। अतः वह अपने अधिकारों के अन्तर्गत जो कार्य होते हैं, उनमें से कुछ कार्य दूसरों को सौंपकर अपना कार्य—भार हल्का कर लेता है। इसके अतिरिक्त, दूसरे व्यक्तियों के तकनीकी ज्ञान एवं अनुभव का लाभ उठाने के लिए भी वह अपने कुछ अधिकारों का प्रत्यायोजन करता है। आधुनिक वृहद् व्यावसायिक संगठनों में जहाँ पर व्यावसायिक जटिलता अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुकी है, अधिकारों का प्रत्यायोजन करना अनिवार्य सा हो गया है। प्रबन्धक संगठन के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों जैसे—नियोजन, समन्वय, नियन्त्रण आदि में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें संगठन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों को करने के लिए समय ही नहीं मिल पाता है, अतः अधिकारों का प्रत्यायोजन अपरिहार्य है।

जहाँ निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समूह की आवश्यकता होती है, वहाँ प्रत्यायोजन का भी समान रूप से महत्त्व एवं उपयोगिता होती है। बिना प्रत्यायोजन के कोई संगठन, स्थापित नहीं किया जा सकता है अर्थात् जहाँ प्रत्यायोजन नहीं होता है, वहाँ उद्देश्य एक व्यक्ति की क्रियाएँ एवं उत्तरदायित्व बनकर रह जाता है। यही कारण है कि **कून्टज एण्ड ओ' डोनेल ने कहा कि, "जैसे अधिकार प्रबन्धक के कार्यों की कुंजी है, उसी प्रकार अधिकारों का प्रत्यायोजन संगठन की कुंजी है।"**

संक्षेप में, अधिकारों के प्रत्यायोजन की आवश्यकता एवं महत्त्व को निम्नलिखित बिन्दुओं की सहायता से समझाया जा सकता है —

1. **प्रबन्धन की कुँजी** — मेरी पार्कर फोलेट ने ठीक ही लिखा है कि प्रबन्ध दूसरों से कार्य करवाने की कला है। किन्तु दूसरों से कार्य तभी करवाया जा सकता है जबकि उन्हें अधिकार प्रदान किये जाएँ। अतः अधिकार प्रत्यायोजन दूसरों से कार्य करवाने की प्राथमिक आवश्यकता है।
2. **संगठन की आधारशिला** — जिस प्रकार भवन की नींव आधारशिला होती है, उसी प्रकार संगठन की आधारशिला अधिकारों का प्रत्यायोजन होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि बिना अधिकारों के प्रत्यायोजन के सहायक (अधिकारी या कर्मचारी) नहीं हो सकते हैं तो सहायक के अभाव में संगठन का निर्माण नहीं हो सकता है। कून्टज एण्ड ओ' डोनेल ने कहा कि अधिकार प्रत्यायोजन का मुख्य उद्देश्य संगठन को सम्भव बनाना है।
3. **कार्यकुशलता में वृद्धि** — अधिकारों के प्रत्यायोजन से कार्यों का उचित वितरण भी हो जाता है। इसी प्रकार कार्यों को निर्धारित सीमाओं में पहलपन के आधार पर करने की स्वतन्त्रता भी हो जाती है। इन सबके परिणामस्वरूप संस्था की कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है।
4. **मानवीय सीमाओं का पूरक** — मानव के कार्य करने की सीमा होती है। वह सभी कार्यों-क्रियाओं में दक्ष नहीं होता है और न ही उन्हें वह अकेला कर सकता है। अतः उसे अपने दायित्वों के निर्वाह के लिए अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसलिए प्रत्यायोजन मानवीय सीमाओं का पूरक है।
5. **जटिल तकनीक**— बढ़ते हुए व्यापार एवं तकनीकी जटिलताओं ने अधिकार प्रत्यायोजन के महत्त्व को बढ़ा दिया है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार की क्रियाएँ न तो कर सकता है और न ही समझ सकता है। रेखाधिकारी द्वारा उन विशेषज्ञों को सोचने-समझने के कार्यों को सौंपा जाता है जिसमें जटिल तकनीकों एवं नियमों को अपनाकर लाभ उठाया जा सकता है।
6. **उच्चाधिकारियों के संचालकीय कार्यों में कमी** — अधिकारों का प्रत्यायोजन करने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे उच्चाधिकारियों को संचालकीय कार्यों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यदि उच्चाधिकारी संस्था के छोटे-छोटे कार्यों को करने में ही अपना समय व्यय कर दें तो नीति निर्धारित करने,

नियोजन करने, समन्वय तथा नियन्त्रण करने जैसे महत्वपूर्ण कार्यों को वे कैसे पूरा करेंगे। अतः दिन-प्रतिदिन के संचालन सम्बन्धी कार्यों का प्रत्यायोजन करना ही पड़ता है।

7. **प्रबन्धकीय योग्यता का विकास** – अधिकारों के प्रत्यायोजन के द्वारा अधीनस्थों को अधिकार एवं उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं जिससे प्रबन्धकीय योग्यता का विकास होता है। वे निर्णय लेना, अपने कार्य की योजना बनाना एवं उसे क्रियान्वित करना सीख जाते हैं।
8. **प्रभावी पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण** अधिकारों के प्रत्यायोजन से उच्च प्रबन्धकों को महत्वपूर्ण कार्य करने का समय मिल जाता है। अधीनस्थों की योग्यता में वृद्धि होती है और उनका मनोबल बढ़ता है। इन सबके परिणामस्वरूप पर्यवेक्षण सरल एवं प्रभावी हो जाता है। इसके अतिरिक्त अधिकार प्रत्यायोजन के पश्चात् भी अन्तिम उत्तरदायित्व उच्चाधिकारी का ही होता है। अतः वह अपने अधीनस्थों पर प्रभावी निरीक्षण व्यवस्था करना सीख जाते हैं।
9. **प्रबन्धकीय प्रभावशीलता** – अधिकारों के प्रत्यायोजन के परिणामस्वरूप प्रबन्धकों के कार्यभार में कमी आती है जिससे वे अपना समय अन्य प्रबन्धकीय कार्यों का प्रभावी रूप से निष्पादन करने में सफल हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में कून्टज एण्ड ओ' डोनेल ने कहा कि, "अन्य कारणों की अपेक्षा अधिकार-प्रत्यायोजन की कमी के कारण ही प्रबन्धक अधिक सफल रहे हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से संस्था में प्रबन्धक कार्य हेतु नियुक्त किया जाये, इसके लिए अधिकार-प्रत्यायोजन की कला एवं विज्ञान का अध्ययन करना लाभप्रद सिद्ध होगा।"
10. **श्रेष्ठ एवं तत्काल निर्णय**– अधिकारों के प्रत्यायोजन के माध्यम से श्रेष्ठ एवं तत्काल निर्णय लिये जाने सम्भव हो जाते हैं क्योंकि –
  - (i) प्रत्यायोजन प्रायः श्रेष्ठ निर्णयों की ओर अग्रसर करता है। इसका कारण यह है कि अधीनस्थ क्रियान्वयन पंक्ति के अधिक समीप होते हैं और उन्हें तथ्यों की स्पष्टतम जानकारी होती है।
  - (ii) प्रभावी प्रत्यायोजन निर्णयन को गति भी प्रदान करता है। इसका कारण यह है कि अधीनस्थ कार्यस्थल पर ही निर्णय लेने को अधिकृत होते हैं और उन्हें उच्चाधिकारियों से अनुमोदन नहीं करना होता है। इस प्रकार अधिकार प्रत्यायोजन से समय, श्रम एवं धन की बचत होती है।
11. **अधीनस्थों की अभिप्रेरणा** – प्रत्यायोजन अभिप्रेरणा का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसका कारण यह है कि प्रत्यायोजन से कर्मचारियों की कई सामाजिक एवं मनावैज्ञानिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है और अधीनस्थों को निर्णयन में हिस्सा दिया जाता है। फलस्वरूप उनकी अहम् की भावना सन्तुष्ट होती है, उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है और उन्हें अधिक कार्य करने की प्रेरणा भी मिलती है।
12. **मनोबल में वृद्धि** – अधिकारों के प्रत्यायोजन से संस्था में अधीनस्थों की स्थिति में सुधार होता है, उन्हें तथा उनकी योजनाओं एवं निर्णयों को भी महत्व दिया जाने लगता है। परिणामस्वरूप उनमें कार्य सन्तुष्टि बढ़ती है और अधिकाधिक कार्य करने की इच्छा स्वतः ही जागृत होने लगती है इस प्रकार कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि होती है।
13. **व्यवसाय का कुशल प्रबन्ध एवं संचालन** – उपक्रम के विकास के साथ-साथ भौगोलिक क्षेत्र भी बढ़ता है। फलस्वरूप शाखाओं, बहुसंख्यक संयंत्रों की स्थापना करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु एक प्रबन्धक के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह मुख्य कार्यालय के साथ-साथ शाखाओं एवं बहु-संख्यक संयंत्रों के कार्यों को भी देख सके। अधिकारों के प्रत्यायोजन एवं विकेन्द्रीकरण फेले हुए व्यवसाय के कुशल प्रबन्ध एवं संचालन का सबसे अच्छा समाधान है।
14. **संगठन में स्थिरता एवं निरन्तरता** – उचित अधिकार का प्रत्यायोजन संगठन को उच्चाधिकारी की सेवानिवृत्ति, मृत्यु, बीमारी एवं पदत्याग करने पर उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता है। चूँकि अधीनस्थों को पहले से ही अधिकारों का प्रत्यायोजन करके उनके कार्यों के लिए पूर्ण कुशल तथा योग्य बना दिया जाता है जिससे संगठन में निरन्तरता एवं स्थिरता बनी रहती है।

## अधिकारों के प्रत्यायोजन की प्रक्रिया (Process of Delegation of Authority)

उच्चाधिकारी अपने अधीनस्थों को कार्य सौंपते समय कुछ कदम उठाते हैं, उन कदमों से ही प्रत्यायोजन की प्रक्रिया पूरी होती है। **न्यूमेन एण्ड समर ने कहा है कि** – “अधिकारों के प्रत्यायोजन का कार्य चाहे किसी कम्पनी का अध्यक्ष करे, चाहे विक्रय प्रबन्धक करे, चाहे फोरमैन किसी आपरेटर को करे, उसकी प्रक्रिया में तीन कदम तो आवश्यक रूप से विद्यमान रहते हैं कार्य सौंपना, अधिकारसत्ता देना एवं उत्तरदायित्व निर्धारित करना।”

संक्षेप में अधिकारों के प्रत्यायोजन की प्रक्रिया इस प्रकार है –

- 1. कार्य सौंपना**—अधिकारों के प्रत्यायोजन की प्रक्रिया का यह प्रथम कदम है। इसमें प्रत्यायोजनकर्ता यह निश्चित करता है कि कौन से कार्य स्वयं करेगा और कौन से कार्य अन्य व्यक्ति को सौंपेगा। उदाहरण के लिए, यदि एक कम्पनी के पास विविध उत्पादों के निर्माण एवं विक्रय का कार्य है तथा ऐसा निर्माण एवं विक्रय कई स्थानों पर संयंत्रों एवं शाखा इकाइयों द्वारा सम्पन्न किया जाता है तो प्रत्यायोजनकर्ता को यह निश्चय करना होगा कि वह स्वयं केन्द्रीय कार्यालय में कार्य करेगा या किसी अन्य शाखा में, संयंत्रों एवं शाखाओं का कार्यभार किसे सौंपेगा और निरीक्षण तथा नियंत्रण का कार्य कौने करेगा ? इस कदम में कार्य सौंपने से पहले अधीनस्थों की योग्यता, कुशलता एवं आत्मविश्वास आदि की जानकारी कर लेनी चाहिए। तत्पश्चात् सौंपे जाने वाले कार्य की प्रकृति एवं कार्य से सम्बन्धित सभी बातों से भी अधीनस्थों को अवगत करा देना चाहिए।
- 2. अधिकारसत्ता प्रदान करना**—अधिकारों के प्रत्यायोजन का दूसरा कदम अधीनस्थों को कार्य के सम्बन्ध में अधिकारसत्ता प्रदान करने से है। जब प्रबन्धक या उच्चाधिकारी, अधीनस्थ को कार्यभार सौंपेगा तो वह उसी कार्य के अनुकूल अधिकारसत्ता भी प्रदान करेगा। इन अधिकारों में कच्चा माल खरीदना, आवश्यक धन व्यय करना, दूसरों के कार्यों को निर्देशन करना, बाहरी व्यक्तियों के लिए कम्पनी की ओर से प्रतिनिधित्व करना एवं आवश्यक निर्णय लेना आदि सम्मिलित किया जा सकते हैं। यदि अधीनस्थ को अपने विवेक एवं कौशल का उपयोग करने के अवसर नहीं मिलेंगे तो जो कार्य उसे सौंपा गया है, उसकी पूर्ति हो या न हो, कोई पता नहीं। अतः उसे सौंपे गये कार्य के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और सभी आवश्यक अधिकारों का प्रत्यायोजन भी करना चाहिए।
- 3. कार्य की स्वीकृति या अस्वीकृति की स्थिति** – अधिकारों के प्रत्यायोजन की प्रक्रिया में यह स्थिति भी आती है कि जिस अधीनस्थ को कार्य सौंपा जाता है, वह उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है इसका कारण यह है कि कार्य को अस्वीकार इसलिए कर सकता है। क्योंकि वह अपने आपको योग्य, कुशल एवं ज्ञानवान नहीं होना मानता है अथवा यह भी हो सकता है कि उसके पास पहले से ही कार्य अधिक हो। इस स्थिति में प्रत्यायोजनकर्ता प्रबन्धक को किसी अन्य अधीनस्थ को आगे सौंपने की कार्यवाही करनी होगी। इसके विपरीत यदि अधीनस्थ स्वीकार करता है तो प्रत्यायोजन प्रक्रिया अगले कदम की ओर बढ़ जायेगी।
- 4. उत्तरदायित्व को निश्चित करना**— अधिकारों के प्रत्यायोजन के इस कदम में अधीनस्थों के लिए उत्तरदायित्व को निश्चित किया जाता है। उत्तरदायित्व का अर्थ यह देखने से होता है कि कार्य आशानुकूल हो रहा है अथवा नहीं। प्रत्येक अधीनस्थ का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने उच्चाधिकारी को इस बात से सन्तुष्ट करे कि सौंपा गया कार्य निर्धारित रीति के अनुसार हो रहा है और वांछित परिणाम भी प्राप्त हो रहे हैं। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि अधीनस्थ जिसे कार्य सौंपा गया है, उस कार्य की जवाबदेही को किसी अन्य व्यक्ति को पुनः नहीं सौंप सकता है। उत्तरदायित्व तो सदैव उच्चाधिकारी के प्रति बना रहता है।
- 5. नियंत्रण प्रणाली की स्थापना** – अधिकारों के प्रत्यायोजन के अन्तिम कदम में नियंत्रण प्रणाली की स्थापना कर प्रत्यायोजन कार्यों के मूल्यांकन करके अधीनस्थ कर्मचारी को दायीं ठहराकर उसके खिलाफ कार्यवाही की जा सके। इसके लिए अधिकारी को यह अधिकार होता है कि वह अपने अधीनस्थों को कार्य परिणामों की सूचना विशेषज्ञ इकाइयों, जैसे वित्त, लेखांकन, गुणवत्ता नियंत्रण, कर्मचारी विभाग अथवा केन्द्रीय सूचना प्रणाली से प्राप्त कर सकता है अथवा परिस्थितियों के अनुसार

अपनी स्वयं नियंत्रण प्रणाली भी स्थापित कर सकता है। यही नहीं, प्रबन्धक अपने अधीनस्थों से समय-समय पर कार्य प्रतिवेदन की माँग करके भी उनके कार्यों पर नियंत्रण रख सकते हैं।

अधिकारों के प्रत्यायोजन की प्रक्रिया को उपर्युक्त रेखाचित्र की सहायता से भी समझाया गया है।

## अधिकारों के प्रत्यायोजन की सीमाएँ (Limitation of Delegation of Authority)

जब कोई उच्चाधिकारी अपने अधिकारों में से कुछ अधिकार अधीनस्थों को प्रत्यायोजित करता है तो उसके समक्ष ज्ञान, योग्यता, प्रशिक्षण, सोच, विश्वास एवं रीति-रिवाज आदि कई प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयाँ आती हैं। इनका उदय अधिकारों के प्रत्यायोजन की कुछ सीमाओं के कारण होता है।

संक्षेप में, अधिकार-प्रत्यायोजन की सीमाएँ निम्नलिखित हैं –

1. **कार्य की प्रकृति** – संस्था में कुछ कार्य इतने महत्वपूर्ण होते हैं, जिन्हें पूरा करने के लिए अधीनस्थों को सौंपना सम्भव नहीं है, जैसे- समन्वय एवं नियंत्रण आदि। ऐसी दशा में अधिकार-प्रत्यायोजित नहीं किये जा सकते हैं।
2. **प्रत्यायोजन की अनुमति** – अधिकारों के प्रत्यायोजन की सीमा होती है। यदि इनके बाहर प्रत्यायोजन करना चाहे तो उसे उच्च प्रबन्ध की पूर्व अनुमति प्राप्त करनी होती है। यदि इनके बाहर प्रत्यायोजन करना चाहे तो उसे उच्च प्रबन्ध को पूर्व अनुमति प्राप्त करनी होती है, जो उसे एक सीमा में बाँध देती है।
3. **नये संगठन** – नये संगठन की दशा में अधिकारों का प्रत्यायोजन उपयुक्त नहीं है और यदि है भी तो सीमित मात्रा में, इसका कारण यह है कि ऐसे संगठन में अधीनस्थ अनुभवी एवं कार्यकुशल नहीं होते हैं।
4. **नियंत्रण का विस्तार क्षेत्र** – संगठन के इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति के अधीन उतने ही कर्मचारी होने चाहिए, जिनका वह कुशलतापूर्वक नियंत्रण या प्रबन्ध कर सके। अधिकारों का प्रत्यायोजन अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि करता है, जिसे एक सीमा से अधिक विस्तृत नहीं किया जा सकता है।
5. **अधीनस्थों की योग्यता एवं क्षमता** – अधिकारों का प्रत्यायोजन उन्हीं को किया जाता है जिनमें अधिकारों का सदुपयोग करने की योग्यता एवं क्षमता हो। इसके अभाव में प्रत्यायोजन अधिक आसान नहीं होगा।
6. **संगठन का आकार एवं स्वरूप** – यदि संगठन का आकार बहुत छोटा है तो अधिकारों के प्रत्यायोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत संगठन का आकार विस्तृत होने पर एक व्यक्ति द्वारा सभी कार्यों का निष्पादन किया जाना सम्भव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त रेखा संगठन में प्रत्यायोजन के अवसर कम मिलेंगे।
7. **स्वयं के भविष्य के प्रति आंशकित** – कुछ प्रबन्धक अधीनस्थों की कुशलता के भय के कारण भी अधिकारों का प्रत्यायोजन नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि कहीं अधीनस्थ उनका स्थान न ले ले।
8. **भौगोलिक परिस्थितियाँ** – अधिकारों का प्रत्यायोजन तभी सम्भव है, जब अच्छी भौगोलिक परिस्थितियाँ एवं कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था हो, अन्यत्र नहीं।

अधिकारों के प्रत्यायोजन को प्रभावी बनाने की आवश्यक बातें –

अधिकारों के प्रत्यायोजन की सफलता न केवल सिद्धान्तों पर ही निर्भर करती है, अपितु अन्य बातें भी प्रभावित करती हैं। अतः अधिकारों के प्रत्यायोजन को प्रभावी बनाने हेतु निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए –

1. **उद्देश्यों का स्पष्ट निर्धारण** – प्रत्यायोजन करने से पूर्व उच्चाधिकारी द्वारा उद्देश्यों का स्पष्ट निर्धारण करना चाहिए और क्या परिणाम अपेक्षित है, का भी स्पष्ट रूप से निर्धारण कर दिया जाना चाहिए।
2. **पर्याप्त प्रेरणाएँ** – अधीनस्थों को पर्याप्त प्रेरणाएँ प्रदान की जानी चाहिए ताकि वे अधिकार आसानी से ग्रहण कर सकें। इसके लिए अधीनस्थों को वित्तीय एवं अवित्तीय दोनों प्रकार की उचित प्रेरणाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

3. **उचित वातावरण** – प्रबन्धकों एवं अधीनस्थों के बीच परस्परिक समझ, विश्वास, सहयोग एवं समूह भावना के वातावरण से प्रत्यायोजन को प्रभावी बनाया जा सकता है।
4. **स्वीकार करने की इच्छा** – अधिकारों का प्रत्यायोजन उन्हीं अधीनस्थों को किया जाना चाहिए जो योग्य हों और उन्हें स्वीकार करने की इच्छा हो। यही नहीं कार्य की प्रकृति और उसकी आवश्यकताओं को देखकर ही उपयुक्त कर्मचारी का चुनाव करना चाहिए।
5. **सम्प्रेषण व्यवस्था** – उच्चाधिकारियों एवं अधीनस्थों के मध्य सम्प्रेषण की उचित एवं स्पष्ट व्यवस्था होनी चाहिए।
6. **उचित प्रशिक्षण**—अधीनस्थों को उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि उनके काम करने की योग्यता में वृद्धि के साथ-साथ विश्वास की भवना भी जागृत हो सके।
7. **हस्तक्षेप पर अंकुश**—उच्चाधिकारियों द्वारा हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जाना चाहिए।
8. **स्पष्ट ज्ञान** – अधिकारियों एवं अधीनस्थों को यह स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि परिणामों के लिए कौन उत्तरदायी है, उनके अधिकार क्या हैं, वे किस बात के लिए जवाबदेह हैं और कौन से साधनों का उन्हें प्रयोग करना है।
9. **सुरक्षा की भावना** – अधीनस्थों को प्रबन्धकों की तरफ से असुरक्षा की भावना को दूर करना चाहिए। डर एवं दबाव के वातावरण से अधीनस्थों को मुक्त किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त पारस्परिक सद्विश्वास की भावना को भी जागृत करना चाहिए। इन सबके परिणामस्वरूप अतिरिक्त अधिकारों को स्वीकार कर सकेंगे।
10. **सही स्तर पर सही मात्रा** – प्रभावी प्रत्यायोजन के लिए अधिकारों का प्रत्यायोजन की सही स्तर पर सही मात्रा होनी चाहिए। अधिकारों का प्रत्यायोजन उस सीमा तक किया जाना चाहिए जिस स्तर पर कार्य का निष्पादन करना है। अतः इस बात पर जोर देना चाहिए कि क्या प्रत्यायोजन करना है या नहीं, यदि करना है तो उसकी मात्रा क्या होगी ?

**प्रश्न बोध –**

**लघुतरात्मक प्रश्न—**

1. अधिकारसत्ता से आप क्या समझते हैं।
2. उत्तरदायित्व क्या है ? संक्षेप में इसकी विशेषताएँ बताइये।
3. अधिकारसत्ता एवं उत्तरदायित्व में अन्तर बताइये।
4. अधिकारों के प्रत्यायोजन से आप क्या समझते हैं।

**निम्बन्धात्मक प्रश्न –**

1. अधिकारसत्ता के स्रोतों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
2. अधिकारसत्ता एवं शक्ति में अन्तर बताइये।
3. अधिकारों के प्रत्यायोजन की प्रक्रिया को संक्षेप में समझाईये।
4. अधिकार प्रत्यायोजन की आवश्यकता क्यों होती है ? स्पष्ट कीजिए।



## अध्याय — पंचम

### केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण

#### [Centralization and Decentralization]

#### केन्द्रीकरण (Centralization)

##### आशय (Meaning) –

केन्द्रीकरण से तात्पर्य निर्णयन की शक्ति का एक बिन्दु या कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीत होने से है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब उच्च प्रबन्धक निर्णय लेने के अधिकारों तथा दायित्वों को अपने पास सुरक्षित रख लेते हैं एवं निम्न स्तरों पर उनका प्रत्यायोजन नहीं करते हैं तो ऐसी स्थिति को **अधिकारों का केन्द्रीकरण** कहते हैं।

इस प्रकार अधिकारों के केन्द्रीकरण का अर्थ प्रबन्धकीय अधिकारसत्ता को शीर्ष स्तर पर कुछ प्रमुख प्रबन्धकीय पदों तक आरक्षित या केन्द्रित कर लेने से है। यदि अधिकारसत्ता का प्रत्यायोजन नहीं हुआ हो तो, इसका केन्द्रीकरण किया गया है। ऐसी स्थिति में निर्णय लेने का अधिकार केवल संगठन में उच्च स्तर पर ही केन्द्रित रहता है। **ऐलन के अनुसार**— “किसी संगठन में केन्द्रीय बिन्दुओं पर व्यवस्थित एवं स्थायी ढंग से अधिकार सुरक्षित करने को केन्द्रीकरण कहते हैं।”

##### विशेषताएँ (Characteristics) –

अधिकारों के केन्द्रीकरण की विशेषताएँ या लक्षण निम्नलिखित हैं –

1. निर्णयन का अधिकार केन्द्र बिन्दु पर या कुछ व्यक्तियों के हाथों में ही केन्द्रित रहता है।
2. संगठन में अधीनस्थों का महत्त्व कम हो जाता है क्योंकि निर्णय लेने का अधिकार नहीं होता है।
3. अधीनस्थ केवल उच्च वर्ग के अधिकारी द्वारा लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित करने का ही कार्य करते हैं।
4. अधिकारों का प्रत्यायोजन बहुत ही कम किया जाता है।
5. इसमें संगठनात्मक कार्यप्रणाली के प्रत्येक पहलू पर कड़ा पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण किया जाता है।

##### अधिकारों के केन्द्रीकरण के लाभ

अधिकारों के केन्द्रीकरण के लाभ या गुण निम्नलिखित हैं –

1. यह व्यक्तिगत नेतृत्व में सहायता प्रदान करता है।
2. संगठन में शीघ्र निर्णय लिये जा सकते हैं।
3. योजनाओं को आसानी से गोपनीय बनाया जा सकता है।
4. इसमें आकस्मिकताओं का आसानी से सामना किया जा सकता है।
5. इससे प्रभावी समन्वय एवं एकीकरण की स्थापना आसानी से की जा सकती है।
6. क्रियाओं, नीतियों एवं व्यवहार में आसानी से एकरूपता स्थापित की जा सकती है।
7. इसमें विशिष्टीकरण एवं प्रभावीकरण के लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।
8. कार्यों का दोहराव एवं कार्यवाही निष्क्रियता समाप्त हो जाती है।
9. इसमें संचालन लागतें कम रहती हैं।
10. इससे उच्चाधिकारी प्रतिष्ठा, शक्ति एवं व्यक्तित्व नेतृत्व अर्जित कर सकते हैं।

11. मुख्य कार्यालय एवं सूचना विशेषज्ञों की सेवाओं का पूरा लाभ उठाया जा सकता है।
12. इसमें नियंत्रण की विस्तृत प्रणाली अपनाने की आवश्यकता नहीं होती है।

### अधिकारों के केन्द्रीकरण के दोष

अधिकारों के केन्द्रीकरण के दोष या हानियाँ अग्रलिखित हैं –

1. उच्च प्रबन्धक पर कार्यभार बढ़ जाता है जिससे वे अपनी योग्यता एवं क्षमता का लाभ संगठन को नहीं दे पाते हैं।
2. अधीनस्थों में निराशा एवं कुण्ठा की भावनाएँ बढ़ती हैं क्योंकि इनका महत्त्व घट जाता है।
3. अधीनस्थों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की सतुष्टि नहीं हो पाती है।
4. इससे कर्मचारियों के मनोबल एवं रूचि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप उत्पादकता में कमी आती है।
5. उतावले निर्णय की सम्भावना बनी रहती है।
6. अधीनस्थों में प्रबन्धकीय ज्ञान का विकास नहीं हो पाता है।
7. उच्च प्रबन्धकों का महत्त्वपूर्ण समय बेकार के कार्यों में लग जाने से उनके पास महत्त्वपूर्ण कार्यों को सम्पादन करने का समुचित समय नहीं रहता है।
8. इसमें उच्च प्रबन्धकों को अनौपचारिक समूह का लाभ नहीं मिल पाता है।

### अधिकारों के केन्द्रीकरण की उपयुक्ता –

अधिकारों का केन्द्रीकरण उन संस्थाओं के लिए उपयुक्त रहता है, जहाँ कार्य की प्रकृति पुनरावृत्ति की हो, कार्य प्रभावित हो, प्रभावी सम्प्रेषण व्यवस्था हो, नियन्त्रण का विस्तार छोटा हो और संगठन भी छोटा हो।

### अधिकारों का विकेन्द्रीकरण

#### (Decentralization of Authority)

#### आशय (Meaning)

सामान्यतः अधिकारों का विकेन्द्रीकरण का अर्थ निर्णयन शक्ति का संगठन में निम्नतम स्तर पर फैलाने से है। अतः यदि प्रबन्धकीय निर्णय लेने का अधिकार उन सभी व्यक्तियों के हाथों में होता है जो कार्य या उस निर्णय से सम्बन्धित हो तो उसे विकेन्द्रीकरण कहते हैं।

इस प्रकार विकेन्द्रीकरण तब होता है जबकि उच्चाधिकारी अपने अधिकारों एवं दायित्वों को अधीनस्थों को सौंपते हैं। इन अधिकारों के परिणामस्वरूप अधीनस्थ अपने कार्यों के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय ले सकते हैं।

#### परिभाषाएँ

एलेन के अनुसार, "विकेन्द्रीकरण कार्य-निष्पादन स्तरों पर व्यवस्थित एवं स्थायी रूप से अधिकारों का प्रत्यायोजन है।"

फेयोल के अनुसार, "प्रत्येक कार्य जिससे अधीनस्थों की भूमिका का महत्त्व बढ़ता है, विकेन्द्रीकरण कहलाता है।"

व्हाइट के अनुसार, "उच्च स्तर से निम्न स्तर को अधिकारों का हस्तान्तरण विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया है।"

## अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की विशेषताएँ –

अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. इसके अन्तर्गत निर्णयन-प्रक्रिया में समस्त कर्मचारियों को हिस्सा दिया जाता है।
2. यह संस्था में अधीनस्थों की भूमिका के महत्त्व को बढ़ाता है।
3. यह निम्न स्तर तक अधिकारों के प्रत्यायोजन का व्यवस्थित प्रयास है।
4. यह उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित होता है।
5. यह प्रत्यायोजन का एक विकसित रूप है।
6. यह अधिकारसत्ता के फैलाव एवं वितरण के प्रति प्रबन्धकों की अभिवृत्ति एवं सत्ता की मात्रा को बतलाता है, न कि सत्ता के प्रकार को।
7. यह एक दर्शन एवं तकनीक है।
8. इसमें सम्पूर्ण संगठन की प्रशासकीय इकाई को उपविभागों में बाँट दिया जाता है।

## अधिकारों के विकेन्द्रीकरण के लाभ –

अधिकारों के विकेन्द्रीकरण के लाभ या गुण निम्नलिखित हैं—

1. इससे प्रजातांत्रिक प्रबन्ध की स्थापना होती है क्योंकि यह प्रबन्ध में निम्न स्तर के कर्मचारियों को हिस्सा प्रदान करता है।
2. प्रबन्धकीय निर्णयों में तत्परता एवं अनुकूलता में वृद्धि होती है।
3. इससे प्रबन्धकीय योग्यता का विकास होता है।
4. विभिन्न विभागों की तुलना करके उनकी कुशलता एवं अकुशलता का पता लगाया जा सकता है।
5. संस्था में कई प्रकार के उत्पादों का निर्माण करना सम्भव होता है।
6. इसके अन्तर्गत अधीनस्थों को निर्णय लेने के अवसर मिलते हैं, कर्मचारियों का सम्मान बढ़ता है और उनमें नेतृत्व की भावना का विकास होता है। परिणामस्वरूप मनोबल में वृद्धि होती है और उच्च उत्पादकता को प्रोत्साहन मिलता है।
7. उच्चाधिकारियों के कार्यभार में कमी आने से वे प्रशासन एवं नीतिगत कार्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।
8. अधीनस्थों में कार्य भावना जागृत होती है, जिससे संगठन की विभिन्न क्रियाओं एवं विभागीय स्तरों पर समन्वय स्थापित करना सहज हो जाता है।
9. यह अधीनस्थों में पहल करने की क्षमता, कार्यकुशलता, साहस एवं नव-प्रवर्तन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है।
10. इससे विभिन्न क्रियाओं पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है क्योंकि प्रमापों का निर्धारण एवं कार्य के निष्पादन का मापन आसान हो जाता है।
11. सम्प्रेषण में सरलता एवं शीघ्रता लायी जा सकती है।

## अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की हानियाँ –

अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की हानियाँ या दोष निम्नलिखित हैं –

1. इससे उच्चाधिकारियों की अधीनस्थों पर निर्भरता बढ़ जाती है। ऐसी दशा में यदि अधीनस्थ योग्य, कुशल एवं अनुभवी न हो तो उच्चाधिकारियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

2. अनावश्यक प्रशासनिक लागतें बढ़ जाती हैं।
3. निर्णयों में भिन्नता, अधीनस्थों के संकीर्ण विचार एवं विभागीय हित आ जाने के कारण समन्वय में कठिनाई आती है।
4. इसमें सभी इकाइयाँ भिन्न-भिन्न निर्णय लेती हैं जिससे नीतियाँ तथा निर्णयों में एकरूपता न आने कारण उच्चाधिकारियों के लिए नियंत्रण समस्या बढ़ जाती है।
5. प्रबन्ध की जटिलता, जटिल तकनीकों का उपयोग एवं निर्णय में कम्प्यूटर का उपयोग किये जाने के फलस्वरूप निर्णयों का विकेन्द्रीकरण कठिन हो जाता है।
6. संस्था में प्रशिक्षण की सुविधा न होने के कारण संगठन को योग्य एवं कुशल प्रबन्धक नहीं मिल पाते हैं जिससे कुशलतापूर्वक कार्य का निष्पादन कराया जा सके।
7. इसमें विशिष्टकरण के लाभों को नहीं उठाया जा सकता है।
8. विकेन्द्रीकरण जैसे साधन का सीमित उपयोग होता है क्योंकि यह उन संस्थाओं के लिए अनुपयुक्त है जिसमें व्यक्तिगत नेतृत्व, निर्णय एवं समन्वय की अधिकाधिक आवश्यकता हो।
9. इससे निर्णय लेने में देरी होती है क्योंकि आपातकाल में केन्द्रीयकृत व्यवस्था ही शीघ्र निर्णय ले सकती है।
10. इसमें परिवर्तित दशाओं में समायोजन कर पाना सहज नहीं है।

### अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की उपयुक्तता

अधिकारों का विकेन्द्रीकरण करना वहाँ उपयुक्त रहता है, जहाँ कार्य प्रमाणित एवं पुनरावृत्ति की प्रकृति का न हो, संगठन बड़ा जटिल हो, योग्य एवं कुशल प्रबन्ध हो, नियंत्रण का विस्तार व्यापक हो और प्रबन्ध के स्तर कम हो।

## विभागीकरण

### (Departmentation)

#### आशय (Meaning)

एक विभाग एक विशिष्ट संगठनात्मक इकाई है। जिसके प्रबन्धक के पास विशिष्ट क्रियाओं के निष्पादन की सत्ता होती है। अतः किसी उपक्रम या संस्था के विभिन्न कार्यों को विशिष्टीकरण या बेहतर प्रबन्ध की दृष्टि से पृथक्-पृथक् विभागों में विभाजित करने को विभागीकरण कहते हैं। इस प्रकार विभागीकरण का अर्थ इकाइयों की स्थापना करने से है, जिन्हें सम्बन्धित कार्यों, क्रियाओं अथवा कर्तव्यों के समूह सौंपे जाते हैं। ताकि प्रशासन को सुविधा मिल सके एवं उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सके।

**कून्टज एण्ड ओ' डोनेल के अनुसार,** "विभागीकरण एक विशाल एकात्मक कार्यात्मक संगठन की छोटी-छोटी लोचशील प्रशासनीय इकाइयों में बाँटने की एक प्रक्रिया है।"

#### विभागीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Departmentation)

विभागीकरण की विशेषताएँ या लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. यह व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक संगठन में किया जा सकता है।
2. इसमें नियोजन एवं निर्देशन के अन्तर्गत विशिष्टीकरण हेतु कोई युक्तिसंगत आधार तैयार किया जाता है।
3. इसमें विभागों को पृथक्-पृथक् बाँटा जाता है।

4. एक ही प्रकार की क्रियाओं का छोटी इकाइयों के रूप में समूहीकरण किया जाता है।
5. यह संगठन की छोटी-छोटी एवं लोचशील प्रशासकीय इकाइयों में बाँटने की एक प्रक्रिया है।

### विभागीकरण के आधार या प्रकार (Basis or Types of Departmentation)

विभागीकरण का कोई एक आधार या प्रकार नहीं है जो सभी संगठनों में क्रियान्वित किया जा सके। यह तो संगठन की आवश्यकता एवं कार्यों की प्रकृति के आधार पर किया जा सकता है।

संक्षेप में, विभागीकरण के आधार निम्नलिखित बनाये जा सकते हैं –

1. **कार्यों के आधार पर (On the Basis of Functions)** – यदि संगठन के विभिन्न कार्यों के अनुसार विभागीकरण किया जाता है तो उसे कार्यों के आधार पर विभागीकरण कहते हैं। ऐसे संगठन में कई कार्य होते हैं, जैसे– उत्पादन, वित्त, क्रय, विक्रय एवं सेविवर्गीय आदि। यदि संगठन में इन कार्यों के अनुसार उत्पादन विभाग, विपणन विभाग, वित्त विभाग, मानव संसाधन विभाग आदि विभागों का निर्माण किया जाता है तो वह कार्यों के आधार पर विभागीकरण होता है। ये उच्च प्रबन्ध के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

कार्यों के आधार पर विभागीकरण के **लाभ या गुण** निम्नलिखित हैं –

- (i) इसमें विशिष्टीकरण के लाभों को प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि यह विशिष्टीकरण या कार्य विभाजन के सिद्धान्त का पालन करता है।
- (ii) इससे कार्यों का तर्कसंगत स्पष्टीकरण सम्भव बनता है।
- (iii) यह किसी संस्था का सरल, मितव्ययी एवं उचित आधार है।
- (iv) यह समन्वय की सुविधा प्रदान करता है।
- (v) इस प्रकार के विभागीकरण से भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का प्रभावी ढंग से उपयोग किया जा सकता है।

कार्यों के आधार पर विभागीकरण की **हानियाँ या दोष** निम्नलिखित हैं–

- (i) इसमें विशिष्टीकरण पर अधिक जोर तो दिया जात है जो अमितव्ययी होता है।
- (ii) इससे संस्था के विकास के साथ-साथ अधिकारों के केन्द्रीकरण को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।
- (iii) सामान्य प्रबन्धकों के विकास में बाधा आती है।
- (iv) इससे संस्था में अन्तर्विभागीय संघर्षों का जन्म होता है।
- (v) इससे लालफीताशाही को अधिक बढ़ावा मिलता है। इसका दुष्प्रभाव सम्पूर्ण कार्य पर पड़ता है जिसके ठप्प होने की सम्भावना अधिक है।

2. **क्षेत्र के आधार पर (On the Basis of Area)** यदि किसी उपक्रम के संगठन को भौगोलिक क्षेत्र में विभाजित कर उनके कार्यों को अलग-अलग व्यक्तियों को सौंपा जाता है तो उसे क्षेत्र के आधार पर विभागीकरण कहते हैं। इसके अन्तर्गत समस्त क्रियाओं का क्षेत्र के आधार पर समूहीकरण किया जाता है और उन्हें एक प्रबन्धक को सुपुर्द कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, पूर्वी क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र, उत्तरी क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र एवं प्रत्येक क्षेत्र में प्रबन्धक। ये प्रबन्धक अपने में सम्पूर्ण प्रशासनिक इकाई होते हैं।

क्षेत्र के आधार पर विभागीकरण के **लाभ या गुण** निम्नलिखित है –

- (i) इसके अन्तर्गत निर्णयन में स्थानीय हिस्सेदारी को प्रोत्साहन मिलता है।
- (ii) इससे यातायात लागत कम होती है।
- (iii) ग्राहकों को भलीभाँति सेवा प्रदान की जा सकती है।
- (iv) समन्वय सरल होता है।
- (v) प्रबन्धक द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं, आलोचनाओं एवं अन्य समस्याओं पर पर्याप्त ध्यान दिया जा सकता है।

क्षेत्र के आधार पर विभागीकरण की **हानियाँ या दोष** निम्नलिखित हैं—

- (i) यह एक खर्चीला आधार है।
- (ii) इस प्रकार के विभागीकरण से समन्वय में कठिनाई आती है।
- (iii) इससे कार्यों के दोहरावीकरण की सम्भावना बढ़ जाती है।
- (iv) इससे नियंत्रण कार्य बहुत जटिल बन जाता है।
- (v) ऐसे विभागीकरण हेतु सामान्य ज्ञान रखने वाले प्रबन्धकों की अधिक आवश्यकता पड़ती है।

3. **उत्पादों के आधार पर (On the Basis of Products)** – जब किसी उपक्रम द्वारा एक से अधिक वस्तुओं का निर्माण किया जाता है तो उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं/उत्पादों के आधार पर जो विभागीकरण किया जाता है, उसे उत्पादों के आधार पर विभागीकरण कहा जाता है। इसमें प्रत्येक निर्मित वस्तु के लिए अलग-अलग तकनीकी स्टाफ की नियुक्ति की जाती है, प्रत्येक विभाग अपने आप में आत्मनिर्भर होता है और प्रत्येक वस्तु से सम्बन्धित समस्त क्रियाओं को सम्बन्धित विभाग के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। उदाहरणार्थ, उत्पाद 'अ', 'ब' एवं 'स' के अलग-अलग प्रबन्धक एवं प्रत्येक प्रबन्धक के अधीन पर्यवेक्षक या अधिकारी होते हैं।

उत्पादों के आधार पर विभागीकरण के **लाभ या गुण** निम्नलिखित है –

- (i) इससे विशिष्टीकरण के लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।
- (ii) इसमें कार्यों में हस्तक्षेप की सम्भावना नहीं रहती है।
- (iii) इसमें उत्पाद विशेष से सम्बन्धित उत्तरदायित्व का निर्धारण करना सरल है।
- (iv) इसमें उत्पादों में विधिवत् तथा विकास के अवसर अच्छे रहते हैं।
- (v) इसके अन्तर्गत प्रत्येक उत्पाद पर समुचित ध्यान दिया जाता है। परिणामस्वरूप उत्पाद विस्तार, सुधार एवं विविधीकरण के लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।

उत्पादों के आधार पर विभागीकरण की **हानियाँ या दोष** निम्नलिखित हैं—

- (i) इससे प्रबन्धकीय एवं संचालन लागत बढ़ जाती है।
- (ii) इससे उच्च स्तर पर नियंत्रण की समस्या उत्पन्न हो जाती है।
- (iii) विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने की समस्या जटिल हो जाती है।
- (iv) सस्था में प्रत्येक उत्पाद का पर्याप्त उत्पादन न होने की दशा में विशिष्टीकरण से प्रति इकाई लागत बढ़ जाती है।
- (v) इसमें प्रत्येक उत्पादन से सम्बन्धित अलग विभाग होने के कारण दो या अधिक विभागों द्वारा कार्यों के दोहराव की समस्या बनी रहती है।

4. **ग्राहकों के आधार (On the Basis of Customers)** – जब संगठन की क्रियाओं का समूहीकरण ग्राहकों के आधार पर किया जाता है तो उसे ग्राहकों के आधार पर विभागीकरण कहते हैं। अन्य शब्दों में, ग्राहकों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए क्रियाओं का समूह बनाना और उन्हें विभागों का रूप देना ग्राहकों के आधार पर विभागीकरण कहा जाता है। इस प्रकार का विभागीकरण ग्राहकों की आयु, मात्रा, वर्ग, अथवा उपभोक्ता, ग्राहक, औद्योगिक ग्राहक एवं विदेशी ग्राहक अथवा निजी, सरकारी, विदेशी क्षेत्र के ग्राहकों के आधार पर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक उत्पादक अपने यहाँ थोक व्यापार विभाग, फुटकर व्यापार विभाग और निर्यात विभाग आदि की स्थापना कर सकता है।

ग्राहकों के आधार पर विभागीकरण के **लाभ या गुण** निम्नलिखित हैं –

- (i) इसमें सभी प्रकार के ग्राहकों को सन्तुष्ट किया जा सकता है।
- (ii) इसमें ग्राहकों की प्रतिक्रियाओं का ज्ञान आसानी से किया जा सकता है।
- (iii) इसमें विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।
- (iv) प्रत्येक ग्राहक की विभिन्न क्रियाओं में पूर्ण समन्वय रहता है।
- (v) इससे बड़े पैमाने के उत्पादन, अधिक उत्पादन के साथ-साथ विक्रय का कार्य भी कर सकते हैं।

ग्राहकों के आधार पर विभागीकरण की **हानियाँ या दोष** निम्नलिखित हैं–

- (i) इसमें विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना कठिन होता है।
- (ii) इस प्रकार के विभागीकरण से संचालन लागत बढ़ जाती है।
- (iii) इसमें अल्प रोजगार की समस्या बनी रहती है।
- (iv) मन्दीकाल में संचालन लागत बढ़ जाती है।
- (v) इसमें विक्रय के आधार पर बोनस देने की दशा में विभिन्न विक्रय समूहों के मध्य समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं।

5. **प्रक्रिया के आधार पर (On the Basis of Process)** – सम्पूर्ण संस्था के उत्पादों को निर्माण प्रक्रिया के आधार पर संगठित किया जाता है तो उसे प्रक्रिया के आधार पर विभागीकरण कहते हैं। अन्य शब्दों में, उत्पाद कई प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है, तभी वस्तु हमारे प्रयोग के योग्य बनती है। जब संस्था अपने सम्पूर्ण संगठन को वस्तु के निर्माण में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के आधार पर विभक्त कर देती है तो इसे प्रक्रिया के आधार पर विभागीकरण के नाम से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरण, वस्त्र निर्माण संस्था कपास की ओटाई, पिनाई, कताई, बुनाई एवं रंगाई करने की विभिन्न प्रक्रिया का पूर्ण करना। ऐसी स्थिति में प्रत्येक प्रक्रिया के लिए पृथक् विभाग एवं उसका प्रबन्धक होता है।

प्रक्रिया के आधार पर विभागीकरण के **लाभ या गुण** निम्नलिखित हैं –

- (i) इससे संचालन में मितव्ययता प्राप्त होती है।
- (ii) इससे विशिष्टीकरण के लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।
- (iii) प्रत्येक कार्य सावधानीपूर्वक किये जाने से संस्थान लाभदायक स्थिति में होती है।
- (iv) भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का समुचित उपयोग सम्भव है।
- (v) इस प्रकार के विभागीकरण में तीव्र गति से तकनीकों में परिवर्तन एवं मशीनों का प्रयोग किया जा सकता है।

प्रक्रिया के आधार पर विभागीकरण की **हानियाँ या दोष** निम्नलिखित हैं–

- (i) यह एक खर्चीला प्रारूप है।
- (ii) यह केवल बड़े संस्थानों के लिए उपयोगी हो सकता है।
- (iii) इसमें अनावश्यक विशिष्टीकरण होने की सम्भावना बनी रहती है।
- (iv) इसके लिए अधिक स्थान विनियोग की आवश्यकता नहीं पड़ती है।
- (v) एक विभाग द्वारा निश्चित समय पर निश्चित कार्य न करने पर दूसरे विभाग को हानि होने की सम्भावना बनी रहती है।

6. **संयुक्त आधार पर (On the Basis of Combination)** – यदि कार्य, वस्तुओं, क्षेत्र, ग्राहक एवं प्रक्रिया आधारों में से एक से अधिक घटकों को आधार बनाकर क्रियाओं को समूहों में विभाजित किया जाये तो इसे संयुक्त आधार पर विभागीकरण कहा जाता है। निगमिय मुख्यालय एवं डिवीजन स्तर पर विभागीकरण के अलग-अलग आधार रखे जा सकते हैं। अन्य शब्दों में, जिस संगठन के ग्राहकों की संख्या अधिक होती है, निर्मित वस्तुओं की संख्या अधिक होती है और व्यावसायिक क्षेत्र भी विस्तृत होता है तो उपर्युक्त विभागीकरण का कोई आधार या प्रकार उपयुक्त नहीं रहता है तो जिस आधार को मानकर संगठन का विभागीकरण किया जाता है तो उसे संयुक्त आधार पर विभागीकरण कहते हैं।

संयुक्त आधार पर विभागीकरण के **लाभ या गुण** निम्नलिखित हैं –

- (i) इसमें प्रत्येक अधिकारी प्रबन्धक को उत्तरदायी ठहराना आसान है।
- (ii) इससे विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है।
- (iii) इसमें पर्याप्त लोचशीलता देखी जा सकती है।
- (iv) संयुक्तीकरण के सभी लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।
- (v) यह तर्कसम्मत प्रकार है।

संयुक्त आधार पर विभागीकरण की **हानियाँ या दोष** निम्नलिखित हैं—

- (i) इसमें कार्यों के प्रति संदिग्धता हो सकती है।
- (ii) इसमें दोहरेपन की समस्या जन्म ले सकती है।
- (iii) इससे लागत बढ़ती है।
- (iv) इसमें विभिन्न कार्य, उत्पाद, ग्राहक, क्षेत्र एवं प्रक्रिया में समन्वय करना कठिन है।
- (v) इसका प्रभावी नियंत्रण करने में भी कठिनाइयाँ हैं।

**प्रश्न बोध –**

**लघुतरात्मक प्रश्न—**

3. अधिकारों के केन्द्रीकरण से आप क्या समझते हैं।
4. अधिकारों का विकेन्द्रीकरण किसे कहते हैं।
5. विभागीकरण से आप क्या समझते हैं।

**निम्बन्धात्मक प्रश्न –**

3. अधिकारों के केन्द्रीकरण के लाभ एवं दोषों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
4. अधिकारों के विकेन्द्रीकरण के लाभ एवं दोषों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
5. विभागीकरण के विभिन्न आधारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।



## अध्याय — षष्ठम

### संगठन संरचना

#### [Organisation Structure]

किसी भी संस्था में जहाँ सामान्य उद्देश्यों को समूह के प्रयासों द्वारा प्राप्त किया जाना हो, वहाँ संगठन में विभिन्न स्थितियों, पदों एवं सम्पूर्ण कार्य-समूह के मध्य लम्बवत् व समतल सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं, जो पूर्ण रूप से औपचारिक होते हैं। इस प्रकार संगठन संरचना एक ढाँचे के रूप में होती है। जिसमें विभिन्न व्यक्तियों के अर्न्तसम्बन्धों का जाल बिछा हुआ होता है।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि— किसी उपक्रम की सम्पूर्ण संगठनात्मक व्यवस्था व कार्यरत व्यक्तियों के सम्बन्धों को प्रदर्शित करने वाला ढाँचा संगठन संरचना कहलाता है।

#### आशय (Meaning) –

संगठन संरचना का आशय किसी उपक्रम की समग्र संगठन व्यवस्था का रूप निर्धारित करने से है। यह संगठनात्मक कलेवर उपक्रम का वह रूप प्रस्तुत करता है। जिसके अनुसार संस्था के प्रशासनिक सम्बन्ध स्थापित एवं विकसित किये जाते हैं। इस प्रकार, संगठन, संरचना संस्था के समस्त प्रबन्धकों एवं व्यक्तियों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संस्था में स्थिति, उनकी भूमिका, दायित्वों, अधिकारों एवं उनके सम्बन्धों को व्यक्त करने वाला ढाँचा है जिनमें उन पक्षकारों के मध्य औपचारिक तथा प्रशासनिक सम्बन्धों की व्याख्या करना है।

#### परिभाषाएँ (Definitions)

हेनरी एच. अल्बर्ट के अनुसार — “संगठन – संरचना वह ढाँचा है, जिसके अन्तर्गत प्रबन्धकीय एवं कार्यात्मक कार्य निष्पादित किये जाते हैं।”

विकेसबर्ग के अनुसार — “संगठन संरचना व्यक्तियों तथा समूहों के मध्य विद्यमान सम्बन्धों को प्रकट करता है।”

जेम्स स्टोनर के अनुसार — “संगठन संरचना से आशय किसी कम्पनी के अंगों और पद-स्थितियों की व्यवस्था तथा अर्न्तसम्बन्धों से है।”

#### विशेषताएँ (Characteristics)

1. यह व्यावसायिक क्रियाओं के निष्पादन एवं परिणामों की प्राप्ति का एक साधन है।
2. यह किसी उपक्रम में कार्य करने वाले प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों के मध्य कार्यकारी सम्बन्धों की व्यवस्था करता है।
3. इसमें संस्था के सम्पूर्ण कार्यों को छोटे-छोटे एवं उप-कार्यों में विभाजित कर विभिन्न भूमिकाओं एवं स्थितियों का निर्माण किया जाता है।
4. यह किसी संस्था में कार्यरत प्रबन्धकों, कर्मचारियों एवं उनके समूहों के मध्य व्यवहारों के लिए बनाया गया ढाँचा होता है।
5. इसमें परस्पर सम्बन्धित कार्यों का समूहीकरण करके विभिन्न विभागों को कार्य सौंपे जाते हैं।
6. यह कर्मचारियों के मध्य पारस्परिक औपचारिक सम्बन्धों की व्यवस्था है। इसके आधार पर अधीनस्थ कर्मचारियों की स्थिति, कार्य-पद्धतियों, नीतियों, निर्देशों एवं उद्देश्यों की व्याख्या की जाती है।
7. विभिन्न पक्षकारों के मध्य सम्बन्धों को चार्ट्स एवं मेनुअल्स द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

8. संगठन-संरचना में कार्यों के निष्पादन हेतु कर्मचारियों के अधिकारों एवं दायित्वों का निर्धारण किया जाता है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रकृति एवं मात्रा भी निश्चित की जाती है।
9. संगठन संरचना की प्रशासनिक व्यवस्था में लम्बवत्, समतल एवं पार्श्विक कार्यकारी सम्बन्धों, कार्य प्रवाह एवं सहायक अंगों को दर्शाया जाता है।
10. संगठन-संरचना के निर्माण के लिए ये कदम उठाने पड़ते हैं। कार्यात्मक विभागों का ज्ञान, कार्यात्मक निर्णय किस स्तर पर प्रभावी ढंग से लिये जायेंगे, आवश्यक सामग्री एवं विशेषज्ञों की स्थिति का ज्ञान और इनके अनुकूल उपयोग के लिए उन्हें संगठन संरचना में स्थापित करना।

## संगठन संरचना को प्रभावित करने वाले घटक

### [Contingency Factors Affecting of Organization Structure]

संगठन-संरचना संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति का एक साधन होती है। इसलिए इसको उपयुक्त रूप देना प्राथमिक आवश्यकता है। अतः संगठन-संरचना किस प्रकार की होगी। यह कई घटकों पर निर्भर करता है। न्यूमैन के अनुसार, "संगठन-संरचना निर्धारित करते समय अधिकारियों की सीमा, कर्मचारियों की योग्यता, विशिष्टीकरण की दशाएँ, संगठन की लागत, सम्प्रेषण प्रणाली आदि कई बातों को ध्यान में रखना चाहिए।"

संगठन-संरचना को प्रभावित या निर्धारित करने वाले घटक निम्नलिखित हैं -

1. **संगठन के उद्देश्य** - संगठन स्वयं अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है यह तो उद्देश्यों की प्राप्ति का एक साधन है। अतः इसे ध्यान में रखते हुए संगठन-संरचना का निर्माण करना चाहिए। संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न कार्य करने पड़ते हैं एवं कई निर्णय भी लेने पड़ते हैं। ऐसी दशा में संगठन-संरचना का निर्माण करते समय उद्देश्यों की प्राप्ति में कार्यों तथा निर्णयों को ध्यान में रखना चाहिए। इसलिए आर.सी.डेविस ने कहा कि "संगठन-संरचना का आधारभूत निर्धारक तत्त्व संस्था के उद्देश्य है।"
2. **व्यवसाय की प्रकृति** - संस्था किस प्रकार का व्यवसाय अथवा कार्य करती है, भी संगठन-संरचना को प्रभावित करती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक संस्था किन्हीं विशेष कार्यों के निष्पादन के लिए निर्मित होती है। जैसे - उद्योग की प्रकृति, व्यावसायिक, निर्माणी अथवा संयोगीकरण की हो सकती है। ऐसी दशा में प्रायः औद्योगिक क्रियाओं में संलग्न उपक्रमों की संगठन-संरचना कार्यों के आधार पर निर्मित होती है।
3. **संगठन का आकार** - संगठन का आकार भी किसी संस्था के संगठन ढाँचे को प्रभावित करता है। यदि संगठन छोटा है तो केन्द्रीय संगठन अपनाया जा सकता है। इसके विपरीत संगठन बड़ा है तो संगठन-संरचना का निर्माण विशिष्टीकरण एवं अधिकारों के विकेन्द्रीकरण को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि प्रबन्धकीय कार्य आकार से भी प्रभावित होते हैं।
4. **संस्था के विकास एवं विस्तार की गति** - संगठन-संरचना का एक अन्य निर्धारक घटक विकास-विस्तार की गति भी है, जो लोचपूर्ण एवं गत्यात्मक बनाये रखने पर बल देता है। सामान्यतः किसी उपक्रम की संगठन-संरचना का निर्माण वर्तमान आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नहीं किया जा सकता है, भावी आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। इसलिए यह देखना चाहिए कि संस्था किस गति से विकास कर रही है अथवा विशिष्टीकरण की ओर आगे बढ़ रही है।
5. **व्यापारिक क्षेत्र** - किसी उपक्रम की संगठन-संरचना पर उसके व्यापारिक क्षेत्र का भी प्रभाव पड़ता है। संस्था का व्यापारिक क्षेत्र स्थानीय, राज्यीय, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है। संस्था का व्यापारिक क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होगा, उतना ही विस्तृत संगठन-संरचना का निर्माण करना होगा।
6. **प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति** - वर्तमान में बहुत कम संस्थाएँ एकाधिकारी स्थिति में होती हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक व्यावसायिक संस्था को प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति में ही कार्य करना होता है। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए संगठन-संरचना का निर्माण करना चाहिए।

7. **संगठन में विभागीकरण** – किसी संगठन-संरचना को प्रभावित करने वाले घटकों में विभागीकरण भी एक है। विभागीकरण के कई आधार होते हैं, जैसे-वस्तु, ग्राहक, भौगोलिक क्षेत्र, प्रक्रिया एवं विक्रेता आदि। ये प्रत्यक्ष रूप से संगठन-संरचना को प्रभावित करते हैं। अतः संगठन-संरचना का निर्माण करते समय विभागीकरण को ध्यान में रखना चाहिए।
8. **प्रबन्धकों की नीतियाँ** – किसी उपक्रम की संगठन-संरचना का प्रबन्धकों की नीतियों पर भी प्रभाव पड़ता है। संस्था के प्रबन्धक समस्त अधिकारों को अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहते हैं अथवा सम्बन्धित अधिकारियों या अधीनस्थों को प्रत्यायोजित करना चाहते हैं। अतः प्रबन्धकों की नीतियों के अनुरूप ही संगठन-संरचना का निर्माण किया जाना चाहिए।
9. **पद समता** – संगठन के सभी अधिकारियों एवं अधीनस्थों में मधुर सम्बन्धों की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि एक ही अधिकारी के दो समान पद वाले अधीनस्थों के अधिकारों में भिन्नता नहीं होनी चाहिए। अन्य शब्दों में समान कार्य करने वाले दो व्यक्तियों के पद एवं अधिकारों में समता बनायी रखनी चाहिए।
10. **प्रबन्धकों की योग्यताएँ** – यदि उच्च प्रबन्धक बहुत अधिक योग्य हैं तो वे रेखा संगठन प्रारूप को अपनाकर भी एक विस्तृत आकार वाली संस्था का संचालन कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि वे अधिक योग्य एवं कुशल नहीं हैं तो उन्हें रेखा एवं कर्मचारी अथवा क्रियात्मक संगठन प्रारूप अपनाना होगा ताकि उन्हें अपनी नीतियों एवं कार्यों के निष्पादन में विशेषज्ञों तथा सहायकों का सहयोग मिल सके।
11. **परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज** – सामान्यतः किसी संस्था के प्रबन्धक वैसे ही संगठन संरचना को अपनाने का निर्णय लेते हैं जैसी संगठन-संरचनाएँ उनकी प्रतिस्पर्द्धी संस्थाएँ अपना रही हैं। जैसे-यदि कोई प्रतिस्पर्द्धी संस्था किसी अन्य स्थान पर अपनी शाखा खोलती है तो प्रबन्धक भी उसी स्थान या किसी अन्य स्थान पर शाखा खोलना उचित समझते हैं। परिणामस्वरूप संगठन-संरचना प्रभावित होती है।
12. **मानवीय एवं सामाजिक आवश्यकताएँ** – प्रत्येक संस्था में कार्य करने वाले कर्मचारियों की मानवीय एवं सामाजिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं कार्यकारी आवश्यकताएँ भी संगठन-संरचना को प्रभावित करती हैं। इनकी पूर्ति में उनमें आदर, सम्मान, मान्यता एवं अपनत्व की भावना जागृत होती है। अतः संगठन-संरचना इस प्रकार की जाये कि कार्यरत व्यक्तियों के साथ अच्छे मानवीय सम्बन्धों की स्थापना हो जाये।
13. **वातावरण- म्यूक** ने कहा कि यदि संस्था, अंशाधारियों, ग्राहक और पूर्तिकर्ताओं पर अत्यधिक निर्भर नहीं है तो संगठन-संरचना पर्याप्त रूप से लोचपूर्ण होगी अन्यथा अलोचपूर्ण। अतः संस्था को जिस आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण में कार्य करना होता है, वह भी संगठन संरचना को प्रभावित करता है। वातावरण पर यह निर्भरता जितनी कम होती है, संगठन-संरचना में लोचशीलता उतनी ही बढ़ जाती है।
14. **नियंत्रण का विस्तार** – प्रत्येक प्रबन्धक/पर्यवेक्षक में अपने सहायकों की क्रियाओं का निरीक्षण/पर्यवेक्षण करने की क्षमता सीमित होती है। इसलिए इनके नियंत्रण विस्तार की सीमा संगठन-संरचना को छोटा या बड़ा बनाती है। निम्न स्तर पर कार्य करने वाले प्रबन्धक के नियंत्रण विस्तार की सीमाओं को भी संगठन-संरचना के विकास के समय ध्यान में रखना चाहिए।
15. **परिवर्तन** – प्रत्येक संस्था के जीवन में अच्छे एवं बुरे परिवर्तन होते रहते हैं या आते रहते हैं, जो संगठन-संरचना को प्रभावित करते हैं। यदि प्रबन्धक भावी परिवर्तनों का सही पूर्वानुमान लगा लेते हैं तो संगठन-संरचना में समायोजन करने की गुंजाइश रखी जा सकती है और उसे सरल भी बनाया जा सकता है। इसके विपरीत यदि परिवर्तन आकस्मिक अथवा एकाएक होता है तो संगठन-संरचना को जटिल बनाने की प्रवृत्ति रखेंगे।
16. **संस्था की संचालकीय क्रियाएँ** – प्रबन्धक स्वयं कार्य नहीं करते बल्कि दूसरों से कार्य करवाते हैं। अतः जो व्यक्ति कार्य करते हैं वे संस्था की संगठन संरचना को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार संस्था की संचालकीय क्रियाओं का किस प्रकार विभाजन किया जाता है, किस प्रकार उनमें आपसी सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। आदि-आदि बातें संगठन संरचना को प्रभावित करती हैं।

17. **प्रबन्धकीय कार्य** – प्रबन्धक अपने कार्यों से मानवीय भौतिक साधनों की कार्यकुशलता में वृद्धि करने का प्रयास करता है। प्रबन्धक सदैव यह प्रयास करता है कि संस्था के उद्देश्यों को अधिकाधिक कुशलता से प्राप्त किया जा सके। परिणामस्वरूप, प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों पर इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं कि संस्था के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सुविधा मिले। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय कार्य भी संगठन संरचना को प्रभावित करते हैं।

## संगठन-संरचना के प्रारूप (Forms of Organization Structure)

संगठनात्मक सम्बन्धों की ऐसी कोई संरचना नहीं है जो सभी प्रकार की संस्थाओं एवं प्रत्येक स्थिति में सर्वश्रेष्ठ हो। इसलिए प्रत्येक उपक्रम के सम्बन्धों को अपनी स्वयं की संगठन संरचना का निर्माण करना पड़ता है। वर्तमान में संगठन संरचना में विभिन्न प्रकार के प्रारूप देखने को मिलते हैं। जो प्रमुख रूप से निम्नांकित है –

- I. रेखा संगठन
- II. रेखा एवं कर्मचारी संगठन
- III. क्रियात्मक संगठन
- IV. परियोजना संगठन
- V. आव्यूह संगठन
- VI. समिति संगठन

संगठन-संरचना के प्रत्येक प्रारूप का विवेचन इस प्रकार है।

### रेखा संगठन (Line Organization)

रेखा संगठन का अर्थ एक ऐसे संगठन से है जिसमें अधिकारों का प्रवाह सीधा ऊपर से नीचे की ओर तथा उत्तरदायित्व का प्रवाह नीचे से ऊपर की ओर एक सीधी रेखा में होता है। अर्थात् अधिकारों का हस्तान्तरण महा-प्रबन्धक द्वारा विभिन्न अधिकारियों से होता हुआ निम्न पदों तक किया जाता है।

लुईस ए. ऐलन के अनुसार, " रेखा संगठन वह आदेश शृंखला है जो संचालक मण्डल से अधिकारों एवं दायित्वों के कई भारार्पण एवं पुनः भारार्पण के माध्यम से उस बिन्दु तक पहुँचती है, जहाँ कम्पनी की मुख्य क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं। "

इस प्रकार रेखा संगठन एक ऐसी संगठन-संरचना होती है जिसमें उच्च स्तर से निम्न स्तर तक एक सीधी रेखा में अधिकारियों द्वारा अपने निकटतम अधीनस्थों को आदेशों-निर्देशों का प्रवाह होता है।

### रेखा संगठन के प्रकार (Types of Line Organization)

रेखा संगठन के मुख्यतः दो प्रकार होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. **शुद्ध रेखा संगठन (Pure Line Organization)** शुद्ध या विशुद्ध रेखा संगठन का तात्पर्य एक ऐसे संगठन से है जिसमें एक स्तर पर कार्य करने वाले व्यक्तियों की क्रियाएँ समान होती है और सुविधाजनक नियंत्रण के लिए क्रियाओं का वर्गीकरण किया जाता है। इस प्रकार के संगठन की यह मान्यता है कि एक स्तर पर कार्य करने वाले व्यक्तियों की क्रियाएँ एक सी होती है। लेकिन ध्यान रहे व्यवहार में यह मान्यता केवल उच्च-स्तरीय प्रबन्ध पर ही लागू होती है, निम्न स्तरीय प्रबन्ध पर नहीं।
2. **विभागीय रेखा संगठन (Departmental Line Organization)** विभागीय रेखा संगठन में संस्था की विभिन्न क्रियाओं को कई विभागों, जैसे-उत्पादन, वित्त, मानव संसाधन एवं कार्यालय आदि में विभाजित कर दिया जाता है जो अपने में पूरे होते हैं। सभी विभाग अपने-अपने विभागाध्यक्ष के अधीन कार्य करते

हैं और विभाग का प्रत्येक कर्मचारी उसी के अधीन कार्य करता है, विभागाध्यक्ष उन्हें आदेश-निर्देश देता है तथा कर्मचारी उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं।

### रेखा संगठन की विशेषताएँ (Characteristics of Line Organization)

रेखा संगठन की मुख्य विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं –

1. अधिकारसत्ता एक सीधी रेखा में ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होती है।
2. इसमें अधिकारियों एवं अधीनस्थों के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध लम्बवत् रूप में होते हैं।
3. सभी आदेश-निर्देश केवल एक ही व्यक्ति द्वारा जारी किये जाते हैं।
4. प्रत्येक अधिकारी या अधीनस्थ अपने निकटतम अधिकारी से आदेश प्राप्त करता है।
5. सभी कार्यों का अन्तिम दायित्व सर्वोच्च अधिकारी का होता है।
6. इसमें कार्यों के आधार विशिष्टीकरण का अभाव होता है।
7. इसमें अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है।
8. एक श्रमिक का एक अधिकारी होता है, वही आदेश देता है।
9. नियोजन एवं क्रियान्वयन का अर्थ पृथक्-पृथक् होता है।
10. प्रबन्धकों एवं अधीनस्थों का संख्या सीमित होता है।

### रेखा संगठन के लाभ (Advantage of Line Organization)

रेखा संगठन के लाभ या गुण निम्नलिखित हैं –

1. यह सरल एवं शीघ्र समझ में आने वाला है।
2. इसमें अनुशासन बना रहता है।
3. इसमें प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार, दायित्व एवं सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं।
4. यह कम खर्चीला है क्योंकि इसमें विशेषज्ञों की नियुक्ति नहीं की जाती है।
5. इसमें शीघ्र निर्णय लिया जा सकता है क्योंकि अधिकारसत्ता का केन्द्रीकरण होता है।
6. इसमें अनावश्यक शंकाएँ एवं समस्याएँ उत्पन्न नहीं होती हैं क्योंकि एक ही नायक द्वारा आदेश-निर्देश दिये जाते हैं।
7. इसके अन्तर्गत क्रियाओं एवं निर्देशों में परिवर्तन करना सरल होता है क्योंकि अधीनस्थों की संख्या कम होती है।
8. इसमें कार्यों, क्रियाओं, निर्णयों का निष्पादन, नियंत्रण एवं समन्वय प्रभावी होता है क्योंकि इसका आकार छोटा होता है।
9. व्यक्तियों को अपनी प्रबन्ध क्षमता को विकसित करने का अवसर मिलता है।
10. संगठन के इस प्रारूप में प्रबन्धकों का कर्मचारियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क रहता है। अतः शीघ्र सम्प्रेषण एवं सहयोग होता है।

### रेखा संगठन की हानियाँ (Disadvantage of Line Organization)

रेखा संगठन के हानियाँ या दोष निम्नलिखित हैं –

1. इसमें विभागीय अधिकारियों की प्रेरणा एवं पहलशक्ति समाप्त हो जाती है।
2. यह प्रारूप समन्वय एवं सहयोग को सीमित करता है क्योंकि विभाग स्वतंत्र होते हैं।

3. इसमें उच्चाधिकारी कार्यभार से दब जाते हैं क्योंकि नियोजन, क्रियान्वयन एवं उत्तरदायित्व का कार्य केन्द्रित होता है।
4. इस प्रारूप में नियम संस्था के सेवक न रहकर स्वामी हो जाते हैं और वे व्यक्तियों के लिए नहीं रहते हैं, अपितु व्यक्ति नियमों के हो जाते हैं।
5. यह प्रारूप विशेषज्ञों की आवश्यकता पर जोर नहीं देता है।
6. विभागीय अधिकारियों को विकास करने का अवसर प्राप्त नहीं होता है।
7. इस प्रारूप का नायक एवं कर्ता-धर्ता एक ही व्यक्ति होता है और परामर्श हेतु कोई विशेषज्ञ नहीं होता है। अतः संस्था के संचालन में स्वेच्छारिता तथा तानाशाही के दोष उत्पन्न हो जाते हैं।
8. प्रबन्धकों की कर्मचारियों पर निर्भरता बढ़ जाती है क्योंकि इसमें एक और सहायक नहीं होते हैं तो दूसरी ओर कार्यभार अधिक होता है।
9. अधीनस्थों में पहलपन की भावना का विकास नहीं होता है।
10. कर्मचारियों की पदोन्नति में कठिनाई आती है।

### रेखा संगठन के उपयोगिता (Suitability of Line Organization)

रेखा संगठन उन उपक्रमों के लिए उपयुक्त है जो छोटे हों, गैर-तकनीकी हों, कर्मचारियों की संख्या कम हो, जहाँ क्रियाओं का विभाजन एवं समन्वय सरलता और जहाँ क्रियाओं की संख्या भी सीमित हो।

### (II) रेखा एवं कर्मचारी संगठन (Line and Staff Organization) –

रेखा एवं कर्मचारी संगठन का अर्थ एक ऐसे प्रारूप से है जिसमें रेखा प्रबन्धकों की सहायता के लिए कर्मचारी प्रबन्धकों की नियुक्ति परामर्शदाताओं के रूप में की जाती है। अन्य शब्दों में, यह वह प्रारूप है जिसके अन्तर्गत रेखाधिकारी समस्त आदेशात्मक एवं निर्देशात्मक कार्य करते हैं और विशेषज्ञ सम्बन्धित समस्या पर विचार कर रेखाधिकारी को परामर्श देते हैं जिसे वे स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है। अतः कर्मचारी सोचने एवं परामर्श से सम्बन्ध रखते हैं जबकि रेखाधिकारी कार्य करने एवं करवाने से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए इन्हें अपने अधीनस्थों को आदेश देने का पूर्ण अधिकार है। रेखा एवं कर्मचारी संगठन की परिभाषा देते हुए **लुइस ए. ऐलन ने कहा कि**, "रेखागत कार्य वे हैं जो कि उपक्रम के उद्देश्यों को पूरा करने के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होते हैं, जबकि विशेषज्ञ से आशय संगठन के उन व्यक्तियों से है जो उपक्रम के उद्देश्यों को प्रभावशाली ढंग से प्राप्त करने के लिए रेखाधिकारियों की सहायता करते हैं।"

इस प्रकार वह संगठन-संरचना जो रेखा प्रबन्धकों एवं स्टॉफ प्रबन्धकों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए संस्था को उसके उद्देश्यों की पूर्ति में सहयोग करती है, उसे रेखा एवं कर्मचारी संगठन के नाम से पुकारा जाता है।

### रेखा एवं कर्मचारी संगठन की विशेषताएँ

#### (Characteristics of Line and Staff Organization)

रेखा एवं कर्मचारी संगठन की मुख्य विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं –

1. इसमें 'सोचने' एवं 'करने'का कार्य अलग-अलग व्यक्तियों का होता है।
2. अधिकार ऊपर से नीचे की ओर सीधी रेखा में प्रवाहित होते हैं।
3. रेखा-प्रमुख अधिकारी, जबकि स्टॉफ-कर्मचारी विशेषज्ञ होते हैं।
4. दायित्व नीचे से ऊपर की ओर सीधी रेखा में प्रवाहित होते हैं।
5. विशेषज्ञों पर दिये गये परामर्श को मानना या न मानना रेखाधिकारियों पर निर्भर करता है।

6. रेखाधिकारियों को ही अपने अधीनस्थों को आदेश देने का अधिकार होता है, स्टॉफ के व्यक्तियों को नहीं।
7. इसमें रेखा एवं विशेषज्ञ दोनों ही सेवाएँ उपलब्ध होती हैं।
8. रेखाधिकारी दैनिक कार्यों का संचालन करते हैं, जबकि विशेषज्ञ समस्याओं का समाधान खोजते हैं।

### रेखा एवं कर्मचारी संगठन के लाभ (Advantages of Line and Staff Organization)

रेखा एवं कर्मचारी संगठन निम्नलिखित लाभ अथवा गुण है –

1. प्रबन्धकीय कार्यों से विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलता है क्योंकि इसमें रेखाधिकारी को परामर्श देने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है।
2. इसमें रेखाधिकारी के कार्यभार में कमी आती है और वह अपना अधिक समय महत्वपूर्ण कार्यों में लगा सकता है।
3. प्रबन्धकीय योग्यता का विकास होता है क्योंकि विशेषज्ञों से विभिन्न समस्याओं पर परामर्श मिलता रहता है।
4. विशेषज्ञों द्वारा विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के उपरान्त उनके परामर्श पर निर्णयन के आधारित होने के कारण श्रेष्ठ निर्णय लिये जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।
5. कुशल कर्मचारियों को पदोन्नति के अवसर मिलते हैं।
6. इसमें लोचता पायी जाती है। इसलिए व्यवसाय के बढ़ने के साथ-साथ संगठन का आकार भी बढ़ाया जा सकता है।
7. इसमें प्रशासन की कुशल पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता है।
8. इसमें विशेषज्ञों का प्रशिक्षण के साधन के रूप में लाभ उठाया जा सकता है।

### रेखा एवं कर्मचारी संगठन की हानियाँ

#### (Dis-advantages of Line and Staff Organization)

रेखा एवं कर्मचारी संगठन की हानियाँ या दोष निम्नलिखित हैं –

1. जब तक स्टॉफ के सदस्यों के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को चार्ट्स एवं मैनुअल्स द्वारा स्पष्ट रूप से सूचित न किये गये हों, तब तक उनमें भ्रम की आशंका रह सकती है।
2. गलत परामर्श देने पर विशेषज्ञों को उत्तरदायी भी नहीं ठहराया जा सकता है।
3. विशिष्ट कर्मचारियों एवं रेखाधिकारियों के अन्तर्गत आपसी सम्बन्धों में मतभेद उत्पन्न हो जाता है।
4. निर्णय से पूर्व कर्मचारी, अधिकारियों से परामर्श लेने में समय लगने पर निर्णय में विलम्ब हो जाता है।
5. प्रबन्धकीय वेतन का व्यय भार बढ़ जाता है क्योंकि विशेषज्ञों की नियुक्ति से संगठन में प्रबन्धकों के पद में वृद्धि हो जाती है।
6. अनेक बार रेखाधिकारी, कर्मचारी, अधिकारियों के अच्छे सुझावों एवं परामर्शों की उपेक्षा भी कर देते हैं जिससे विशेषज्ञों का होना भी निरर्थक हो जाता है।
7. रेखाधिकारियों में हीनभावना उत्पन्न हो सकती है।
8. अधिकारी कभी-कभी विशेषज्ञों के कार्यों का विरोध कर सकते हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि विशेषज्ञों की उपस्थिति से उनके सम्मान एवं प्रभाव को धक्का पहुँचेगा।

### रेखा एवं कर्मचारी संगठन की उपयुक्तता

#### (Suitability of Line and Staff Organization)

रेखा एवं कर्मचारी संगठन वहाँ उपयुक्त होता है जहाँ बड़े एवं जटिल कार्यों वाले व्यवसाय हों, कार्यों में विविधता हो एवं जिन व्यवसायों में विशिष्टीकरण अनिवार्य है।

### (III) क्रियात्मक संगठन (Functional Organization)

क्रियात्मक संगठन का अर्थ संगठन के ऐसे प्रारूप से है जिसमें क्रियाओं के विभिन्न समूहों के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है और विशेषज्ञों को अपने-अपने विशिष्ट कार्यों के सम्बन्ध में कर्मचारियों को आदेश देने हेतु रेखा अधिकारसत्ता दिये जाते हैं। अन्य शब्दों में, यह वह संगठनात्मक संरचना है जिसमें अधिकार सत्ता की रेखाएँ कई क्रियात्मक विशेषज्ञों के मध्य होती हुई प्रत्येक कर्मचारी तक पहुँचती है। इसलिए इसको 'क्रियात्मक फोरमैनिशिप' भी कहते हैं।

क्रियात्मक संगठन के जन्मदाता एफ.डब्ल्यू टेलर के अनुसार, "क्रियात्मक प्रबन्ध का अर्थ प्रबन्ध का इस प्रकार विभाजन करने से है जिसके सहायक अधीक्षक से लेकर नीचे तक के व्यक्तियों को इतने कार्य दिये जाए जितने वे आसानी से पूरे कर सकें। यदि सम्भव हो सके तो प्रबन्ध के प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही महत्त्वपूर्ण कार्य दिया जाना चाहिए।"

इस प्रकार क्रियात्मक संगठन का अर्थ एक ऐसे प्रारूप से है जिसमें अधिकारियों को विभागों की बजाय कार्यों के आधार पर बाँटा जाता है जिसे भी विभिन्न छोटे-छोटे कार्यों में विभाजित करते हैं एवं विशेषज्ञ को सौंपते हैं ताकि विशिष्टीकरण के लाभ उठाये जा सकें।

### क्रियात्मक संगठन की विशेषताएँ (Characteristics of Functional Organization)

क्रियात्मक संगठन की विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं –

1. यह प्रारूप श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है।
2. इसमें कार्यों का प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित या विशिष्ट क्रियाओं के आधार पर विभाजित किया जाता है।
3. इसमें विशेषज्ञों द्वारा कार्यों का निष्पादन किया जाता है।
4. इसमें नियोजन एवं क्रियान्वयन में पृथकता होती है।
5. प्रत्येक विशेषज्ञ केवल अपने क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यों के लिए ही आदेश-निर्देश दे सकता है।
6. इसमें प्रत्येक व्यक्ति को कार्य का छोटे से छोटा भाग क्रियान्वयन हेतु सौंपा जाता है। व्यक्तियों को कार्यों का सफलतापूर्वक निष्पादन करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है।
7. प्रत्येक विभाग अपने कार्य को पूरा करने के लिए उत्तरदायी होता है।
8. अधिकारों का प्रत्यायोजन ऊपर से नीचे की ओर कार्यों के अनुसार होता है।

### क्रियात्मक संगठन के लाभ (Advantages of Functional Organization)

क्रियात्मक संगठन के लाभ या गुण अग्रलिखित हैं—

1. इसमें विशिष्टीकरण को बढ़ावा मिलने से कार्यक्षमता उत्पन्न होती है।
2. इसमें प्रत्येक श्रमिक अपनी अधिकतम योजना, क्षमता एवं अनुभव का उपयोग करता है।
3. यह विवेकीकरण के माध्यम से बहुत बड़े उत्पादन में सहयोग करता है।
4. निर्णय शीघ्र एवं एकरूप लिये जा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक अधिकारी को अपने से सम्बन्धित कार्यक्षेत्र में निर्णय लेने की स्वतंत्रता होती है।
5. इसमें सभी क्रियात्मक प्रबन्धकों को समान अधिकार होने के फलस्वरूप सबका महत्त्व एवं सम्मान समान तथा पूरा होता है।
6. यह अधिकारियों को विशिष्ट तकनीकी मामलों पर सोचने के बोझ को हल्का कर देता है।



7. एक व्यक्ति नियंत्रण के दोष समाप्त हो जाते हैं।
8. **ग्ल्यूक के अनुसार** "यह सुप्रशिक्षित विशेषज्ञ प्रबन्धकों को तैयार करता है, प्रमुख क्रियात्मक कार्यों को स्थिति प्रदान करता है, उत्पादन एवं परिणामों की माप को सरल बनाता है और उच्च स्तरीय प्रबन्ध नियंत्रण को बनाये रखता है।"

### क्रियात्मक संगठन की हानियाँ (Dis-advantages of Functional Organization)

क्रियात्मक संगठन की हानियाँ अथवा दोष निम्नलिखित हैं –

1. इसमें विभागों तथा उप-विभागों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना कठिन होता है।
2. इसमें आदेशों की एकता समाप्त हो जाती है और खराब निष्पादन के लिए किसी व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराना मुश्किल हो जाता है।
3. इसमें कागजी कार्यवाही अधिक होती है एवं निर्णय लेने में भी देरी होती है। इसका कारण यह है कि छोटे-छोटे कार्यों के लिए सूचनाएँ तथा आदेश निकालने पड़ते हैं।
4. प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों में अनुशासन स्थापित कठिन होता है क्योंकि विशेषज्ञों में पारस्परिक मतभेद होता है।
5. इसमें परम्पराव्यापी अधिकारसत्ता के दोष उत्पन्न हो जाते हैं जैसे-अधिकारियों की संख्या अधिक होना, कर्मचारी किसके आदेश प्राथमिकता दें आदि।
6. यह कर्मचारियों के मनोबल में कमी कर देता है। इसका कारण यह है कि उनकी जिम्मेदारी कई प्रबन्धकों के प्रति रहती है और विभागों में अधिक सम्पर्क भी होता है।
7. यह बोझिल है और अमल में लाना भी कठिन है क्योंकि यह नियंत्रण का अधिक विभाजन कर देता है।
8. इसमें सुनिश्चितता एवं जिम्मेदारी का अभाव भी होने लगता है।

### क्रियात्मक संगठन की उपयुक्तता (Suitability of Functional Organization)

क्रियात्मक संगठन उन संस्थाओं के लिए उपयोगी है जिनका आकार मध्यम हो उनके कार्यों की प्रकृति अत्यधिक तकनीकी तथा जटिल हो और अनेक सुधारों तथा संयोजनों के साथ उपयोग में लाया जाना हो।

### (IV) परियोजना संगठन (Project Organization)

परियोजना संगठन का अर्थ एक ऐसे संगठन-संरचना के प्रारूप से है जिसमें समतल सम्बन्धों की स्थापना कर संस्था के विभिन्न कार्यात्मक क्षेत्रों से परियोजना प्रबन्धकों का एक दल बनाया जाता है ताकि इसके माध्यम से परियोजना के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। जब परियोजना पूर्ण हो जाती है, तब दल को समाप्त कर दिया जाता है और दल के सदस्यों को दूसरा कार्य सौंप दिया जाता है।

**प्रबन्ध शब्दकोश** के अनुसार, "परियोजना संगठन निश्चित समय में एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योजनानुसार क्रियान्वित किया जाने वाला एक दल है जो उद्देश्य की प्राप्ति पर बन्द हो जाता है।" इस प्रकार परियोजना संगठन स्पष्ट परिभाषित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक विशिष्ट परियोजना है जिसके क्रियान्वयन हेतु कुछ प्रबन्धकों के दल, संसाधन की आवश्यकता कुछ समय के लिए होती है।

### परियोजना संगठन की विशेषताएँ (Characteristics of Project Organization)

परियोजना संगठन की विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं –

1. यह समतल सम्बन्धों की स्थापना करता है।
2. इसमें संस्था के विभिन्न कार्यात्मक क्षेत्रों से परियोजना प्रबन्धकों का एक दल बनाया जाता है।
3. इसमें परियोजना के पूर्ण होने के साथ ही दल समाप्त कर दिया जाता है और दल के सदस्यों को दूसरा कार्य सौंप दिया जाता है।

4. इसमें परियोजना प्रबन्धक का अपनी परियोजना पर पूर्ण नियंत्रण होता है।
5. यह एक अस्थायी संगठन है।

### परियोजना संगठन के लाभ (Advantages of Project Organization)

परियोजना संगठन के लाभ या गुण निम्नलिखित हैं—

1. संगठन का यह प्रारूप लचीला है क्योंकि नवीन विचारों के साथ त्वरित रूप से अन्तर्क्रिया करता है।
2. यह प्रारूप बहुत उपयोगी है क्योंकि संगठन में बदलती हुई परिस्थितियों के साथ तीव्र गति से समायोजन कर उद्देश्य प्राप्त किया जाता है।
3. यह कम खर्चीला है क्योंकि कभी-कभी बाह्य विशेषज्ञों की सेवाएँ अस्थायी रूप से ली जाती हैं।
4. इसमें रेखाधिकारियों तथा विशेषज्ञों में न्यूनतम मतभेद होता है।
5. इसमें निर्णय शीघ्र एवं यथासमय लेकर परियोजना को पूरा कर लिया जाता है।

### परियोजना संगठन की हानियाँ (Dis-advantages of Projects Organization)

परियोजना संगठन की हानियाँ यो दोष निम्नलिखित हैं —

1. इस प्रारूप में निगम स्तर पर प्रबन्धकों के मध्य प्रायः संघर्ष की स्थिति बनी रहती है।
2. इसमें उच्चाधिकारियों को औपचारिक अधिकारों के माध्यम से अधीनस्थों से कार्य कराना कठिन होता है। इसका कारण यह है कि परियोजना प्रबन्धक परियोजना की पूर्ति के लिए पूर्णतः उत्तरदायी होता है, जबकि कार्यात्मक विभाग तकनीकी विशेषज्ञता एवं किस्म के लिए उत्तरदायी होता है।
3. इस प्रारूप में विशेषज्ञ अभिप्रेरित नहीं हो पाते हैं।
4. इसमें परियोजना प्रबन्धक को समन्वय तथा निर्णय लेने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।
5. इस प्रारूप में संगठनीय अनिश्चितता उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

### परियोजना संगठन की उपयुक्तता (Suitability of Project Organization)

परियोजना संगठन प्रारूप वहीं उपयुक्त रहता है जब कोई बड़ी या मध्यम आकार की नई परियोजना प्रारम्भ की जा रही हो, उसे पूरा करने में काफी लम्बा समय लगने की सम्भावना हो और परियोजना की क्रियाएँ जटिल तकनीकी एवं अन्तर सम्बन्धित हो, जैसे—विशाल भवन, बाँध, पुल, नये उत्पाद का निर्माण और सीमेन्ट या स्टील संयंत्र आदि।

### (V) आव्यूह संगठन (Matrix Organization)

आव्यूह या मैट्रिक्स संगठन का अर्थ उत्पादन एवं कार्यात्मक संगठन के ऐसे संयोजन से है जिसकी आवश्यकता उन उपक्रमों के लिए होती है, जिन्हें परियोजना को पूरा करने के लिए क्रियात्मक सेवाओं एवं उत्पाद में विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है। अन्य शब्दों में, संगठन संरचना का एक ऐसा प्रारूप है जो कई मध्यवर्ती अथवा पर्यवेक्षीय प्रबन्धकों के लिए दोहरी निर्देशन प्रणाली का प्रयोग करता है।

डेविस एवं लारेन्स ने मैट्रिक्स संगठन की परिभाषा इस प्रकार दी है— “मैट्रिक्स संगठन एक ऐसी संरचना है जो बहु-निर्देशन प्रणाली को प्रयोग में लाती है, जिसके अन्तर्गत बहु-निर्देशन ढाँचे को ही नहीं, वरन् सम्बन्धित सहायक प्रणालियों अथवा संयुक्त संगठनात्मक संस्कृति और व्यवहार प्रतिरूप को भी शामिल किया जाता है।”

### आव्यूह संगठन की विशेषताएँ (Characteristics of Matrix Organization)

आव्यूह संगठन की मुख्य विशेषताएँ या लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. इसका गठन किन्हीं विशिष्ट परियोजनाओं को पूरा करने के लिए किया जाता है।
2. परियोजना समूह का निर्माण उपक्रम के ही विभिन्न विभागों के विशेषज्ञों को शामिल कर लिया जाता है।

3. अधिकारों का प्रवाह द्वि-मार्गीय होता है।
4. इसमें एक व्यक्ति को अधिकारियों, परियोजना प्रबन्धक तथा विभागाध्यक्ष को अपनी रिपोर्ट प्रेषित करता है।
5. यह क्रियात्मक एवं उत्पादन संगठन का संयोजन है।
6. क्रियात्मक विभाग आदेश की लम्बवत् श्रृंखला एवं परियोजना दल समतल श्रृंखला को जन्म देते हैं। सत्ता की क्रियात्मक रेखा में उत्पाद रेखाओं को काटती है जिससे मैट्रिक्स या ग्रिड संगठन तैयार होता है।
7. परियोजना प्रबन्धक को अपने दल पर समग्र उत्तरदायित्व एवं सत्ता प्राप्त होती है।
8. यह परियोजना संगठन से भिन्न है।

### आव्यूह संगठन के लाभ (Advantages of Matrix Organization)

आव्यूह संगठन के लाभ या गुण निम्नलिखित हैं –

1. इससे परियोजना का श्रेष्ठ नियोजन एवं नियंत्रण होता है क्योंकि प्रत्येक परियोजना पर ध्यान, कौशल एवं संसाधनों को केन्द्रित करना सम्भव है।
2. यह परियोजना कर्मचारियों को प्रेरणा प्रदान करती है क्योंकि वे किसी विशिष्ट परियोजना का निष्पादन करते हैं।
3. यह लोचपूर्ण प्रारूप है क्योंकि बाह्य दशाओं में होने वाले परिवर्तनों के साथ समायोजन करता है और मानवशक्ति का सुरक्षित भण्डार भी रहता है।
4. विशेषज्ञों की योग्यताओं का पूर्ण योगदान रहता है।
5. संगठन में निष्पादन, समय एवं लागत में श्रेष्ठ सन्तुलन बना रहता है।
6. यह अन्तर्विषयक सहयोग को प्रेरित करता है।
7. उच्च प्रबन्धकों को नीति निर्माण करने में काफी समय मिलता है क्योंकि वे नित्य प्रतिदिन कार्यों से मुक्त होते हैं।
8. यह संगठनात्मक सोपान में व्यक्ति के पद के स्थान पर ज्ञान की सत्ता को ज्यादा महत्त्व देता है।

### आव्यूह संगठन की हानियाँ (Dis-advantages of Matrix Organization)

आव्यूह संगठन की हानियाँ अथवा दोष निम्नलिखित हैं–

1. प्रबन्धकों में सत्ता संघर्ष उत्पन्न हो जाने की सम्भावना होती है।
2. इसकी प्रबन्धकीय लागतें बहुत ऊँची होती हैं।
3. कर्मचारियों में एक ओर वचनबद्धता का अभाव रहता है तो दूसरी ओर उनका मनोबल भी निम्न रहता है क्योंकि इसमें दूसरे विभागों से कर्मचारियों को लिया जाता है।
4. इसके अन्तर्गत क्षैतिज एवं समतल सम्बन्धों की विभिन्नता के कारण संगठनात्मक कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।
5. इसमें निर्णय धीमी गति से लिये जाते हैं क्योंकि प्रक्रिया लम्बी एवं कई व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।
6. यह आर्थिक मंदी में अनुपयोगी होता है।
7. इसमें आदेशों की एकता का अभाव पाया जाता है।

### आव्यूह संगठन की उपयुक्तता (Suitability of Matrix Organization)

आव्यूह संगठन वहाँ उपयोगी होता है जिसके संगठनीय कार्य जटिल, अनिश्चित एवं बहुत अधिक अन्तर्निर्भर हो, वृहत् उत्पादन की बचतें प्राप्त करनी हो और संगठन को दो या अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्रों (कार्यो, उत्पाद, सेवायें तथा क्षेत्र आदि) के साथ कार्य शीघ्र होना हो।

## (VI) समिति संगठन (Committee Organization)

सामान्य शब्दों में, समिति व्यक्तियों का समूह होता है जिन्हें इस शर्त पर कुछ कार्य सौंपे जाते हैं कि वे उन कार्यों को मिलकर अथवा सम्मिलित रूप से करें। अन्य शब्दों में, समिति संगठन का अर्थ तीन या इससे अधिक व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जिसे किसी बड़े व्यक्ति समूह में से चुना गया हो और जिसे सामूहिक रूप से किसी कार्य अथवा जाँच-पड़ताल करने के लिए नियुक्त किया गया हो।

‘विलियम एच. न्यूमैन’ के शब्दों में, “समिति किसी प्रशासनिक कार्य को सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट रूप से नियुक्त किये गये व्यक्तियों का एक समूह है। यह केवल समूह के रूप में ही कार्य करता है और उसके लिए सदस्यों में अन्तर-परिवर्तन की आवश्यकता होती है।”

इस प्रकार समिति संगठन या प्रबन्ध समिति का अर्थ प्रबन्धकीय कर्मचारियों की एक ऐसी औपचारिक समिति से है। जिसमें तीन या इससे अधिक व्यक्ति होते हैं जो नियुक्त या चुने हुए होते हैं और वे सौंपे गये मामलों तथा अपने सामने आने वाली समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए आपस में मिलते हैं।

## समिति संगठन की विशेषताएँ (Characteristics of Committee Organization)

समिति संगठन की विशेषताएँ या लक्षण निम्नलिखित हैं –

1. यह प्रबन्धकीय कर्मचारियों की एक औपचारिक समिति है।
2. समिति-चयन पर नियुक्त किये गये व्यक्तियों का एक समूह है।
3. समिति के सदस्यों में स्वतंत्र सामूहिक विचार-विमर्श होते हैं। इसके पश्चात् निर्णय लिये जाते हैं।
4. समिति के सदस्यों की संयुक्त जिम्मेदारी होती है।
5. यह प्रजातांत्रिक प्रणाली पर आधारित है।
6. समितियों का गठन कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति अथवा कार्यों के लिए किया जाता है।
7. समितियाँ, संगठन का एक पूरक प्रारूप हैं।
8. इसमें एक ही स्तर या भिन्न-भिन्न स्तरों के प्रबन्ध को तथा कर्मचारियों को शामिल किया जाता है।

## समिति संगठन के प्रकार (Types of Committee Organization)

समिति संगठन के प्रकार या रूप निश्चित तो नहीं हैं, क्योंकि इनका गठन आवश्यकतानुसार किया जाता है। फिर भी सामान्य तौर पर ये समितियाँ हो सकती हैं—

- (1) स्थायी समितियाँ, (2) अस्थायी समितियाँ, (3) औपचारिक समितियाँ, (4) अनौपचारिक समितियाँ, (5) अधिशासी समितियाँ (6) परामर्शदात्री समितियाँ, (7) समन्वय समितियाँ, (8) क्रियात्मक समितियाँ, (9) संयुक्त समिति एवं (10) अनुसंधान समिति।

## समिति संगठन के लाभ (Advantages of Committee Organization)

1. एक दृढ़ एवं कुशल अध्यक्ष के अधीन एक समिति बहुत ही जल्दी महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय ले सकती है।
2. किसी समस्या, सौंपे गये कार्य के सभी पक्षकारों पर गहनता एवं पूर्णता के साथ विचार किये जाने के कारण समिति के सुझाव, सिफारिशें ठोस तथा पूर्ण होते हैं।
3. इससे सहकारिक प्रणाली को प्रोत्साहन मिलता है।

4. इसमें लिये गये निर्णय श्रेष्ठ तो है, साथ ही समिति के सदस्य भी इससे लाभान्वित होते हैं क्योंकि उनके ज्ञान में वृद्धि होती है।
5. यह सूचना प्रसार का सर्वश्रेष्ठ साधन है।
6. संस्था के विभिन्न कार्य, क्रियाओं विभागों एवं उप-विभागों में समन्वय स्थापित करने में भी समितियों से काफी सहायता मिलती है।
7. समिति के माध्यम से नीति-विषयक समस्याओं में विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जा सकती है।
8. कार्यवाही शीघ्रता से सम्पन्न की जा सकती है।

### समिति संगठन की हानियाँ (Dis-advantages of Committee Organization)

समिति संगठन की हानियाँ या दोष निम्नलिखित हैं –

1. कभी-कभी समितियाँ बड़ी हो जाने से कार्यवाही करने में देर लग जाती है।
2. सभा के लिये प्रमुख अधिकारियों को बार-बार बुलाने से उपक्रम के कार्यकलाप धीमे पड़ जाते हैं।
3. समितियों द्वारा किये जाने वाले कार्य एवं निवारण की जाने वाली समस्याओं पर बहुत अधिक खर्च होता है जिससे आगे के कार्य रूकने की सम्भावना हो सकती है।
4. इसमें निर्णय लेने में देरी होती है।
5. यह एक खर्चीला प्रारूप है क्योंकि सभाओं को बुलाने, व्यवस्था करने, विचार विमर्श करने एवं निर्णय लेने में काफी धन तथा समय खर्च होता है।
6. इसमें लिये जाने वाले निर्णयों के लिए समिति के सभी सदस्य उत्तरदायी होते हैं। एक व्यक्ति नहीं। इसलिए व्यक्तिगत पहलपन का अभाव होता है।
7. इसमें अधिक बोलने वाले सदस्यों का प्रभुत्व बने रहने से कार्यवाही पर अनुचित दबाव डालने का प्रयास किया जाता है।
8. चूँकि इसमें निर्णय बहुमत द्वारा लिये जाते हैं जिससे अल्पमत पर अत्याचार की सम्भावना बढ़ जाती है।

### समिति संगठन की उपयुक्तता (Suitability of Committee Organization)

समिति संगठन की उपयुक्तता वहीं रहती है, जहाँ किसी कार्य हेतु शीघ्र निर्णय की आवश्यकता नहीं होती है, समन्वय लाना कठिन हो तथा अन्य प्रारूपों के पूरक के रूप में लिया जाता हो।

प्रश्न बोध –

लघुतरात्मक प्रश्न—

1. संगठन संरचना से आप क्या समझते हैं ?
2. रेखा संगठन किसे कहते हैं ?
3. परियोजना संगठन क्या है ?
4. क्रियात्मक संगठन क्या होता है?

निम्बन्धात्मक प्रश्न –

1. संगठन संरचना को प्रभावित करने वाले घटकों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. रेखा एवं कर्मचारी संगठन क्या है ? इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. समिति संगठन क्या है ? इसके गुण एवं दोष बताईये।
4. संगठन संरचना के विभिन्न प्रारूपों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

## खण्ड—स अभिप्रेरणा (Motivation)

### अभिप्रेरण विचारधाराएं—

रेन्सिस लिक्टर् ने अभिप्रेरणा को प्रबन्ध का हृदय (**Core of Management**) बताया है। इकीकत तो यह है कि एक प्रबन्धक अगर यह नहीं जानता कि व्यक्तियों को क्या अभिप्रेरित करता है तो वह अपने दायित्वों को सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता है। अभिप्रेरणा तो कर्मचारियों की मनोवैज्ञानिक ऊर्जा है जो उन्हें संगठन के लक्ष्य को प्राप्त में योगदान देती है।

संगठन की सफलता भौतिक संसाधनों तथा मानवीय प्रयासों के प्रभावकारी उपयोग पर निर्भर करती है। भौतिक संसाधनों का अनुकूलतम एवं कुशलतम उपयोग आधुनिक तकनीकों द्वारा सम्भव है पर मानवीय संसाधनों का कुशलतम उपयोग करना एक कठिन एवं चुनौती भरा काम है। इसकी सफलता दो बातों पर निर्भर करती है प्रथम—व्यक्तियों की योग्यता दूसरा व्यक्तियों की काम करने की इच्छा। जब दोनों बातें किसी कर्मचारी में हैं तो संस्था की सफलता को कोई नहीं रोक सकता। केवल व्यक्ति की योग्यता ही संस्था की सफलता को सुनिश्चित नहीं करती बल्कि कार्य करने की इच्छा व भावना भी होनी चाहिए। ऐसी दशा में व्यक्तियों की कार्य की भावना तथा इच्छा को प्रभावित करने वाले तथ्यों को ढूँढना व समझना जरूरी हो जाती है। जिसे इस अध्याय में समझाने का प्रयास किया गया है।

### अभिप्रेरणा : अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

अभिप्रेरण शब्द लटिन शब्द 'Movere' से बना है जिसका तात्पर्य संचालित करना (**to move**) है। यहां अभिप्रेरणा शब्द को दो अर्थों में—(i) 'संज्ञा' तथा (ii) 'क्रिया' के रूप में प्रयोग किया गया है।

### संज्ञा के रूप में अभिप्रेरणा (As a Noun)

संज्ञा के रूप में अभिप्रेरणा उस इच्छा या भावना को कहते हैं जो लोगो को कार्य करने के लिए प्रेरणा देती है। इसकी कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं—

स्टेनले वेन्स (**Stanley Vance**) के अनुसार — “कोई भी ऐसी भावना या आवश्यकता जो व्यक्ति की इच्छा को इस प्रकार प्रभावित करती है कि वह कार्य करने के लिए प्रेरित हो जाये, अभिप्रेरण कहलाती है।”

मैक्फार लैण्ड (**Mc Farland**) के अनुसार— “अभिप्रेरण के धारण मूलतः मनोवैज्ञानिक है। इसका सम्बन्ध किसी कर्मचारी अथवा अधीनस्थ में कार्य कर रही उन शक्तियों से है, जो उसे किसी कार्य को विधिवत् करने अथवा न करने के लिए प्रेरित करती है।”

बीच के (**Beach**) के अनुसार —“अभिप्रेरणा को एक लक्ष्य या पुरस्कार प्राप्त करने की शक्ति के उपयोग की इच्छा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।”

शार्टल (**Shartle**) के अनुसार —“ किसी निश्चित दिशा की ओर जाने या किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निश्चित प्रेरणा या तनाव ही अभिप्रेरणा है।”

इस प्रकार अभिप्रेरणा वह इच्छा या भावना या आवश्यकता है जो किसी कर्मचारी को किसी कार्य को करने के लिए प्रेरित करती है। यह व्यक्ति की आन्तरिक ऊर्जा शक्ति को जागृत करती है जिससे वह किसी विशेष दशा में कार्य करने हेतु प्रेरित होता है।

## क्रिया कार्य के रूप में अभिप्रेरणा (Motivation as a Verb/Function)

अभिप्रेरणा शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट कार्य या प्रक्रिया के रूप में भी किया जाता है। इस संदर्भ में विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषाएं दी हैं जो इस प्रकार हैं—

जूसियस (Jucius) के अनुसार— “अभिप्रेरणा किसी व्यक्ति को अथवा स्वयं को किसी इच्छित कार्य को करने के लिए प्रेरित करने की क्रिया है।”

स्कॉट (William G. Scott) के अनुसार — “अभिप्रेरणा लोगों को इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने हेतु प्रेरित करने की प्रक्रिया है।”

ब्रेच के अनुसार —“अभिप्रेरणा एक प्रेरणादायी प्रक्रिया है जो समूह के सदस्यों को मिलकर कार्य करने, समूह के प्रति निष्ठावान बने रहने, सौंपे गये कार्यों को ईक से करने तथा संस्था के उद्देश्यों या कार्यकलापों में प्रभावकारी भूमिका निभाने के लिए तैयार करती है।

इस प्रकार अभिप्रेरणा प्रबन्ध के कार्य के रूप में एक प्रक्रिया है जिसमें प्रबन्धक अपने कर्मचारियों की इच्छा, भावना तथा आवश्यकताओं का अध्ययन उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करता है जिससे प्रेरित होकर कर्मचारी अपने पूर्ण लगन, निष्ठा तथा परिश्रम से संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समर्पित भाव से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होता है।

## अभिप्रेरणा की प्रकृति एवं विशेषताएं (Nature and Characteristics of Motivation)

अभिप्रेरणा की कई परिभाषाओं के अध्ययन से इसकी प्रकृति स्पष्ट झलकती है जो इस प्रकार है—

- 1. सतत् प्रक्रिया** — अभिप्रेरणा एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया है जो कभी समाप्त नहीं होती है। जो व्यक्तियों को संस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए लगातार प्रेरित करती रहती है।
- 2. गतिशील एवं जटिल प्रक्रिया**— अभिप्रेरण एक गतिशील एवं जटिल प्रक्रिया है। यह मनुष्य के व्यवहार से सम्बन्धित होती है। मनुष्य के व्यवहार को समझना बहुत कठिन कार्य है क्योंकि मनुष्य का व्यवहार हमेशा परिवर्तनशील बना रहता है।
- 3. मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया**— प्रो. मेकफार लैण्ड का मानना है कि अभिप्रेरणा की धारणा मूलतः मनोवैज्ञानिक है। इसका सम्बन्ध उन जरूरतों से होता है जो मनुष्य के चेतन अर्द्ध चेतन मस्तिष्क में रहती है। मनुष्य का व्यवहार उसके मन में होने वाली अनुभूति पर निर्भर करता है। अभिप्रेरणा द्वारा मनुष्यों के मस्तिष्क के कार्य के प्रति कई धारणा उत्पन्न की जाती है।
- 4. लक्ष्य प्रधान व्यवहार**— अभिप्रेरणा द्वारा कर्मचारी को निश्चित उद्देश्यों, परिणामों अथवा निष्पादन के लिए प्रेरित किया जाता है। अभिप्रेरणा एक लक्ष्य प्रधान प्रक्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत लक्ष्यों की सन्तुष्टि के लिए कार्य करता है। जबकि प्रबन्धक संस्था तथा व्यक्ति दोनों के लक्ष्यों को इकट्ठा कर कर्मचारियों को कार्य के लिए प्रेरित करता है।
- 5. कार्य हेतु प्रेरित**— मनोवैज्ञानिक का मानना है कि कोई भी व्यक्ति अपनी शारीरिक व मानसिक क्षमता का बहुत कम भाग का कार्य में विनियोजित करता है। जबकि अभिप्रेरणा द्वारा कर्मचारियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी क्षमताओं का न केवल रचनात्मक कार्य के लिए उपयोग करता है बल्कि शक्ति को अनुत्पादक कार्यों में खर्च होने से भी रोकता है।
- 6. उत्पादकता में वृद्धि**— अभिप्रेरणा द्वारा रचनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। व्यक्ति अपनी क्षमताओं का अधिकतम उपयोग करता है जिससे उत्पादकता में वृद्धि होती है।

7. **अभिप्रेरणा के विभिन्न प्रकार-** अभिप्रेरणा कई प्रकार से दी जाती है जैसे- धनात्मक एवं ऋणात्मक वित्तीय एवं अवित्तीय, व्यक्तिगत एवं सामूहिक आदि।
8. **अभिप्रेरणा से सहयोग मिलता है-** अभिप्रेरणा कर्मचारी को कार्य हेतु प्रेरित ही नहीं करती बल्कि आपसी सहयोग में भी वृद्धि होती है।
9. **अभिप्रेरण का सम्बन्ध व्यक्ति से है-** क्योंकि मनुष्य में भावनाओं, आकांक्षाओं, इच्छाएं, मनोवेग आदि होते हैं जो निर्जीव वस्तुओं में नहीं होते हैं। इसलिए केवल मनुष्य को ही अभिप्रेरित किया जा सकता है।
10. **अभिप्रेरणा आन्तरिक अनुभूति है-** अभिप्रेरणा मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति होती है। यह अनुभूति मनुष्य की इच्छा शक्ति, मनोवेग तथा आन्तरिक ऊर्जा को जगाती है जिससे वह अधिक कार्य करने हेतु प्रेरित होता है।
11. **अभिप्रेरणा एक तरह का विनियोग होती है-** अभिप्रेरणा की राशि ठीक उसी प्रकार से विनियोगका कार्य करती है जिस प्रकार से विज्ञापन पर व्यय की गई राशि। विज्ञापन द्वारा विक्रय बढ़ता है लाभ बढ़ते हैं व्यय की गई राशि से अधिक आय प्राप्त हो जाती है। ठीक इसी तरह अभिप्रेरित व्यक्ति अधिक काम करता है अधिक उत्पादन होता है जिससे प्रति इकाई लागत अधिक आती है।
12. **अभिप्रेरणा मनोबल से अलग-** अभिप्रेरणा एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित होता है जबकि मनोबल स्वयं काम करने की इच्छा है जो अभिप्रेरणा द्वारा प्रभावित होता है। समुचित अभिप्रेरणा, पुरस्कार, प्रशंसा, सहभागिता से व्यक्ति का मनोबल ऊंचा होता है ऊंचे मनोबल वाला कर्मचारी अधिक निष्ठावान होता है।
13. **प्रबन्धकीय सफलता कारण एवं परिणाम-** अभिप्रेरणा प्रबन्धकीय कुशलता तथा सफलता का कारण एवं परिणाम दोनों होती है। सफल प्रबन्धक ही कर्मचारियों को सही ढंग से अभिप्रेरित कर सकता है।
14. **सम्पूर्ण व्यक्ति ही अभिप्रेरित होता है, उसका एक भाग नहीं-** प्रत्येक मनुष्य एक समग्र इकाई है। अतः मनुष्य सम्पूर्ण रूप से ही अभिप्रेरित होता है उसके किसी एक भाग को अलग से अभिप्रेरित नहीं किया जा सकता है।

### अभिप्रेरणा के उद्देश्य (Object of Motivation) –

अभिप्रेरणा का मुख्य उद्देश्य कर्मचारियों को कार्य हेतु प्रेरित करना है। इसके अतिरिक्त और अनेक उद्देश्य भी हैं जो इस प्रकार हैं-

1. संस्था में कर्मचारियों का स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त करना।
2. कर्मचारियों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करना।
3. कर्मचारियों के मनोबल को बढ़ाना।
4. कर्मचारियों की कार्यक्षमता में सुधार करना तथा उसे बनाये रखना।
5. कर्मचारियों का आत्म-विकास करना।
6. संस्था के मानवीय संसाधनों का सदुपयोग करना।
7. अच्छे मानवीय सम्बन्धों की स्थापना कर कार्य का अच्छा वातावरण बनाना।
8. संस्था के लक्ष्यों को प्राप्त करना।
9. बाह्य नियन्त्रण के स्थान पर आत्म नियन्त्रण को प्रोत्साहित करना।



## मास्लों की आवश्यकता क्रमबद्धता विचारधारा (Maslow's Need Hierarchy Theory)

अब्राहम एच. मास्लों द्वारा इस विचारधारा को दिया। मास्लों के अनुसार आवश्यकताओं का एक क्रम होता है। इसी क्रम में मनुष्य अपनी असन्तुष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अभिप्रेरित होता है। मनुष्य की आवश्यकताएं अनन्त होती हैं। वह क्रमशः एक के बाद एक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करता रहता है। मनुष्य की असन्तुष्ट आवश्यकताओं का पता करके उसी पूर्ति हेतु उसे प्रेरित किया जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर ही कार्य करता है।

### मान्यताएं (Assumption)

1. मास्लों ने मनुष्य की आवश्यकताओं को 5 श्रेणियों में बांटा है— शारीरिक, सुरक्षात्मक, सामाजिक, स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास।
2. मास्लों ने आवश्यकताओं को क्रमबद्ध किया है। यह क्रमबद्ध सार्वभौमिक है। सम्भवतः प्रत्येक कदेश के लोगों पर लागू होती है।
3. इस विचारधारा के अनुसार असन्तुष्ट आवश्यकता अभिप्रेरणा का कारण बनती हैं। अर्थात् अतृप्त आवश्यकताओं का महत्व सदैव ज्यादा होती है।
4. संतुष्ट आवश्यकता मनुष्य के व्यवहार को प्रेरित नहीं कर सकती।
5. मनुष्य के नीचे स्तर की आवश्यकताओं को पूरी होने पर वह संतुष्ट हो जाता है जबकि आत्मविश्वास के स्तर की संतुष्टि नहीं होती। यह मनुष्य के व्यवहार को हमेशा अभिप्रेरित करती रहती है।
6. शारीरिक आवश्यकताएं सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती हैं।

प्रबन्धकों द्वारा अपने अधीनस्थों को अभिप्रेरित करने के लिए उन्हें उनकी असन्तुष्ट आवश्यकताओं को ज्ञात करना चाहिए तथा उन्हें संतुष्ट करने हेतु मार्ग दर्शन देना चाहिए।

### आवश्यकताओं की क्रम बद्धता (Hierarchy of Needs)

मास्लों की विचारधारा के अनुसार आवश्यकताओं को निम्न रूप से क्रमबद्ध किया गया है।

#### 1. शारीरिक आवश्यकताएं (Physiological Needs)

शारीरिक आवश्यकताएं मनुष्य जीवन को चलाने के लिए अति आवश्यक होती हैं। इसमें भोजन, विश्राम, कपड़ा, यौन-सम्पर्क आदि आती हैं। ये आवश्यकताएं मनुष्य के जन्म के साथ ही शुरू हो जाती हैं तथा मरने तक चलती रहती हैं। कोई भी व्यक्ति सबसे पहले इन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु कार्य के लिए अभिप्रेरित होता है।

#### 2. सुरक्षा आवश्यकताएं (Safety Needs)

शारीरिक आवश्यकताएं पूरी होने के बाद सुरक्षा आवश्यकताएं जागृत होती हैं। इसमें मनुष्य भविष्य में भी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए सुरक्षित होना चाहता है। प्रत्येक मनुष्य भय, हानि, बीमारी, खतरों जोखिमों के विरुद्ध आर्थिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक सुरक्षा चाहता है। इसके लिए वह जीवनभर रोजगार की गारन्टी, वृद्धावस्था के लिए पेन्शन तथा बीमा, भविष्य निधि की जरूरत अनुभव करता है। अतः इन आवश्यकताओं को

पूरा करने के लिए कार्य हेतु अभिप्रेरित होता है।

### 3. सामाजिक आवश्यकताएं (Social Needs)

मनुष्य समाज में उठने, बैठने, सहयोग, मैत्री, अपनत्व की भावना, प्रेम तथा लगाव की भावना, समर्थन लेने-देने की भावना उत्पन्न होती है तो ये सामाजिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत आता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयास करता है ये आवश्यकताएं उसके लिए अभिप्रेरणा बनती हैं।

### 4. स्वाभिमान या अहंकारी आवश्यकताएं (Self-esteem or egoistic Needs)

सामाजिक आवश्यकताएं पूर्ण होने के बाद व्यक्ति की अहम् (Ego) एवं स्वाभिमान सम्बन्धी आवश्यकताएं उत्पन्न होती है। इसमें आत्म विश्वास उच्च स्तर की इच्छा, मान्यता प्रशंसा, सम्मान की लालसा आदि को शामिल करती है।

विशेष बात है कि सामान्य व्यक्तियों की ये आवश्यकताएं ज्यादातर सन्तुष्ट नहीं हो पाती है जबकि विशेष योग्यता या क्षमता वाले व्यक्ति ही इन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर पाते हैं।

### 5. आत्म-विकास की आवश्यकताएं (Self Actualization Needs)

व्यक्ति स्वयं अपना मूल्यांकन करता है तथा निरन्तर उच्च से उच्चतर स्तर पर पहुँचने का प्रयास करता है। ये आवश्यकताएं तब जन्म लेती हैं जब वह अपनी क्षमताओं योग्यताओं तथा अपने अन्दर छुपी हुई शक्तियों का उपयोग करके वह कुछ करना चाहता है और वह कर लेता है। अतः वह छुपी हुई योग्यताओं को उभरने का प्रयास करता है। इसी कारण वह और अधिक कार्य हेतु प्रेरित होता है।

यह आवश्यकता अभिप्रेरणा का काम तभी करेगी जब अन्य आवश्यकताएं पूरी हो चुकी हो। चित्र द्वारा भी आवश्यकता अनुक्रम को दिखाया गया है—

5. आत्म विश्वास की आवश्यकताएं  
परम संभावना की अनुभूति,  
सृजनात्मकता

4. स्वाभिमान आवश्यकताएं  
आत्मसम्मान, आत्म विश्वास, पद  
प्रतिष्ठा, स्तन्त्रता

3. सामाजिक आवश्यकताएं  
सहयोग, मैत्री, स्वीकृति, अपनत्व, प्यार  
तथा स्नेह

2. सुरक्षा आवश्यकताएं  
भय, खतरों, जोखिमों से शारीरिक व  
आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक सुरक्षा

1. शारीरिक आवश्यकताएं  
रोटी, कपड़ा, मकान, यौन संतुष्टि

उच्च स्तरीय आवश्यकताएं

-----

निम्न स्तरीय आवश्यकताएं

मासलो की आवश्यकता –अनुक्रम

## गुण या योगदान (Merits or Contribution)

मास्लों के इस आवश्यकता अनुक्रम सिद्धान्त को अभिप्रेरणा के श्रेष्ठतम सिद्धान्तों में माना जाता है। निम्न गुणों के कारण माना जाता है जो इस प्रकार है—

1. यह तार्किक सिद्धान्त है। इस आधार पर कह सकते हैं कि व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है।
2. इस सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट है कि सन्तुष्ट आवश्यकताएं कभी भी मनुष्य को कार्य करने के लिए अभिप्रेरित नहीं करती है। अतः प्रबन्धकों को चाहिए कि वह अधीनस्थों की असन्तुष्ट आवश्यकताओं की ओर ध्यान दे और उन्हें कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करें।
3. यह गतिशील सिद्धान्त है। जो मानती है कि कोई भी आवश्यकता मनुष्य के लिए अभिप्रेरणा का कार्य तभी करेगी जब उसकी निम्न स्तर की आवश्यकता पूरी हो चुकी हो।
4. यह सिद्धान्त सरल तथा मानव व्यवहार पर आधारित है व्यवहार में पाया जाता है कि उच्च आवश्यकताएं निम्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का परिणाम होती है।
5. यह सिद्धान्त मानवीय आवश्यकताओं को समझने हेतु समुचित आधार प्रदान करती है।
6. यह सिद्धान्त मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाले घटकों तथा कारणों को समझने में सहायता करती है। यह बताती है कि विभिन्न व्यक्ति एक समान परिस्थितियों में भी अलग-अलग व्यवहार क्यों करते हैं।
7. यह सिद्धान्त आज के युग में उचित व तर्क पूर्ण प्रतीत होता है।

## दोष व सीमाएं

1. यह सिद्धान्त अतिसरल है परन्तु मानवीय व्यवहार में जाँच करना उतना ही कठिन है। मानवीय व्यवहार विभिन्न कारणों से निर्धारित एवं प्रेरित होता है। अतः कई बार प्राथमिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि न होने पर भी सामाजिक एवं स्वाभिमान आवश्यकताएं उत्पन्न हो जाती है।
2. अनुसंधानों से स्पष्ट हो गया है कि कुछ आवश्यकताएं सन्तुष्टि के साथ घटती नहीं बल्कि बढ़ती है जैसे—यौन एवं अहम् सम्बन्धी आवश्यकताएं। इन पर नियन्त्रण करना असम्भव हो जाता है।
3. ये जरूरी नहीं है कि मनुष्य हमेशा इन्हीं आवश्यकताओं को पूर्ति के लिए कार्य करने हेतु प्रेरित होता है इसके पीछे और भी कारण हो सकते हैं।
4. प्रत्येक व्यक्ति पर आवश्यकता के अनुसार अभिप्रेरणा की इस तकनीक का प्रयोग करना सम्भव नहीं होता।
5. यह सिद्धान्त मानता है कि एक समय में एक ही प्रकार की आवश्यकताएं होती है जब कि व्यवहार में एक समय में एक साथ अनेक आवश्यकताएं भी हो सकती है।
6. यह पता लगाना कठिन है कि किस व्यक्ति की कौन सी आवश्यकता महत्वपूर्ण है कौन सी नहीं।
7. यह सिद्धान्त व्यक्तियों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर आधारित है जब कि व्यक्ति की कुछ आवश्यकताएं कभी भी सन्तुष्ट नहीं होती। जैसे—शराब, धन की आवश्यकता इत्यादि।

उपर्युक्त आलोचना के बाद भी यह सिद्धान्त काफी लोकप्रिय है। प्रबन्धक अधीनस्थों को अभिप्रेरित करने के लिए उनकी आवश्यकताओं को समझते हैं तथा उन्हें सन्तुष्ट करते हैं। मास्लों का योगदान सदैव ही स्मरणीय रहेगा।

### हर्जबर्ग की द्विघटक आरोग्य विचारधारा (Hergberg's Two Factor Hygene Theory)

इस विचारा धारा का प्रतिपादन अमेरिकी व्यवहारवादी वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) प्रो. फ्रेडरिक हर्जबर्ग (Frederick Herzberg) ने किया। यह विचारधारा दौ सौ से अधिक इंजीनियरों एवं लेखाकारों के साथ लिये गये साक्षात्कारों के आधार पर किया-शोध के दौरान इन सभी कर्मचारियों से निम्नलिखित दो प्रश्न पूछे-

1. क्या आप यह बता सकते हैं कि आपने अपने कार्य के बारे में अत्यधिक अच्छा कब अनुभव किया?
2. क्या आप बता सकते हैं कि आपने अपने कार्य के बारे में अत्यधिक बुरा कब अनुभव किया?

उन सबको कहा गया कि वे बताएं उन परिस्थितियों के बारे में जब उन्हें अत्यधिक अच्छा या बुरा अनुभव हुआ। जब इन कर्मचारियों के उत्तरों का विश्लेषण किया गया तो पाया कि कार्य स्थल पर कर्मचारी के व्यवहार को प्रभावित करने वाले समस्त तत्वों को दो समूहों-(1) स्वास्थ्य या पोषक या आरोग्य तत्व तथा (2) अभिप्रेरक तत्व है। पोषक तत्व कार्य वातावरण से सम्बन्धित होते हैं, जबकि अभिप्रेरक तत्व अधिक एवं श्रेष्ठ कार्य के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं। इन दो घटकों पर आधारित होने का कारण इसे द्विघटक विचारधारा भी कहते हैं।

हर्जबर्ग के आरोग्य एवं अभिप्रेरक तत्व	
<b>आरोग्य या पोषक तत्व (Hygene or Maintenance Factor)</b> <ol style="list-style-type: none"> <li>1. संस्था की नीतियां एवं प्रशासन</li> <li>2. कार्य दशाएं</li> <li>3. पर्यवेक्षण</li> <li>4. सहकर्मियों के साथ सहयोग</li> <li>5. वेतन</li> <li>6. अनुषंगी (Fringe) लाभ</li> <li>7. पद एवं कार्य सुरक्षा</li> <li>8. अधीनस्थ से सम्बन्ध</li> <li>9. व्यक्तिगत जीवन</li> </ol>	<b>अभिप्रेरक तत्व (Motivators FActor)</b> <ol style="list-style-type: none"> <li>1. उपलब्धि</li> <li>2. मान्यता</li> <li>3. कार्य स्वयं</li> <li>4. उत्तरदायित्व</li> <li>5. विकास</li> <li>6. व्यक्तिगत उन्नति के अवसर</li> </ol>

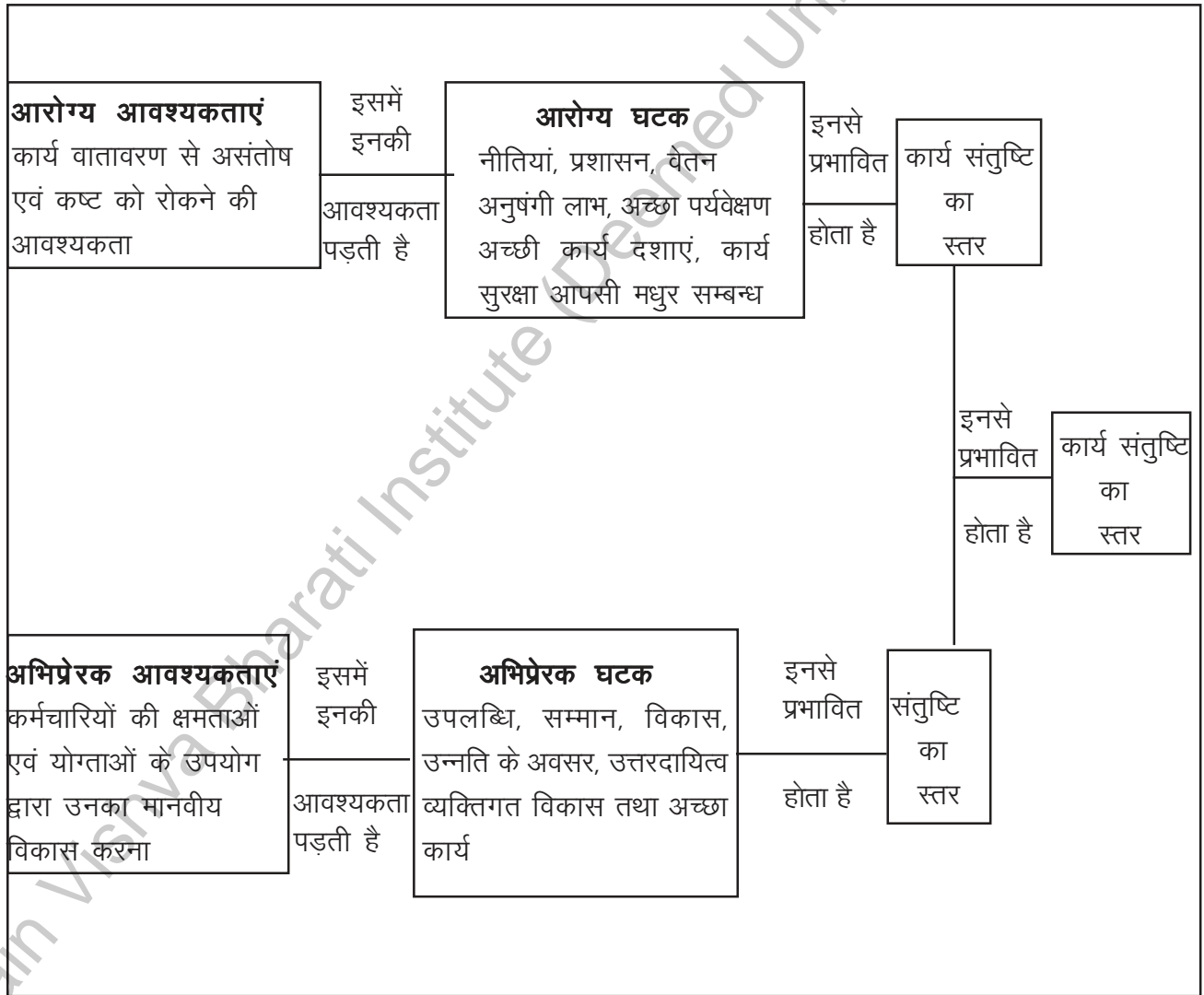
#### 1. आरोग्य या पोषक तत्व (Hygene or Maintenance Factor)

इन तत्वों में संस्था की नीतियां, प्रशासन, कार्य की दशाएं, पर्यवेक्षण, सहकर्मियों के साथ सहयोग, वेतन,

कार्य—सुरक्षा इत्यादि शामिल किये जाते हैं ये कर्मचारी की कार्यक्षमता को बनाये रखते हैं इसलिए इन्हें पोषक तत्व (Maintenance Factor) भी कहा जाता है। इन तत्वों के अभाव में व्यक्ति को कष्ट एवं असन्तोष की अनुभूति होगी किन्तु इनके होने से व्यक्ति में अभिप्रेरण प्राप्त नहीं होगी। ये घटक कर्मचारियों में असन्तोष पैदा करने वाले घटक हैं।

## 2. अभिप्रेरक या सन्तोषदायी घटक (Motivators or Satisfiers Factors)

हर्जवर्ग के अनुसार इसमें उपलब्धि, मान्यता, उत्तरदायित्व, विकास, व्यक्तिगत उन्नति, कार्य की प्रकृति आदि घटक सम्मिलित करते हैं। ये कार्य से सम्बन्धित घटक होते हैं। ये व्यक्ति को अधिक एवं और अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। अभिप्रेरक तत्वों के द्वारा ही व्यक्तियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है। पोषक तत्व द्वारा नहीं।



हर्जबर्ग ने बताया कि प्रबन्धकों को केवल आरोग्य तत्वों पर ही ध्यान नहीं देना चाहिए, वरन् कार्य को ही समुन्नत करके चुनौतपूर्ण एवं रुचिकर बनाया जाना चाहिए ताकि व्यक्तियों को अभिप्रेरित किया जा सके।

### गुण:-

इस विचारधारा में निम्नलिखित गुण देखे जा सकते हैं—

1. यह विचारधारा बताती है कि ऐसे कौन-कौन से तत्व हैं जो असन्तुष्टि उत्पन्न करते हैं तथा कौन से ऐसे तत्व हैं जो सन्तुष्टि देते हैं।
2. यह विचारधारा कर्मचारियों को कार्य करने तथा सन्तोष में वृद्धि करने वाले तत्वों अर्थात् अभिप्रेरक तत्वों के बीच अन्तर को बताती है।
3. यह विचारधारा बताती है कि असन्तुष्टि उत्पन्न करने वाले तथा सन्तुष्टि प्रदान करने वाले घटक अलग-अलग होते हैं।
4. यह विचारधारा विवेकपूर्ण एवं तार्किक है जो कारण तथा परिणाम को बताती है।
5. यह विचारधारा कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने के लिए ठोस उपायों को बताती है जिससे कर्मचारी कार्य के लिए अभिप्रेरित होता है।

### दोष :-

1. यह विचारधारा सीमित कर्मचारियों पर हुए शोध पर आधारित है जिसके आधार पर सामान्य निष्कर्ष देना ठीक नहीं है।
2. आरोग्य एवं अभिप्रेरक घटकों का श्रेणी विभाजन करना कठिन ही नहीं बल्कि अव्यवहारिक है।
3. इस विचारधारा के अनुसार केवल अभिप्रेरक तत्वों ही कर्मचारी को कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं जबकि व्यवहार में दोनों ही प्रकार के घटक अभिप्रेरणा का कार्य करते हैं।
4. यह सिद्धान्त केवल प्रबन्धकीय स्तर के कर्मचारियों पर ही लागू होता है सामान्य कर्मचारियों और मालिकों पर लागू नहीं होता।
5. इस विचारधारा के अनुसार सभी अभिप्रेरक तत्वों पर ध्यान नहीं दिया गया जबकि अच्छा वेतन पदोन्नति, अच्छे सम्बन्धों को भी अभिप्रेरक तत्वों में शामिल नहीं किया गया।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी यह विचारधारा अभिप्रेरणा की श्रेष्ठ विचारधाराओं में गिनी जाती है।

### मेकग्रेगर की 'एक्स' तथा 'वाई' विचारधारा (Mcgregor's Theory X and Y)

प्रो. डगलस मेकग्रेगर (Douglas Mcgregor) ने अपनी पुस्तक Human Side of Enterprise में कार्यशील व्यक्तियों के सम्बन्ध में दो समूह प्रस्तुत किये। इनमें से एक समूह ऋणात्मक मान्यता पर आधारित निराशावादी विचारधारा को बताता है जबकि दूसरा समूह सकारात्मक मान्यताओं पर आधारित आशावादी विचारधारा को बताता है।

इस विचारधारा के अनुसार प्रबन्धक मानव प्रवृत्ति को समझकर कर्मचारियों को अपने व्यवहार में परिवर्तन करने के लिए प्रेरित कर सकता है।

## एक्स विचारधारा (Theory X)

यह विचारधारा मानव व्यवहार के निराशावादी दृष्टिकोण को बताती है जो निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है—

1. व्यक्ति स्वभाव से आलसी तथा काम से जी चुराने वाले होते हैं अर्थात् व्यक्ति कम से कम कार्य करना चाहते हैं।
2. कर्मचारी कार्य को अरुचिकर मानते हैं।
3. कर्मचारी उत्तरदायित्वों से बचना चाहते हैं वह दूसरों के दिश निर्देश में ही कार्य करना चाहता है।
4. मनुष्य जन्मजात स्वार्थी होता है। वे संगठन के हितों के प्रति उदासीन होते हैं।
5. एक सामान्य कर्मचारी अपेक्षाकृत कम महत्वाकांक्षी होता है। वह अच्छी उपलब्धियों के लिए प्रयास नहीं करता।
6. व्यक्ति जल्दी से परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करता।
7. व्यक्ति बहुत ही भोला-भाला होता है। वह चतुर नहीं होता है लोग उसे आसानी से भड़काने में कामयाब हो जाते हैं।
8. कर्मचारी सबसे पहले रोजगार की गारन्टी चाहता है।
9. इस विचारधारा के अनुसार संस्था के लक्ष्य को प्राप्ति हेतु कर्मचारी को नियन्त्रित करना, डराना-धमकाना तथा प्रताड़ित करना माना जाता है।

इस तरह यह विचारधारा मनुष्य को जन्मजात कामचोर व आलसी मानती है। इस विचारधारा में विश्वास रखने वाले प्रबन्धक कर्मचारियों पर कठोर नियन्त्रण रखकर कार्य करवाते हैं। सभी अधिकार अपने पास रखते हैं तथा गहन निरीक्षण कड़ा अनुशासन रखकर ही कर्मचारियों को रखकर ही कार्य करने के लिए अभिप्रेरित कर सकते हैं।

## मूल्यांकन (Evaluation)

इस विचारधारा की कुछ कमियां हैं जो इस प्रकार हैं—

1. यह मानवीय व्यवहार के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण रखती है। यह मानवीय प्रतिष्ठा पर आघात करती है।
2. यह मानवीय आवश्यकताओं और भावनाओं को नकारती है।
3. इस विचारधारा के अनुसार भय एवं दण्ड के द्वारा ही कर्मचारियों से कार्य करवाया जा सकता है जबकि व्यवहार में ऐसा नहीं होता।
4. यह प्रबन्धकों को निरंकुशवादी नेता बनने पर बल देती है।
5. यह मनुष्य को केवल आर्थिक मनुष्य की मानती है।
6. यह विचारधारा गलत मान्यताओं पर आधारित है कि व्यक्ति दायित्वों से बचना चाहता है। व्यक्ति कामचोर एवं आलसी होता है जबकि व्यक्ति उपर्युक्त परिस्थितियों एवं वातावरण में अपने कार्य को पूरा करता है दायित्व स्वीकारता है।



7. इस विचारधारा के अनुसार अगर कर्मचारियों के कार्य में हस्तक्षेप न किया जाए तो वे संस्था के उद्देश्यों में बाधक सिद्ध होते हैं। जबकि आलोचकों के अनुसार यह धारणा गलत है।
8. यह परम्परागत अवधारणा पर आधारित है जबकि वर्तमान में मनुष्य स्वयं आगे बढ़कर कार्य कर अपने आप को तराशना चाहता है।

संक्षेप में यह विचारधारा द्वारा प्रबन्धक कर्मचारियों को अभिप्रेरित करके काम नहीं करवाते बल्कि डण्डे के जोर से कार्य करवाते हैं। किन्तु वर्तमान में यह विचारधारा सामान्यतः नहीं अपनाई जाती है। परन्तु कुछ एक प्रबन्धक आज भी इस तरह के मिल सकते हैं जो कड़ा अनुशासन रहते हैं और डण्डे के जोर पर कार्य करवाते हैं।

### वाई विचारधारा (Y Theory)

वाई विचारधारा X विचारधारा से बिल्कुल विपरीत है। यह विचारधारा व्यक्ति के प्रति सकारात्मक तथा आशावादी दृष्टिकोण रखती है। इसकी प्रमुख मान्यताएं इस प्रकार हैं—

1. ग्रेगर की मान्यता है कि यदि उचित वातावरण उपलब्ध कराया जाए तो कर्मचारी काम को करता है कामचोर नहीं होता। वह कार्य को बड़े ही सहज तरीके से लेता है। जैसे खेलकूद, आराम तथा मनोरंजन की क्रियाओं को लेता है।
2. जब कर्मचारी किसी कार्य के लिए प्रतिबद्ध हो जाते हैं तो उस कार्य के लिए वह स्वयं ही निर्देशित एवं नियंत्रित होता है। उससे भय, दण्डण अनुशासन द्वारा नहीं करवाया जा सकता।
3. इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य किसी कार्य के प्रति समर्पित है उस कार्य को करते हैं तो उन्हें पुरस्कार मिलेगा।
4. उचित माहौल में मनुष्य कार्य को सीखता है। उत्तरदायित्व ग्रहण करता है तथा उत्तरदायित्व ग्रहण करने की इच्छा रखता। अनुभव के आधार पर उसमें महत्त्वकांक्षा की कमी, उत्तरदायित्व को टालना आदि प्रवृत्तियां विकसित हो जाती है ये प्रवृत्तियां मनुष्य में से नहीं होती।
5. इस विचारधारा के अनुसार संगठन की समस्याओं के समाधान के लिए कल्पनाशीलता तथा कार्यकुशलता के उपयोग की क्षमता कुछ व्यक्तियों में ही नहीं होती वरन् व्यक्तियों में व्यापक रूप से पाई जाती है।
6. वर्तमान औद्योगिक युग में औद्योगिक श्रमिक की मानसिक क्षमताओं का आंशिक उपयोग ही हो रहा है।
7. व्यक्तियों में अभिप्रेरित उच्च स्तरीय आवश्यकताओं के कारण ही नहीं होता बल्कि इनके साथ-साथ शारीरिक एवं सुरक्षा स्तरों की आवश्यकताओं से अभिप्रेरित हो कर भी कार्य करता है।

### योगदान : (Contribution)

इस विचारधारा ने मानव के प्रति नई दृष्टिकोण सोच दी है। इस विचारधारा ने यह सिद्ध कर दिया कि आपसी सद्विश्वास, सहभागिता, सहयोग द्वारा प्रबन्ध एवं कर्मचारी, संगठन के लिए टीम-भावना से कार्य करते हैं। यह विचारधारा संस्था तथा व्यक्ति के लक्ष्यों को एक मानती है जो संस्थ के हित में है वही कर्मचारियों के हित में है। संस्था का प्रत्येक कर्मचारी अपनी योग्यता, शक्ति का पूरा उपयोग करते हुए संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अभिप्रेरित होते रहते हैं। इस विचारधारा के निम्नलिखित गुण हैं—

1. यह विचारधारा प्रबन्धकों को मनुष्य के सम्मान व महत्व को समझाने का प्रयास करती है।
2. यह मनुष्य को विवेकशील व सृजनशील प्राणी मानती है।
3. यह विचारधारा संस्था तथा व्यक्ति के लक्ष्य को एक ही मानती है।
4. यह संस्था में जनतान्त्रिक व्यवस्था को अपनाने पर बल देती है।
5. इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने काम के प्रति स्वतः निर्देशित एवंनियन्त्रित होता है।
6. यह मनुष्य के समग्र रूप पर ध्यान देती है। न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक तथा मानसिक पहलू पर भी ध्यान देती है।
7. यह विचारधारा मानती है कि अगर कर्मचारी को उचित वातावरण व प्रबन्धकों का सही नेतृत्व एवं दिशा-निर्देश मिले तो वह अपने कार्यों को सहज रूप से पूरा करते हैं।

कुल लोग इस विचारधारा की आलोचना भी करते हैं। उनके अनुसार यह कोई नई विचारधारा नहीं है यह व्यक्ति बहुत ही गंभीर (Sincerare) व सृजनशील और दायित्वों को उठाने वाला मानती है। सामान्यतः मानवीय क्षमताओं एवं विवेक का उपयोग करने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना कठिन होता है। यह विचारधारा मानव व्यवहार को सरल समझती है जबकि मनुष्य को समझना अत्यन्त कठिन है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि दोनों विचारधारा (X तथा Y) परस्पर विरोधी तथा काल्पनिक है जो व्यवहार में प्रायः नहीं पाई जाती। अतः प्रबन्धकों को चाहिए कि दोनों विचारधाराओं की मान्यताओं के आधार पर व्यक्तियों के स्वभाव लक्षणों व व्यवहार का अध्ययन कर इन दोनों के बीच का मार्ग अपना कर कर्मचारियों को अभिप्रेरित कर कार्य करवाना चाहिए।

## विलियम औची की "जेड" विचारधारा (William Ouchi's Theory of Z)

जेड विचारधारा के रूप में एक शब्द शायद पहले प्रो. औची (1981) में किया। इस विचारधारा का प्रतिपादन प्रबन्धशास्त्र के प्रोफेसर विलियम जी औची (William G. Ouchi) द्वारा किया गया। इन्होंने अपनी पुस्तक "Theory Z : How American Business Can Meet the Japanese Challenge" में लिखा कि अमरीका कम्पनियों में ठीक वैसा ही व्यवहार होता है जैसा कि जापान की कम्पनियां वर्षों से कर रह है। इन्होंने यह पुस्तक कई जपानी एवं अमरीकी कम्पनियों के प्रबन्धकीय के बाद लिखी। इस अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष रूप में विचारधारा का नाम दे दिया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जेड विचारधारा एक व्यापक प्रबन्धकीय विचारधारा है। जिसे विलियम औची ने कुछ अमरीकी एवं जापानी कम्पनियों में प्रबन्धकीय व्यवहार के अध्ययन एवं विश्लेषण के बाद प्रतिपादित की।

औची के अनुसार जापानियों की सफलता का राज प्रौद्योगिकी नहीं है बल्कि लोगों के प्रबन्धन का एक विशेष तरीका है। यह एक ऐसी प्रबन्धकीय शैली है जो कम्पनी के दर्शन (Philosophy) एक कार्य संस्कृति लम्बी दूरी तक कर्मचारियों के विकास पर ध्यान देती है साथ ही निर्णयण प्रक्रिया में कर्मचारियों की सहभागिता पर बल देती है।

## 'जेड' विचारधारा की विशेषताएं (Features of theory 'Z')

जेड विचारधारा एक ऐसी मिश्रित विचारधारा है जिसमें जापानी तथा अमरीकी प्रबन्धन की अच्छाइयों को शामिल किया गया। इसकी विशेषताएं इस प्रकार हैं—

1. **संस्था तथा कर्मचारियों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध:** इस विचारधारा का मानना है कि संस्था और उसके कर्मचारियों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध होने चाहिए। इसके लिए औची ने निम्नलिखित सुझाव दिये—
  1. आजीवन रोजगार (**Employment**) अर्थात् लम्बे समय तक रोजगार की व्यवस्था होनी चाहिए।
  2. जबरन छुट्टी या छंटनी जैसा कार्य संस्था को नहीं करना चाहिए।
  3. संस्था को अपने कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने हेतु वित्तीय तथा गैर-वित्तीय तकनीकों को अपनाना चाहिए।
  4. लम्बवत (**Vertical**) पदोन्नति के स्थान पर समानान्तर (**Horizontal**) पदोन्नति पर विशेष ध्यान देना चाहिए।
  5. प्रत्येक कर्मचारी का जीवन वृत्ति की योजना इस प्रकार बनाई जाये कि प्रत्येक व्यक्ति संस्था में उचित पद पा सके।
2. **अनौपचारिक नियन्त्रण—** इस विचारधारा के अनुसार संस्था में प्रबन्धकों को अनौपचारिक नियन्त्रण प्रक्रियाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। नियन्त्रण हेतु प्रबन्धकों को आपसी सहयोग एवं विश्वास पर बल देना चाहिए।
3. **पारस्परिक विश्वास—** जेड विचारधारा बताती है कि संस्था में कार्य करने के लिए अच्छा वातावरण होना चाहिए। कर्मचारियों में पारस्परिक विश्वास सौहार्दपूर्ण वातावरण होना चाहिए। साथ ही संस्था के सदस्यों का मस्तिष्क खुला होना चाहिए ताकि वे एक दूसरे को समझ सकें।
4. **कर्मचारी-सहभागिता—** इस विचारधारा के अनुसार संस्था के निर्णयों में भागीदारी दी जानी चाहिए। निर्णय करते समय कर्मचारियों से विचार विमर्श करना चाहिए साथ ही उनके सुझाव आमन्त्रित करने चाहिए। जहां कर्मचारियों के हितों की बात आती है। वहां निर्णय के सम्बन्ध में सामूहिक निर्णय प्रक्रिया ही अपनानी चाहिए। ऐसा करने से कर्मचारी निर्णयों को क्रियान्वित करने में तत्पर रहते हैं अर्थात् प्रबन्धन में अपने कर्मचारियों के क्रम में सहभागी प्रबन्धन के इस प्रकार के लिए काम करने के लिए विश्वास का एक उच्च डिग्री होनी चाहिए।
5. **उत्तरदायित्व:—** यह विचारधारा बताती है कि व्यक्तिगत स्तर पर उत्तरदायित्व का निर्धारण किया जाना चाहिए। कर्मचारियों को स्वयं ही निर्णय करने का दायित्व लेना चाहिए। संस्था को भी चाहिए कि वह कर्मचारियों की निर्णयण प्रक्रिया में शामिल करे।
6. **अनौपचारिक संगठन—** इस विचारधारा के अनुसार अनौपचारिक संगठन होना चाहिए संस्था में कोई विभाग, उपविभाग या अन्य किसी प्रकार का कोई दृश्यमान ढांचा नहीं होना चाहिए। यह विचारधारा इस बात पर विचार देती है कि संस्था में समूह भवना (**Team Spirit**) तथा सहयोग की भावना होना चाहिए ताकि संस्था की कोई भी समस्या हो मिल बैठकर समस्याओं के समाधान हेतु संसाधनों एवं सूचनाओं का उपयोग कर सके।
7. **मानवीय संसाधन के विकास पर ध्यान—** यह विचारधारा इस बात पर बल देती है कि प्रबन्धकों को चाहिए कि अपने अधीनस्थों में छिपी हुई क्षमताओं को पहचाने तथा उनके कौशल, चातुर्य का विकास करे। अधीनस्थों के विकास हेतु उचित प्रशिक्षण दिया जाए। उन्हें कार्य हेतु प्रेरित किया जाय।
8. **मूल्यांकन एवं प्रशिक्षण—** जेड विचारधारा मानती है कि संस्था के कर्मचारियों का मूल्यांकन पर ध्यान देना चाहिए मूल्यांकन हेतु परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए इसे

कर्मचारियों में प्रतिबद्धता बढ़ती है। साथ ही प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

9. **मानवता पर ध्यान**— इस विचारधारा के अनुसार मानवता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थों का ध्यान संस्था में ही नहीं अर्थात् कार्यस्थल पर ही नहीं बल्कि बाहर भी रखना चाहिए। साथ ही उन्हें कर्मचारियों की रुचियों, उसकी महत्वकांक्षाओं, इच्छाओं तथा उसके परिवार सहित सभी पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए।
10. **जीवन वृत्ति पथ**— इस विचारधारा के अनुसार कर्मचारियों की जीवनवृत्ति पथ विशिष्टिकरण के आधार पर नहीं होना चाहिए। कर्मचारियों को अपने कार्यकारी जीवन में विभिन्न कार्यों का अनुभव मिलना चाहिए। इसके लिए समय-समय कर्मचारियों का कार्य परिवर्तन करना चाहिए साथ ही उससे सम्बन्धित व्यापक प्रशिक्षण भी देना चाहिए।

### जेड विचारधारा का मूल्यांकन (Appraisal of Theory of Z)—

जेड विचारधारा एक व्यापक प्रबन्धकीय विचारधारा है इसमें कई **efficient** जापानी कम्पनियों के उच्च कर्मचारी प्रतिबद्धता, प्रेरणा, उत्पादन और उत्पादकता की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। किन्तु इस विचारधारा की निम्नलिखित कमियों एवं सीमाओं के कारण आलोचना भी की जाती है जो इस प्रकार है—

1. **आजीवन सेवायोजना में कठिनाई**— इस विचारधारा ने कर्मचारियों के आजीवन सेवायोजना पर बल दिया जबकि यह निम्नलिखित कारणों के कारण सम्भव नहीं है—
  1. कोई भी संस्था किसी भी ऐसे कर्मचारी को लम्बे समय तक रोजगार में नहीं रख सकती जो कम उत्पादक हो।
  2. कोई भी कर्मचारी अच्छा रोजगार मिलते ही संस्था को छोड़ने में संकोच नहीं करेगा।
2. **सामूहिक निर्णयन प्रक्रिया में कठिनाई** : यह विचारधारा सामूहिक निर्णयन प्रक्रिया अपनाने पर बल देती है जब कि सामूहिक निर्णयन प्रक्रिया में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कई बार कर्मचारी आलोचना के भय के कारण निर्णयन प्रक्रिया में शामिल नहीं होना चाहते, तो कभी कर्मचारियों में निर्णय लेने की योग्यता एवं क्षमता नहीं होती। कभी कभी प्रबन्धक अपने अहंकार से कर्मचारी को सहभागी बनाने का मौका नहीं देते।
3. **लागू करने में कठिनाई**— यह विचारधारा औपचारिक संगठन की अनावश्यक मानती है। जबकि अनौपचारिक संगठन व नियन्त्रण पर बल देती है। किन्तु आप किसी भी संस्था का संचालन औपचारिक संगठन संरचना के बिना सम्भव नहीं है।
4. **सांस्कृतिक भिन्नताएं**— यह विचारधारा जापानी कम्पनियों के शोध पर निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित हैं अर्थात् जापानी संस्कृति से प्रभावित है। जबकि अलग-अलग देशों में अलग-अलग संस्कृति पाई जाती है अतः सभी देशों में एक सा प्रबन्धकीय व्यवहार अपनाना कठिन है।
5. यह विचारधारा अभिप्रेरणा संबन्धी समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं प्रस्तुत करती।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद इस विचारधारा का प्रयोग कर कम्पनियों के लिए आधुनिक कारोबार दरों उत्पादकता क्षमता, प्रभावशीलता, संगठनात्मक व्यवहार और नौकरी सन्तुष्टि में सुधार दिखाया है।

## अभिप्रेरणा की वित्तीय तथा गैर-वित्तीय तकनीकें (Financial and Non-Financial Techniques of Motivation)

व्यवहार में अभिप्रेरणा की अनेक विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग किया जाता है—मोटे रूप में इन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है—

1. वित्तीय तकनीक
2. अवित्तीय तकनीक

प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएं तथा आवश्यकताओं की प्राथमिकता एक सी नहीं होती। किसी भी आवश्यकता को पूरा करने के लिए वित्त की जरूरत होती है। अतः वित्तीय साधन अभिप्रेरणा का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसका मतलब यह नहीं कि अवित्तीय साधन अभिप्रेरित नहीं करता।

प्रबन्ध की दृष्टि से वित्तीय तथा अवित्तीय दोनों में ऐसा सन्तुलन हो जिससे न्यूनतम लागत पर अधिकतम अभिप्रेरणा मिल सके। अतः दोनों ही तकनीक संस्था के लिए लाभदायक होती है जिसकी हम यहां पर विस्तार से चर्चा करेंगे—

**(A) वित्तीय तकनीक (Financial Techniques)**—वित्तीय तकनीक का सम्बन्ध मौद्रिक लाभ से है। वित्त मनुष्य की अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं करता बल्कि उसकी सामाजिक स्थिति भी सुदृढ़ बनाता है। विलासितापूर्ण जीवन यापन भी कर सकता है। आधुनिक समाज में मुद्रा सामाजिक आदर एवं स्थिति का प्रतीक माना जाता है। अतः मुद्रा अभिप्रेरणा का एक आधारभूत साधन है। उच्च वेतन, मजदूरी, बोनस, भत्ते, लाभ में हिस्सा, अनुषंगी लाभ (Fringe benefits) पेन्शन, ग्रेच्युटी, प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा अन्य मौद्रिक लाभ शामिल होते हैं। वित्तीय साधन जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक होते हैं। अतः वित्तीय तकनीक द्वारा कर्मचारियों को कार्य करने के लिए अभिप्रेरित किया जा सकता है।

**(B) अवित्तीय तकनीक (Non-Financial Techniques)**—वर्तमान में शिक्षा, ज्ञान व परिपक्वता में वृद्धि के कारण अवित्तीय तकनीकों का महत्व दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। अवित्तीय अभिप्रेरणा वह होती है जिसमें कर्मचारी को अभिप्रेरित करने के लिए धन की आवश्यकता नहीं होती। ये अभिप्रेरणा सामाजिक होती है, मनोवैज्ञानिक होती है जो मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं को सन्तुष्ट करती है। प्रशंसा करना, आजीवन रोजगार की गारन्टी देना, कार्य में सहयोगिता, निर्णय में स्वतन्त्रता, पद, अधिक अधिकार देना, अच्छा वातावरण उपलब्ध कराना, प्रतियोगिताएं आदि अवित्तीय तकनीकें हैं। कुछ प्रमुख अवित्तीय तकनीकें इस प्रकार हैं—

**1. आजीवन रोजगार—** कर्मचारी को आजीवन रोजगार सुरक्षा प्रदान करके भी अभिप्रेरित किया जा सकता है। अर्थात् उसे निरन्तर कार्य उपलब्ध कराना तथा मन्दी काल में भी रोजगार की गारन्टी देना।

परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आजीवन रोजगार जहां मनुष्य के लिए अभिप्रेरणा बनती है वही मनुष्य को लापरवाह भी बनाती है।

**2. सुरक्षा—** कर्मचारियों को सेवा सुरक्षा देकर भी अभिप्रेरित किया जा सकता है। मूरे ने तीन प्रकार की सुरक्षा को बताया है— रोजगार, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा। अतः प्रबन्धक कर्मचारियों को ये सुरक्षाएं प्रदान करके संस्थान के प्रति निष्ठाभाव, सेवाभाव तथा अपनत्व पैदा कर अभिप्रेरित कर सकता है।

3. **प्रशंसा एवं मान्यता देना**— कर्मचारी द्वारा किये गये अच्छे कार्य की प्रशंसा करके उसकी कार्यक्षमता को बढ़ाया जा सकता है। संस्था में जब कोई कर्मचारी अच्छा कार्य करता है तो उसकी प्रशंसा अवश्य करनी चाहिए। कर्मचारी को धन्यवाद, शाबाश कहकर वेतन वृद्धि कर, प्रशंसा पत्र कर, पीठ थपथपाकर प्रशंसा को व्यक्त किया जा सकता है। साथ ही प्रबन्धक अपने अधीनस्थों की उपलब्धियों सुझावों, विचारों, श्रेष्ठ निष्पादन व कार्य गुणों को मान्यता देकर अभिप्रेरित कर सकते हैं।
4. **पद**— संस्था में व्यक्ति का अच्छा पद एवं स्थिति उसे और अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। अच्छा पद व्यक्ति को प्रतिष्ठा व सम्मान दिलाती है वही उसमें आशा, महत्वाकांक्षा उपलब्धि के भाव उत्पन्न करती है। योग्य व्यक्ति को उचित पद प्रदान कर उसकी भूमिका को सक्रिय बनाया जा सकता है।
5. **कार्यचक्र**— इस विधि में व्यक्ति के कार्य में परिवर्तन किया जाता है। एक ही प्रकार के कार्य रात दिन करते रहने पर कार्य के प्रति उदानसीनता व नीरसता आ जाती है। कर्मचारियों को समय-समय पर विभिन्न प्रकार के कार्य दिये जाने जाय जो चुनौतिपूर्ण हो जिनसे कर्मचारी अपना कार्य कौशल प्रदर्शित कर सकें। इससे सभी कर्मचारियों को सब तरह का कार्य करने का अवसर मिलता है जिसमें कर्मचारी के ज्ञान एवं कौशल में वृद्धि होती है।
6. **अधिकार प्रत्यायोजन**— इस विधि द्वारा अधीनस्थ कर्मचारियों को अधिकार सौंपकर और दायित्वों का स्पष्ट निर्धारण कर उसके कार्य कुशलता, उत्साह, लगन को बढ़ाया जा सकता है। अधिकार प्रत्यायोजन द्वारा कर्मचारी अपने कार्य के वातावरण पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। फिलिपो (Filippo) ने कहा भी है कि किसी कार्य को करने के लिए अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों का प्रत्यायोजन प्रायः महत्वपूर्ण अभिप्रेरणा सिद्ध होता है।
7. **प्रतियोगितायें**— कार्य के निष्पादन में यदि प्रतिस्पर्धा हो तो व्यक्ति अपनी थकान भूलकर स्पर्धात्मक उपलब्धियों की ओर केन्द्रित हो जाता है। वह और अधिक मेहनत लगन व अधिक समय तथा कार्य करता है जैसे-जैसे कार्य समाप्ति की ओर होता है वह थकान व आलस्य की जगह उत्साह का अनुभव करता है। अतः स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से व्यक्ति की क्षमताओं व सृजनात्मकता को चुनौति मिलती है। प्रतियोगिता भावना से व्यक्ति अच्छा कार्य करने के लिए प्रेरित होता है।
8. **सहभागिता**— आजकल अभिप्रेरणा की यह विधि अधिक प्रचलन में है। संस्था के महत्वपूर्ण निर्णयों तथा नीति-निर्धारण में कर्मचारियों को हिस्सेदारी देकर अभिप्रेरित किया जा सकता है। सहभागिता से कर्मचारियों में अपनेपन की भावना का विकास होता है। अपनेपन की आत्म विश्वास संतुष्टि तथा सम्मान की भावना पनपती है। अतः कर्मचारी संस्था के प्रति अधिक जागरूक एवं उत्तरदायी से कार्य करते हैं।
9. **कार्य-सन्तुष्टि** — आज के युग में प्रबन्धकों का एक महत्वपूर्ण कार्य है कि वह कर्मचारियों में कार्य से सन्तुष्टि उत्पन्न करे। आज मनुष्य अपने कार्यशील घण्टों का अधिकतम समय संस्था में ही गुजारता है। अतः यह जरूरी हो गया कि उसका कार्य रुचि कर हो आकर्षक हो जिससे कर्मचारी को अपने कार्य को करने में संतुष्टि मिले।
10. **सहयोग**— संस्था में उचित एवं वातावरण हो। प्रबन्धक द्वारा अपने कर्मचारियों को संस्था का सदस्य व हिस्सेदार मान उचित सम्मान व भावनाओं का आदर करने वाला सहयोग करने वाला हो तो निश्चित ही कर्मचारी अधिक कार्य हेतु प्रेरित होंगे। यही प्रबन्धक का अधीनस्थ के प्रति सहयोग नहीं है तो अधीनस्थ भी रुचि से कार्य नहीं करेगा।
11. **सुनिश्चित लक्ष्य**— अगर संस्था के लक्ष्य निश्चित हो उसके उद्देश्य कार्य विधि, नीतियां आदि स्पष्ट है तो प्रबन्धक द्वारा कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है। लक्ष्यों, उद्देश्यों, नीतियों के स्पष्ट निर्धारण से कार्य विधि व दृष्टिकोण में निश्चितता आ जाती है जिससे कर्मचारी अभिप्रेरित होते हैं।



12. **कार्य-विस्तार**— कार्य विस्तार के अन्तर्गत कार्य को विविध प्रकृति का बनावट उसकी नीरसता को खत्म किया जाता है। इससे कर्मचारी की थकान निराश, नीरसता खत्म हो जाती है और वह अधिक मन लगाकर कार्य करता है।
13. **कार्य की स्वतन्त्रता**— कर्मचारी को कार्य में स्वतन्त्रता देकर अभिप्रेरित किया जा सकता है। इससे व्यक्ति की निष्पादन एवं मानसिक सन्तुष्टि में वृद्धि होती है। कर्मचारियों में उत्तरदायित्व व पहलपन की भावना का विकास होता है। इसके विपरीत प्रबन्धक का हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण व्यक्ति में हीनता लाता है तथा उसे चिड़चिड़ा बना देता है।
14. **विकास के अवसर**—आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास व उन्नति का अवसर चाहता है। जिससे अपनी योग्यताओं, कौशल का विकास कर सके। अतः प्रबन्धक द्वारा प्रशिक्षण शिक्षा व अन्य विकास की योजना बनाकर कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है।
15. **कार्य में गर्व**— आज प्रत्येक व्यक्ति अच्छी व प्रतिष्ठित संस्था में कार्य करना चाहता है। क्योंकि संस्था की ख्याति व छवि का व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा पर प्रभाव पड़ता है। अतः ऐसी दशा में प्रबन्धक को चाहिए कि संस्था की छवि में वृद्धि के साथ-साथ उसके कार्यों को भी गौरवपूर्ण बनाकर उसे संस्था में रूके रहने के लिए प्रेरित कर सके। ऐसी स्थिति में कर्मचारियों द्वारा और अधिक मन लगाकर कार्य किया जायेगा।
16. **नेतृत्व**— कर्मचारियों की बातों को ध्यानपूर्वक सुनना तथा उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करना भी अभिप्रेरणा का कार्य करता है। एक अच्छा प्रबन्धक उचित नेतृत्व प्रदान कर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों का विश्वास व प्रेम जीत सकते हैं। जो प्रबन्धक कर्मचारियों सही मार्ग-दर्शन देते हैं। समस्याओं का समाधान करते हैं कार्य हेतु उचित वातावरण उपलब्ध कराते हैं तथा कोई हानि होने पर क्षम्य अपराध मानकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, ऐसे प्रबन्धक के नेतृत्व में कर्मचारी अधिक कार्य करते हैं।

## प्रश्नावली

### लघुत्तरात्मक प्रश्न—

1. अभिप्रेरणा किसे कहते हैं?
2. मास्लो की आवश्यकता-क्रम को बताइये।
3. द्विघटक आरोग्य विचारधारा का प्रतिपादन किसने किया?
4. द्विघटक विचारधारा के 'आरोग्य तत्त्वों' एवं 'अभिप्रेरक तत्त्वों' को बताइये।
5. धनात्मक एवं ऋणात्मक अभिप्रेरणा को बताइये।

### निबन्धात्मक प्रश्न—

1. अभिप्रेरणा को परिभाषित कीजिए तथा इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. मास्लो की आवश्यकता क्रमबद्धता विचारधारा को विस्तार से समझाइये।
3. मैकग्रेगर की 'एक्स' तथा 'वाई' विचारधारा की विवेचना कीजिए।
4. विलियम औची जेड विचारधारा को विस्तारपूर्वक समझाइये।
5. कर्मचारियों को अभिप्रेरित करने की वित्तीय तथा अविच्छेदनीय तकनीकों को बताइए।

## नेतृत्व (Leadership)

आधुनिक समय में व्यवसाय प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति में होते हैं अनेक समस्याएं एवं चुनौतियां होती हैं। इससे साफ झलकता है कि योग्य व्यक्तियों की कमी है। कई बड़ी कम्पनियों में नये किन्तु शीघ्र सीखने वाले व्यक्तियों को भर्ती करते हैं तथा उन्हें अनुभवी एवं योग्य कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में रख देते हैं। इस प्रकार आजकल नेतृत्व द्वारा ही नये नेता तैयार किये जाते हैं। नेतृत्व की आवश्यकता स्वयं कर्मचारियों को भी होती है। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य रूप से बुद्धिमान तो होता है किन्तु उसमें संगठन कुशलता और दूरदर्शिता नहीं होती। इसी कारण ऐसे व्यक्ति को वे स्वतः नेता स्वीकार कर लेते हैं जो उन्हें मार्गदर्शन देने की क्षमता रखता हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नेता वह होता है जो संगठन के लिए लाभदायक व्यवहार करते हुए व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अन्य सदस्य कर्मचारियों को कार्य हेतु प्रेरित करे जिससे संस्था के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

की डेविस (**Keith Davis**) के अनुसार "नेतृत्व के बिना एक संगठन व्यक्तियों व मशीनों का एक भ्रम मात्र है।" पीटर एफ. ड्रकर ने कहा है "अधिकांश व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के असफल होने का प्रमुख कारण अकुशल नेतृत्व ही है। अतः सार रूप में कह सकते हैं कि बिना कुशल नेता के संस्था अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकती।

### नेतृत्व का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Leadership)

नेतृत्व का अर्थ किसी व्यक्ति के उस गुण से है जो व्यक्तियों तथा अधीनस्थों का मार्गदर्शन करता है तथा निर्देशन करने की योग्यता रखता है जिससे संस्था के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके।

कीथ डेनिस के (**Keith Davis**) अनुसार— दूसरे व्यक्तियों को पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को उत्साहपूर्वक प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने की योग्यता है। यह वह मानवीय तत्व है जो एक समूह को एक सूत्र में बाँधे रखता है और इसे अपने लक्ष्य की ओर अभिप्रेरित करता है।

रॉबर्ट अलबानीज (**Robert Albanese**) के अनुसार "प्रबन्धकीय नेतृत्व वह व्यवहार है जो स्वैच्छिक अनुगामी व्यवहार उत्पन्न करता है, जो कार्य निष्पादन की न्यूनतम आवश्यकता के अतिरिक्त पाया जाता है।"

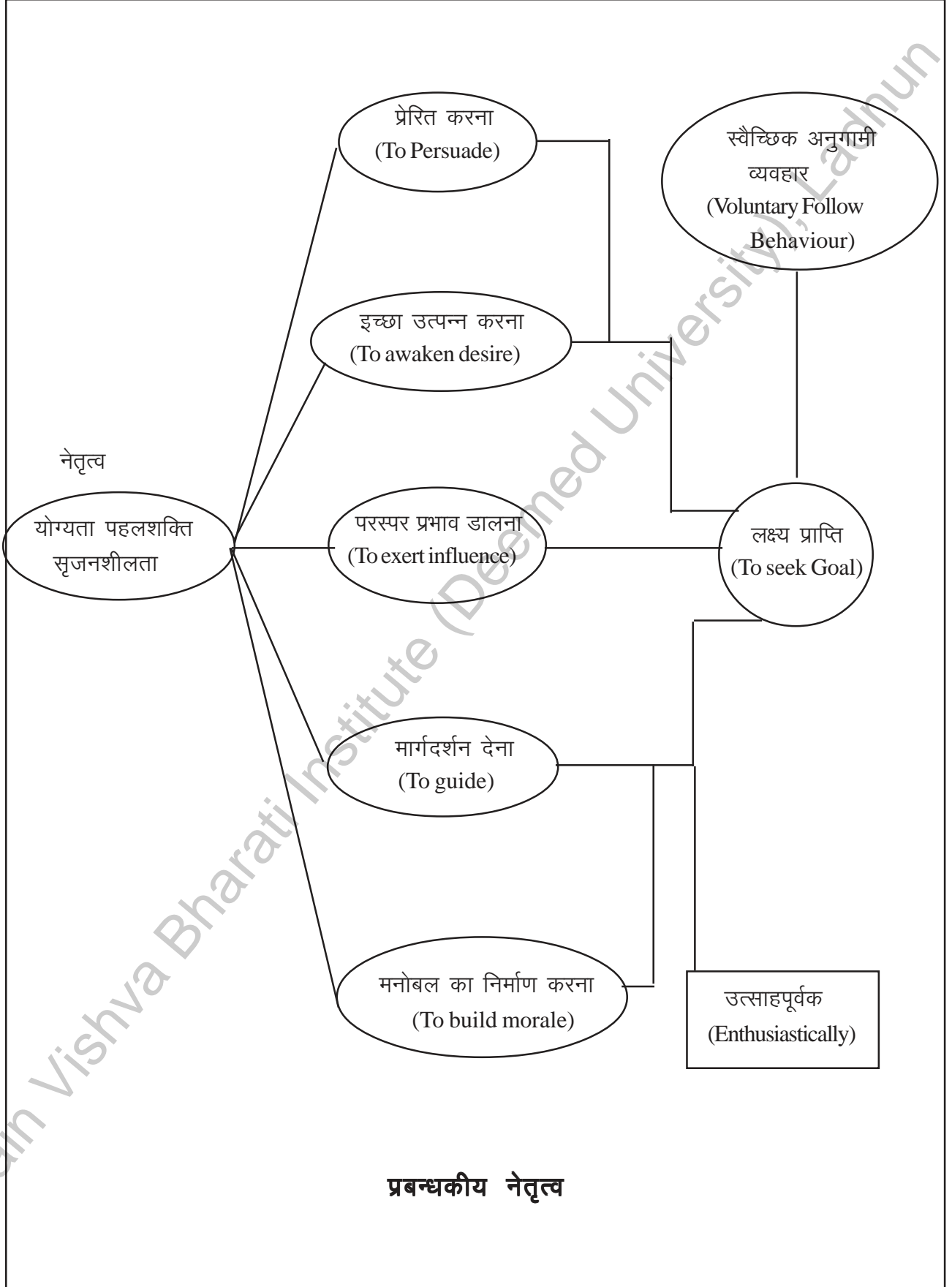
मैकफारलैण्ड (**Mcgarland**) के अनुसार— "लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सामान्य स्तर से अधिक कार्य करने के लिए व्यक्तियों को प्रभावित करने की योग्यता ही नेतृत्व है।"

अल्फ्रेड तथा बीटी (**Alfred and Beaty**) के अनुसार— "नेतृत्व वह गुण जिसके द्वारा अनुयायियों के समूह से इच्छित कार्य स्वेच्छापूर्वक अथवा बिना किसी दबाव के करवाये जाते हैं।"

कूज तथा ओडोनेल (**Koontz and O' Donnell**) के अनुसार— "नेतृत्व लक्ष्य प्राप्ति हेतु परस्पर प्रभाव डालने की योग्यता है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नेतृत्व एक ऐसा व्यावहारिक गुण है जिसके द्वारा वह दूसरे व्यक्तियों को स्वेच्छा से संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु कार्य करने के लिए प्रेरित करता है, मार्गदर्शन देता है। हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि नेतृत्व दूसरों को प्रभावित करने तथा उनसे स्वेच्छापूर्वक मार्ग करने के लिए तत्पर करने से है। इन परिस्थितियों हम निम्न तरह से भी समझा सकते हैं।





## नेतृत्व की विशेषताएं (Characteristics of Leadership)

नेतृत्व की प्रकृति को अच्छी तरह से समझने के लिए इसकी विशेषताओं का विश्लेषण करना आवश्यक है जो इस प्रकार है—

1. नेतृत्व एक व्यक्तिगत गुण है जिसके द्वारा दूसरों को प्रभावित एवं निर्देशित किया जाता है।
2. नेतृत्व एक सतत् एवं गतिशील प्रक्रिया है यह तब तक चलती रहती है जब तक संगठन विद्यमान रहता है।
3. नेतृत्व लक्ष्य प्रधान होता है। नेता सामूहिक एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संस्था की नीतियों योजनाओं एवं कार्यक्रमों के लक्ष्यों को क्रियान्वित कर सके।
4. नेतृत्व का आपसी सम्बन्धों की स्थिति में ही जन्म होता है। ये आपसी सम्बन्धी नेता तथा अनुयायियों के बीच ही पाये जाते हैं।
5. नेतृत्व दूसरे लोगों को प्रभावित करने एवं मार्गदर्शन करने की कला है जिससे अधीनस्थ स्वेच्छा से नेता की इच्छानुसार कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं।
6. नेता संस्था अपने तथा अधीनस्थों तीनों के हितों की पूर्ति करता है।
7. नेता पैदा होते हैं बनाये नहीं जाते। यह धारणा आज व्यर्थ हो गई है। जबकि आज नेतृत्व क्षमता का व्यवस्थित विकास किया जाता है तब इस क्षमता को प्राप्त किया जा सकता है।
8. अधीनस्थों के बिना नेतृत्व सम्भव नहीं होता। साथ ही अधीनस्थ को नेता का नेतृत्व स्वीकार होना चाहिए।
9. नेतृत्व प्रबन्ध के एक कार्य के साथ-साथ पद व स्तर की श्रेणी भी है।
10. नेतृत्व वह गुण शक्ति है जो सम्भवनाओं को यथार्थ में बदलने की शक्ति है।

## नेतृत्व के स्वरूप अथवा शैलियां (Styles of Leadership)

हर व्यक्ति का कार्य करने का तरीका अलग-अलग होता है। अर्थात् नेता के कार्य करने का ढंग या व्यवहार करने की विधि (Way of Action) ही नेतृत्व शैली कहलाती है। इस प्रकार नेतृत्व शैली से तात्पर्य नेतृत्व करने के तरीके या विधि से है। फ्रेड लुथांस के अनुसार "यह वह ढंग है जिसके द्वारा एक नेता अपने अनुयायियों को प्रभावित करता है। (The way in which the leader influence followers)। विभिन्न प्रकार के नेताओं का कार्य करने का ढंग अलग अलग देखा गया है। सामान्यतः तीन प्रकार नेतृत्व की शैलियां देखी गयी हैं—

1. निरंकुशल/तानाशाही नेतृत्व
2. प्रजातान्त्रिक/जनतंत्रीय नेतृत्व
3. स्वतन्त्रतावादी नेतृत्व

### 1. निरंकुशल/तानाशाही नेतृत्व ( Autocratic Leadership)

तानाशाही या निरंकुश नेतृत्व के अन्तर्गत नेता ही सब कुछ होता है। इस प्रकार के नेतृत्व में नेता सभी अधिकार व शक्तियां अपने पास रखता है। वह स्वयं ही संस्था के उद्देश्यों तथा नीतियों को निर्धारित करता है। निर्णय

प्रक्रिया में अधीनस्थों को शामिल नहीं करता, सारे निर्णय वह स्वयं लेता है, पहल करता है। अधीनस्थों को कार्य करने के लिए आदेश एवं निर्देश देता है। अधीनस्थ कहे हुए कार्य को पूरा करने के लिए वाह्य होते हैं। अगर अधीनस्थ द्वारा आदेशित कार्य को पूरा नहीं किया जाता है तो इस प्रकार का नेता उन्हें दण्डित भी कर सकता है। इस तरह का नेता अपने अधीनस्थ की किसी बात को समझना या सुनना नहीं चाहता। निरंकुश नेतृत्व प्रणाली दो तरह की हो सकती है—

- 1. सख्त या शोषक निरंकुश नेता—** इस तरह का नेता सर्वोपरि ही नहीं होता बल्कि अधीनस्थों का शोषण भी करता है। उनकी समस्याओं, शिकायतों सुझावों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इनका उद्देश्य सिर्फ अपने कार्यों को पूरा करवाना ही होता है। ये अपने अधीनस्थों पर कठोर नियन्त्रण रखते हैं। उनसे डरा धमका कर कार्य करवाते हैं। ऐसे नेतृत्व को नकारात्मक नेतृत्व (**Negative Leadership**) भी कहते हैं।
- 2. हितैषी या परोपकारी निरंकुश नेतृत्व—** इस प्रकार के नेतृत्व में नेता अपने कार्य करवाने पर ही बल देता है अर्थात् उच्च उतदकता का ही अहम् उद्देश्य होता है परन्तु ये परोपकारी होते हैं कर्मचारियों के हितों पर विचार कर लेते हैं। यह नेता दूसरों का बुरा करके काम नहीं कराता बल्कि पुरस्कार, प्रेरणा, शाबासी देकर कार्य करवाता है। यह उल्लेखनीय है कि निरंकुश नेतृत्व सभी दशाओं में कर्मचारियों के लिए कष्टप्रद नहीं है। कई कर्मचारी अपने अधिकारियों पर निर्भर होना अच्छा मानते हैं क्योंकि वे पूरी तरह से दायित्व मुक्त हो जाते हैं।

### विशेषताएं (Features)

निरंकुश नेतृत्व प्रणाली की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं—

1. निरंकुश नेतृत्व प्रणाली में सभी अधिकार एवं शक्तियां नेता के हाथ में होती हैं।
2. नेता को सभी अधिकार संगठन संरचना के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं।
3. इसमें निर्णय नेता द्वारा लिये जाते हैं।
4. अधीनस्थों का कार्य सिर्फ दिये हुए कार्यों को करना होता है अर्थात् ये आज्ञापालक होते हैं।
5. नेता अधीनस्थों को कामचोर समझता है तथा वे उत्तरदायी से बचना चाहते हैं। इसलिए उन पर कठोर पर्यवेक्षण व नियन्त्रण रखती है।
6. इस प्रकार के नेतृत्व प्रणाली में अधीनस्थों को अपनी बात नेता के सामने रखने का कोई अधिकार नहीं होता।
7. नेता द्वारा अधीनस्थों के कार्यों पर कड़ी नजर रखी जाती है।
8. ऐसे नेता अधीनस्थों की क्षमता एवं योग्यता पर विश्वास नहीं करते।
9. ऐसी प्रणाली में सम्प्रेषण व्यवस्था ऊपर से नीचे की ओर चलती है।
10. इस प्रकार के नेता ऋणात्मक अभिप्रेरणा का अधिक उपयोग करते हैं। अर्थात् कार्य को डरा, धमकाकर प्रताड़ित करके करवाते हैं।
11. कुछ हितकारी निरंकुश नेता पुरस्कार भी प्रदान करते हैं।
12. इसमें "मैं" की अवधारणा पर बल दिया जाता है।

**लाभ (Advantages)-** इस प्रणाली के प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं—

1. आदेश की एकरूपता बनी रहती है। सभी आदेश एक ही व्यक्ति (नेता) के द्वारा ही मिलते हैं।
2. समन्वय में सुविधा रहती है।
3. सम्प्रेषण में सुविधा रहती है।
4. निर्णय शीघ्रता से लिये जा सकते हैं।
5. अधीनस्थों पर कड़ा नजर रहती है जिससे वह अपना कार्य शीघ्रता से तथा अच्छा करते हैं।
6. नेता अपनी इच्छानुसार कार्य करवा के संस्था के उद्देश्य को शीघ्रता से प्राप्त कर सकता है।
7. कर्मचारियों की उत्पादकता बढ़ती है।

**दोष (Disadvantage) —** इस प्रणाली में कुछ दोष पाये जाते हैं जो इस प्रकार हैं—

1. सभी अधिकार एवं शक्तियाँ एक ही व्यक्ति (नेता) के हाथ में होने से मनमानी करने का भय बना रहता है।
2. अधीनस्थों को लक्ष्यों की जानकारी के अभाव में गलत व सही सभी कार्यों को करने के लिए बाध्य होते हैं।
3. अधीनस्थ गलत कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होती है।
4. कर्मचारियों में क्षमताओं का विकास नहीं हो पाता है। साथ ही पहलपन व उत्तरदायित्व की भावना समाप्त हो जाती है।
5. अधीनस्थ अपनी कौशल व चातुर्य का प्रयोग नहीं कर सकते हैं।
6. कर्मचारियों के मनोबल पर विपरीत, प्रभाव पड़ता है। उनकी कार्य करने की इच्छा का कोई महत्व नहीं होता है।
7. अयोग्य नेता होने पर संस्था का विकास रुक जाता है तथा भविष्य अंधकारमय हो जाता है।

**उपयोगिता—** उपरोक्त कमियों के बावजूद भी कुछ परिस्थितियों में इस प्रकार का नेता उपयोगी सिद्ध हो सकता है—

1. जब कर्मचारियों में पर्याप्त ज्ञान, कौशल, क्षमता एवं योग्यता का अभाव हो।
2. जब कर्मचारी अप्रशिक्षित हो तथा अनुभवहीन हो।
3. संस्था में कार्य की प्रकृति ऐसी हो जहाँ थोड़ी सी चूक भी बहुत गंभीर हो सकती है।
4. जहाँ कार्य को शीघ्र पूरी करवाया जाना हो।
5. जहाँ कर्मचारियों में निर्णय लेने की क्षमता न हो।

## 2 प्रजातांत्रिक या जनतांत्रिक नेतृत्व (Democratic Leadership)

प्रजातांत्रिक नेतृत्व प्रणाली में नेता अधिकारों के विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखता है। वह नीति निर्धारण करते समय अकेला निर्णय न लेकर अधीनस्थों से विचार विमर्श करता है। निर्णयों को प्रभावित करने वाले प्रत्येक विचार पर ध्यान देता है उस पर गंभीरता से विचार करता है उसे यथासंभव क्रियान्वित भी करता है। इस प्रणाली में अधीनस्थों के विचारों, शिकायतों, समस्याओं तथा सुझावों का स्वागत किया जाता है। अधीनस्थों की निर्णय प्रक्रिया में सहभागिता होती है। इस प्रकार के नेता कार्यभार अधीनस्थों को सौंपते हैं परन्तु अंतिम उत्तरदायित्व स्वयं का रहता है।

**विशेषताएं—** प्रजातांत्रिका प्रबन्ध प्रणाली की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

1. इस प्रणाली में अधिकारों को विकेन्द्रीकरण होती है।
2. इस प्रणाली में नेता निर्णय लेते समय कर्मचारियों से परामर्श सुझाव समस्याओं तथा उनसे विचार विमर्श करता है।
3. यह मानवीय मूल्यों पर आधारित है।
4. ये नेता मानते हैं कि कर्मचारियों को उचित वातावरण तथा अवसर मिले तो वह अधिक रूचि से कार्य करना चाहता है।
5. इसमें कर्मचारियों की योग्यताओं के विदोहन की कोशिश की जाती है।
6. इससे कर्मचारियों में पहलपन की भावना पनपती है।
7. यह विचारधारा "हम" पर बल देती है।
8. इसमें संचार व्यवस्था दो तरफा (**Two way communication**) होता है। इसमें कर्मचारियों को प्रोत्साहित करके, उनमें रूचि पैदा करके उनमें उत्तरदायित्व समझाकर अपना कार्य पूरा करता है।

**लाभ (Advantage) —** इस प्रणाली के प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं—

1. नेतृत्व की यह शैली प्रबन्धक एवं कर्मचारियों के मध्य पारस्परिक समझ व सहयोग में वृद्धि करती है।
2. इसमें अधीनस्थों के अपनी क्षमता का पूर्ण विकास करने का अवसर मिलता है।
3. इससे संस्था में प्रजातांत्रिक वातावरण का निर्माण होता है। कर्मचारियों में संगठन के प्रति लगाव एवं अपनापन बढ़ता है साथ यह दायित्व बोध में वृद्धि करता है।
4. यह कर्मचारियों की शिकायतों को कम करता है।
5. नेता को नवीन विचारों एवं सुझावों का निरन्तर लाभ मिलता है जिससे संस्था की उत्पादकता बढ़ती है।
6. कर्मचारियों में निराशा की भावना नहीं आती क्योंकि उन्हें पनी शिकायतों एवं समस्याओं को प्रकट करने का मौका मिल जाता है।
7. कर्मचारियों का मनोबल बढ़ता है।
8. इस प्रणाली से कार्य एवं व्यक्तियों दोनों को महत्व दिया जाता है। जिससे तनावमुक्त वातावरण का माहौल होता है।
9. इस प्रणाली में कर्मचारियों में अधिक उत्तरदायित्व वहन करने व चुनौतियों का सामना करने की क्षमता का विकास होता है।

**दोष (Disadvantages)—** इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं जो इस प्रकार हैं—

1. अधीनस्थ द्वारा निर्णय का अधिकार सौंपने पर कुछ लोग नेता को अयोग्य अकुशल मानने लगते हैं।
2. इस प्रणाली में अधीनस्थ हर छोटे बड़े मामले में सुझाव देने के आदी हो जाते हैं।
3. निर्णय शीघ्रता से नहीं लिये जा सकते निर्णय लेने से पूर्व सभी सम्बन्धित व्यक्तियों से प्रारम्भ लेना पड़ता है।
4. इस प्रणाली के अन्तर्गत लोगों में उत्तरदायी ठहराना मुश्किल हो जाता है।

**उपयुक्तता—** यह प्रणाली कुछ विशेष दशाओं में अधिक उपयोगी होती है जहां—

1. नेता कर्मचारियों से सहभागिता एवं रूचि जागृत कर कार्य करवाना चाहता है।
2. जहां नेता कर्मचारियों की शिकायतें, सुझावों एवं समस्याओं पर ध्यान देता है।
3. जहां कर्मचारी संस्था के लक्ष्यों की जानकारी रखते हो उन्हें प्राप्त करने के लिए सहयोग देने को तत्पर हो।
4. जहां कर्मचारी सामान्यतः शिक्षित एवं अनुभवी हो।
5. जहां कर्मचारी स्वयं रूचि लेकर कार्य करना चाहता हो और उत्तरदायित्व उठाने की क्षमता रखता हो।
6. यह प्रणाली वहां उपयुक्त रहती है जहां कार्य में गलती की कम सम्भावनाएं पाई जाती है।
7. जहां निर्णय लेने व कार्य समाप्त करने के लिए पर्याप्त समय हो।
8. जहां कर्मचारी आपस में सम्मान की भावना रखते हो।

### **3. निर्बाध अथवा स्वतंत्रवादी नेतृत्व (Free-rein or Laissez Faire Leadership)**

निर्बाध नेता की मान्यता है कि यदि कर्मचारियों को अपने स्तर पर कार्य करने का अवसर दिया जो वे अच्छे ढंग से कार्य कर सकते हैं। इस प्रणाली में नेता अपने अधीनस्थों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता। अधीनस्थों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर मिलता है। इस प्रणाली में अधीनस्थ संस्था के उद्देश्य के अनुरूप अपने लक्ष्य स्वयं बनाते हैं, स्वयं ही योजनाएं बनाते हैं और स्वयं ही क्रियान्वित करते हैं। अपने आप से सम्बन्धित सभी निर्णय लेने का अधिकार अधीनस्थों के पास होता है। इसमें अधिकारों का पूर्ण विकेन्द्रीकरण होता है।

इस प्रकार के नेतृत्व में कर्मचारियों का कुशल होना तथा उनमें उत्तदायित्व की भावना का होना आवश्यक है। ये नेता केवल संकट के समय ही अधीनस्थों के कार्यों में हस्तक्षेप करते हैं। इसमें नेता संस्था के कार्यों के बारे में समय-समय पर जानकारी करता रहता है तथा सभी के कार्यों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है।

**विशेषताएं—** इस नेतृत्व प्रणाली की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं—

1. इस नेतृत्व में कर्मचारी को पूर्ण कुशल, दक्ष एवं कार्य करने में सक्षम माना जाता है।
2. इस शैली में अधिकारों का पूर्ण विकेन्द्रीकरण होता है।
3. नेता अपने कर्मचारियों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देता है उनके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता।
4. नेता केवल संकटकालीन स्थिति में कर्मचारियों को मार्ग दर्शन देता है तथा सहायता करता है।
5. कर्मचारियों को अपने लक्ष्य निर्धारण, योजनाएं के निर्माण व क्रियान्वयन में पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं।
6. नेता कार्य प्रगति की पूरी जानकारी रखता है तथा उनमें समन्वय स्थापित करता है।
7. इसके अन्तर्गत नेता अधीनस्थों को आवश्यक सूचनायें एवं अधिकार प्रदान करता है ताकि अधीनस्थ अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें।
8. यह नेतृत्व की 'आप' की अवधारणा है।
9. नेता अधीनस्थों के चाहने पर उन्हें परामर्श देता है।
10. इसमें द्विमार्गी संचार व्यवस्था कार्य करती है। किन्तु संचारों का नीचे से ऊपर की ओर प्रवाह अधिक रहता है।

**लाभ (Advantages)–** स्वतन्त्रवादी नेतृत्व शैली के अपने लाभ हैं जो इस तरह हैं–

1. इसमें अधीनस्थों की कार्य क्षमता का पूर्ण विकास किया जा सकता है।
2. इस प्रणाली में कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है अधीनस्थ अपने ढंग से कार्य करता है जिसमें उसमें अपनेपन पहलपन की भावना का विकास होता है।
3. इस प्रणाली में रोक टोक न होने के कारण कर्मचारियों का मनोबल बढ़ता है। वे कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं।
4. कर्मचारियों द्वारा निर्णय अपने स्तर पर लिये जाते हैं इसलिए शीघ्रता से लिये जाते हैं।
5. कर्मचारियों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है।

**दोष (Disadvantages)–**

1. प्रत्येक कर्मचारी द्वारा अपने स्तर पर निर्णय लिये जाते हैं इसलिए इसमें समन्वय की समस्या आती है।
2. जहां कर्मचारी साधारण योग्यता वाले होते हैं वहां कर्मचारियों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता।
3. नेता व कर्मचारियों की अकुशलता की दशा में संस्था में अव्यवस्था होने पर डर रहता है।
4. नेता का अधीनस्थों पर बिल्कुल भी नियन्त्रण नहीं रहता।

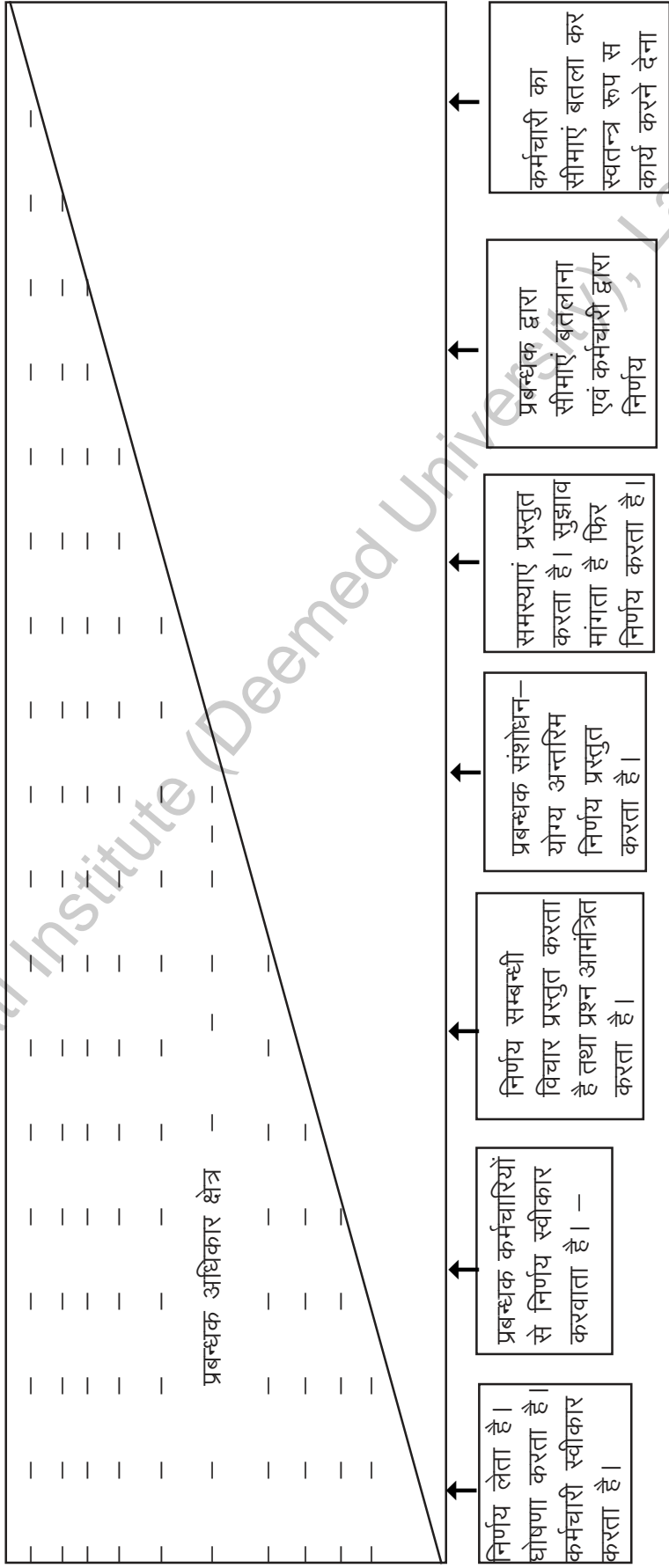
**उपयुक्तता–** स्वतंत्रतावादी नेतृत्व प्रणाली वहां उचित प्रतीत होती है जहां–

1. कर्मचारियों में असाधारण क्षमता एवं योग्यता विद्यमान होती है।
2. जहां कर्मचारी संस्था के उद्देश्य से भली प्रकार परिचित हो और कर्मचारी उन्हें प्राप्त करने के लिए तत्पर हो।
3. कर्मचारी पर्याप्त प्रशिक्षित एवं अनुभवी हो।
4. जहां कर्मचारी बिना किसी आदेश निर्देश एवं मार्गदर्शन के कार्य करने में सक्षम हो।
5. जहां निर्णय लेने में एवं कार्य समाप्त करने में अत्यधिक समय उपलब्ध हो।
6. जहां कर्मचारियों में आपसी सम्मान की भावना हो। सौहार्दपूर्ण वातावरण हो।
7. जहां कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व को खुद भली प्रकार से समझता हो।

**टेनेनबॉम तथा शमिट की नेतृत्व विचारधारा (Tannenbaum and Schmitz leadership)**

रॉबर्ट टेनेनबॉम तथा वारेन एच. शमिट (**Robert Tannenbaum and Warren H. Schmitz**) ने सन् 1957 नेता व्यवहार का एक निरन्तरता मॉडल प्रस्तुत किया था। 1973 में उन्होंने इसमें कुछ संशोधन किया। इस मॉडल के आधार पर नेता अपने स्वयं की अनुयायियों की तथा परिस्थिति की शक्तियों पर विचार करते हुए सात प्रकार के नेतृत्व व्यवहार में से एक किसी एक नेतृत्व को चुनता है। नेतृत्व व्यवहार का सात्यमक्रम (**continuum**) अथवा विस्तार (**Range**) दो चरम छोरों (**Extreme ends**) पर नेतृत्व की दो परस्पर विपरीत विरोधी शैली को दिखाया गया है। बांयी ओर एक छोर पर अत्यन्त अधिकारी केन्द्रित नेतृत्व (**Highly boss centered leadership**) को दिखाया गया है। इसके विपरीत दूसरी ओर दांयी छोर पर अत्यन्त अधीनस्थ केन्द्रित नेतृत्व (**Highly Subordinate centered leadership**) को दिखाया गया है। इसे गैर प्रबन्धक सत्ता क्षेत्र माना गया है। इन दोनों छोरों के बीच विभिन्न प्रकार के नेतृत्व व्यवहार एवं नेतृत्व शैलियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इनके बीच नेतृत्व व्यवहार की 5 शैलियां को चित्र में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

## टेनेनबॉम संगठन एवं समाज का वातावरण



चित्र : टेनेनबॉम तथा शमिट का नेतृत्व सांतात्यक माडल



पैमाने के एक ओर अत्यन्त अधिकारी केन्द्रित नेतृत्व शैली दिखाने का तात्पर्य एक ऐसा नेता जो अपने पास सभी अधिकार रखता है। अर्थात् सत्ता पद से प्रवाहित होती है यह नेता की निरंकुश शैली की मान्यता पर आधारित है। अधीनस्थ को कोई अधिकार नहीं देता। जबकि दूसरी ओर अत्यन्त अधीनस्थ केन्द्रित नेतृत्व शैली में नेता प्रजातांत्रिक मूल्यों पर पूर्णतः विश्वास रखता है। वह अपने कार्य नियोजन एवं क्रियान्वयन में कर्मचारियों की भागीदारी निभाता है कर्मचारियों में दायित्वों को बांटता है।

स्पष्ट है कि पैमाने के दोनों चरम छोरों पर दो विपरीत चरम नेतृत्व शैलियों को दिखाया गया है। जैसे-जैसे हम बायें छोर से दायें छोर की ओर बढ़ते हैं तो अधीनस्थों में स्वतन्त्रता बढ़ती जाती है और नेता की सत्ता कम होती जाती है। जब कि दाये से बायें की ओर आते हैं तो अधीनस्थों की स्वतन्त्रता घटती है और नेता की अधिकार सत्ता बढ़ती है। टेनेनबॉम तथा शिमिट के अनुसार निरंकुश तथा जनतंत्रीय व्यवहार की इन दो छोर के मध्य नेता सात प्रकार का व्यवहार हो सकता है जिनमें से किसी भी एक व्यवहार का चयन कर विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार प्रयोग कर सकता है।

1. **नेता स्वयं निर्णय लेता है तथा घोषणा करता है** – ऐसा नेता पूर्णतः निरंकुश प्रवृत्ति के होते हैं। स्वयं निर्णय लेकर अधीनस्थों को सूचित करता है। अधीनस्थ उस निर्णय के अनुसार कार्य करने हेतु बाध्य होते हैं।
2. प्रबन्धक अधीनस्थों से निर्णय को स्वीकार करवाता है अर्थात् उन्हें स्वीकार करने हेतु बाध्य करता है।
3. **प्रबन्धक विचार प्रतुत करता है तथा प्रश्न आमन्त्रित करता है**– इसमें प्रबन्धक द्वारा निर्णय लेने के बाद अधीनस्थों से प्रश्न आमन्त्रित करता है। तब नेता इन अधीनस्थों के प्रश्नों का उत्तर देता है अर्थात् समस्याओं का समाधान करता है तत्पश्चात् अधीनस्थों द्वारा इन निर्णयों को क्रियान्वित करना होता है।
4. **प्रबन्धक संशोधन योग्य अन्तरिम निर्णय प्रस्तुत करता है**– अर्थात् प्रबन्धक इस सोच के साथ निर्णय लेता है कि आवश्यकता पड़ने पर उसे बदला जा सकता है। ऐसा नेता निर्णय अधीनस्थों के सामने रखता है अधीनस्थों के प्रश्न तथा विचार आमन्त्रित करता है। इन विचारों तथा समस्याओं को ध्यान में रखकर निर्णय की समीक्षा करता है और उसे सुधार की आवश्यकता लगती है तो उसमें संशोधन कर लेता है।
5. **प्रबन्धक समस्याएं रखता है सुझाव मांगता है फिर निर्णय लेता है**– इसमें नेता समस्याएं अधीनस्थों के समक्ष रखता है फिर उन से सुझाव मांगता है तत्पश्चात् वह नेता उन सुझावों को ध्यान में रखकर निर्णय लेता है।
6. **प्रबन्धक द्वारा सीमाएं बतला कर समूह में निर्णय लेने के लिए कहता है**– इस प्रकार की नेतृत्व शैली में प्रबन्धक निर्णय की सीमाओं को बता देता है तत्पश्चात् अधीनस्थों द्वारा इन सीमाओं के भीतर निर्णय लिया जाता है।
7. **प्रबन्धक एवं अधीनस्थ दोनों मिलकर संयुक्त रूप निर्णय लेते हैं**– इसमें प्रबन्धक अपने द्वारा निर्धारित सीमाओं को बताकर अधीनस्थों को कार्य करने की स्वतन्त्रता देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि टेनेनबॉम तथा शिमिट ने नेतृत्व की 7 शैलियों को समझाने की चेष्टा की। उन्होंने नेतृत्व को एक पैमाने पर दिखाया, परन्तु कभी यह नहीं बताया कि इन 7 शैलियों में कौनसी नेतृत्व की शैली को अपनाना चाहिए। इसके साथ उन्होंने यह भी कहा कि नेतृत्व की कोई भी शैली न अच्छी है न बुरी। उन्होंने कहा

कि नेतृत्व की शैली का चुनाव परिस्थितियों एवं शक्तियों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

टेनेनबॉम तथा शमिट द्वारा 1973 में जब अपने नेतृत्व सांख्यिक मॉडल में संशोधन किया तो उन्होंने सबसे ज्यादा महत्व संगठनात्मक वातावरण व सामाजिकीय वातावरण को दिया। उन्होंने बताया कि संगठनात्मक एवं सामाजिक दोनों ही वातावरण नेतृत्व शैली से गम्भीर रूप से प्रभावित करते हैं। ये वातावरणीय शक्तियों प्रबन्धक के अधिकारों को चुनौती देती है उन्हें सही प्रकार से निर्णय करने तथा अधीनस्थों से सही ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि टेनेनबॉम तथा शमिट ने नेतृत्व की किसी भी शैली को अपनाने का राय नहीं दी बल्कि परिस्थितियों के अनुसार किसी भी कार्य शैली को अपनाने को बल दिया।

## लिंकर्ट की विचारधारा नेतृत्व की चार प्रणालियां (Linkert's Four System of Leadership)

प्रबन्धक कार्य कार्य जहां प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों को निर्धारण करना, कार्य आबंटित करना, कार्य सौंपना तथा कर्मचारियों को संगठन के उद्देश्य पूर्ति के लिए काम लेना है वही प्रबन्धक एक अच्छा श्रोता, सद्विश्वासी, अच्छा व्यवहार करने वाला, कर्मचारियों की भावनाओं को समझने वाला होना चाहिए। लिंकर्ट के अनुसार वह प्रबन्धक अधिक सफल होता है जो न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन तथा कर्मचारियों में सन्तोष, श्रम व दली सन्तोष का वातावरण तथा अधिकतम अभिप्रेरणा दे सके।

प्रो. रेन्सिस लिंकर्ट (Rensis Likert) तथा उनके सहयोगियों ने मिशिगन विश्वविद्यालय में नेतृत्व शैलियों का व्यापक शोध अध्ययन किये। इनका उद्देश्य उच्च उत्पादनशील प्रबन्धकों के नेतृत्व के सामान्य प्रारूप का पता लगाना था। इन शोध अध्ययनों के आधार पर उन्होंने नेतृत्व की 4 शैलियों का विकास किया। इन चारों शैलियों से नेताओं के व्यवहार के विभिन्न पहलुओं की जानकारी मिलती है।

प्रबन्धन की इन चार शैलियों को अग्र 4 आधारभूत प्रणालियों में बांटा गया है—

### I. प्रणाली 1— शोषणकारी निरंकुश नेतृत्व (System 1 : Exploitative Autocratic Leadership)

लिंकर्ट ने नेतृत्व की प्रथम प्रणाली को शोषणकारी निरंकुश नेतृत्व कहा है। इस प्रणाली को अपनाने वाले प्रबन्धक में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

1. ये प्रबन्धक अपने अधीनस्थों पर बहुत ही कम भरोसा एवं विश्वास करते हैं।
2. ये प्रबन्धक अपने अधीनस्थों के विचार रख राय, सुझाव, या कोई बात कभी कभार ही सुनते हैं।
3. अधीनस्थों को अपनी कार्य समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने की स्वतन्त्रता नहीं होती है।
4. प्रशासन व्यवस्था अर्थात् संस्था के लक्ष्य नियोजन निर्णय सभी कार्य केवल उच्च स्तर पर ही निर्धारित होते हैं।
5. प्रबन्धक अपने अधीनस्थों से कार्य करवाने हेतु दण्ड, चेतावनी तथा भय का सहारा लेते हैं।
6. ऐसे प्रबन्धक के विरोध में प्रायः अनौपचारिक संगठन विकसित हो जाता है।
7. ऐसे प्रबन्धक की उत्पादकता बहुत ही सामान्य स्तर की होती है।

## II. प्रणाली 2 – हितकारी निरंकुश नेतृत्व (System 2 : Benevolent Autocratic Leadership)

हितकारी निरंकुश नेतृत्व की निम्न विशेषताएं पायी जाती है—

1. ऐसे प्रबन्धक अपने अधीनस्थों पर भरोसा एवं विश्वास करके दयाभाव दर्शाते हैं।
2. सभी निर्णय प्रबन्धक द्वारा लिये जाते हैं। परन्तु निर्णयों के क्रियान्वयन में अधीनस्थों को थोड़ी सी स्वतन्त्रता दे दी जाती है।
3. ऐसे प्रबन्धक कभी कभार ही अपने अधीनस्थों से सुझाव मांगते हैं तथा अधीनस्थों को अपनी बात कहने का अवसर देते हैं।
4. ऐसे प्रबन्धक अपने अधीनस्थों को आवश्यकतानुसार पुरस्कार या दण्ड भय दिखाकर कार्य करने हेतु अभिप्रेरित करते हैं।
5. ऐसे नेतृत्व में उत्पादकता सामान्यतः मध्यम प्रकार की देखी जाती है।

## II. प्रणाली 3 – परामर्शक या सहभागी नेतृत्व (System 3 : Consultative or Participative Leadership)

इस नेतृत्व प्रणाली के निम्न गुण हैं—

1. इस प्रकार की नेतृत्व प्रणाली के प्रबन्धक अपने अधीनस्थ पर थोड़ा बहुत भरोसा करते हैं पूरा नहीं।
2. ऐसे प्रबन्धक नीतिगत विनर्णय लेने से पहले अपने अधीनस्थों से राय कर लेता है। उसके बाद प्रबन्धक स्वयं निर्णय करता है किन्तु दैनिक कार्यों से सम्बन्धित निर्णय का अधिकार अधीनस्थों को देते हैं।
3. नेता समय-समय पर महत्वपूर्ण मामलों पर अधीनस्थों से सलाह करते रहते हैं तथा सुझाव मांगते रहते हैं।
4. इस नेतृत्व शैली में सम्प्रेषण दो तरफा होता है।
5. ऐसे प्रबन्धक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को प्रेरित करने के लिए पुरस्कार देते हैं और कभी-कभी दण्ड भी देते हैं।
6. ऐसे प्रबन्धक की उत्पादकता औसत स्तर की होती है।

## IV. प्रणाली 4 – सहभागी समूह नेतृत्व (System 4 : Participative Group Leadership)

इस नेतृत्व प्रणाली में निम्न बातों पर बल दिया जाता है—

1. प्रबन्धक अपने अधीनस्थों पर पूरा विश्वास एवं भरोसा करते हैं।
2. अधीनस्थों को विचार-विमर्श की पूर्व स्वतन्त्रता होती है।
3. ऐसे प्रबन्धक अपने अधीनस्थ के विचारों एवं सुझावों, राय को लेते हैं तथा उपयोग करने में विश्वास रखते हैं। अर्थात् प्रबन्धक अपने अधीनस्थों से राय लेकर ही कार्य करता है।
4. ऐसे नेतृत्व में सहभागिता, गहरे सम्बन्ध, मान्यता, आत्मविकास के अवसर वित्तीय पुरस्कार आदि अभिप्रेरणा के साधन होते हैं।
5. ऐसे प्रबन्धक अपने अधीनस्थों के कार्यों एवं परिणामों का अनेक आधारों पर मूल्यांकन कर उचित पुरस्कार देते हैं।

6. ऐसे प्रबन्धक की उत्पादकता अधिक होती है।

लिकर्ट के शोध अध्ययन से निष्कर्ष पाया कि जो प्रबन्धक सहभागी समूह नेतृत्व प्रणाली को अपनाता है वो एक सफल नेता प्रबन्धक के रूप में ख्याति प्राप्त करता है। लिकर्ट का सुझाव है कि एक प्रबन्धक को सहभागी समूह नेतृत्व प्रणाली को ही अपनाना चाहिए। इसे अपनाने से निश्चित ही उत्पादकता में वृद्धि होगी। लिकर्ट के अनुसार यही नेतृत्व प्रणाली अनुकूलतम शैली (**Optimum**) है।

### प्रश्नावली

#### लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नेतृत्व से आप क्या समझते हैं?
2. प्रजातांत्रिक नेतृत्व शैली क्या है?
3. निरकुंश नेता किसे कहते हैं?
4. निरकुंश नेतृत्व प्रणाली के गुण-दोष बताइए।

#### निबन्धात्मक प्रश्न-

1. नेतृत्व से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं को बताइए।
2. नेतृत्व क्या है? नेतृत्व की विभिन्न शैलियों को विस्तार से समझाइए।
3. टेनेनबॉम तथा शमिट की नेतृत्व की सांतत्यक विचारधारा की विवेचना कीजिए।
4. लिकर्ट की नेतृत्व विचारधारा पर विस्तार से लेख लिखिए।

## संप्रेषण (Communication)

मानव शरीर में जो स्थान स्नायु-तन्त्र का होता है वही स्थान संगठन में संप्रेषण प्रणाली का होता है। आधुनिक समय में प्रबन्धकीय कार्यों में संप्रेषण कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। संप्रेषण कार्य तभी सफल हो पाता है जब संप्रेषक द्वारा लक्ष्य की पूर्ति हेतु कही गई बात संप्रेषिती सही अर्थों में समझ सके और उसके अनुसार कार्य कर सके।

आज बड़े-बड़े औद्योगिक उपक्रमों में जहां प्रबन्धक व कर्मचारी दोनों आमने सामने होकर बातचीत करने में समर्थ नहीं होते वही संप्रेषण के माध्यम से परिपक्व होना पड़ता है। आज प्रत्येक संगठन के अस्तित्व का आधार संप्रेषण है। जेम्स गिबसन ने कहा है कि "प्रत्येक प्रबन्धक को एक संप्रेषक होना चाहिए।" देखा जाए प्रबन्धक का अधिकतर समय संप्रेषण करने में ही व्यतीत होता है। उसे हर वक्त, आदेश निर्देश, वार्तालाप प्रतिवेदन आज्ञा, अफवाहों, सभाओं में गुजरता है।

### संप्रेषण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Communication)

संकुचित अर्थ में संप्रेषण का आशय दो या दो अधिक व्यक्तियों के मध्य सन्देशों के आदान-प्रदान को कहा जाता है। संप्रेषण को अंग्रेजी में '**Communication**' कहते हैं। **Communication** शब्द लेटिन भाषा के **Communis** शब्द से बना है। जिसका अर्थ होता है 'समरूप' (**Common**) संप्रेषण में सन्देश भेजने वाला तथा सन्देश प्राप्त करने वाले के साथ समरूपता अर्थात् एक सा अर्थ समझने का प्रयास करता है। व्यापक अर्थों में संप्रेषण वह सतत प्रक्रिया है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति सन्देशों के आदान-प्रदान के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित अर्थों, भावनाओं, तथ्यों, विचारों, अनुभावों, सूचनाओं, आपसी समझ आदि का भी आदान-प्रदान करते हैं।

#### परिभाषाएं—

1. न्यूमेन तथा समर (**Newman and Summer**) के अनुसार— "संप्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, सलाह व भावनाओं का आदान-प्रदान है।"
2. ऐलन लुइस ए. (**Allen Louis A.**) के अनुसार " संप्रेषण में उन सब बातों का योग है जो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में समझ उत्पन्न करने की दृष्टि से डालता है। इसके अन्तर्गत कहने, सुनने और समझने की व्यवस्थित तथा निरन्तर प्रक्रिया चला करती है।"
3. गिबसन एवं इवेन्सविच (**Gibson and Ivancevich**) के अनुसार— "समान प्रतीकों के माध्यम से सूचना व समझ का संचारण ही संप्रेषण है।"
4. कीथ डेविस (**Keith Davis**) के अनुसार— "संप्रेषण प्रक्रिया है जिसमें सन्देश और समझ को एक से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाया जाता है।"

**5. चार्ल्स रैडफील्ड के अनुसार —** " सन्देशवाहन से तात्पर्य मनुष्य के बीच तथ्यों एवं विचारों का पारस्परिक विनिमय के विस्तृत क्षेत्र से है न कि टेलीफोन, तार, बतार तथा इसी प्रकार की अन्य तकनीकों से है।"

**6. मेक्फार लैण्ड के अनुसार—** " विस्तृत रूप में सन्देशवाहन मनुष्य के बीच अर्थपूर्ण आपसी व्यवहार है। विशेषरूप से, यह वह प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य द्वारा अर्थों को प्राप्त किया जाता है तथा समझ पहुँचायी जाती है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संप्रेषण एक व्यवस्थित तथा निरन्तर चलने वाली गतिशील प्रक्रिया है

जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति अपने विचारों भावनाओं, तथ्यों अर्थों, मनोवृत्तियों व सूचनाओं का आदान-प्रदान करते हैं। यह प्रक्रिया तब पूरी मानी जाती है जब सन्देश प्राप्तकर्ता सन्देश को ठीक उसी अर्थ में, उसी भावना से समझ ले जिस अर्थ व भावना के साथ सन्देशदाता ने सन्देश भेजा है।

अगर इनमें कोई अवरोध आता है तो यह प्रक्रिया अधूरी मानी जाती है। सम्प्रेषण प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जबतक कि आपसी अवरोध, सन्देश, आपत्तियां दूर करके आपसी समझ एवं सम्मति उत्पन्न नहीं कर ली जाती। इन अवरोधों को दूर करने के लिए तर्कों तथ्यों, चित्रों उदाहरणों, संकेतों का सहारा लिया जाता है।

## सम्प्रेषण की प्रकृति या विशेषताएं (Nature or Characteristics of Communication)

हमें सम्प्रेषण की प्रकृति को विशेषताओं द्वारा समझा जा सकता है अतः इसकी विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. सम्प्रेषण एक व्यवस्थित एवं गतिशील प्रक्रिया है।
2. सम्प्रेषण में दो छोर होते हैं- एक सन्देश भेजने वाला तथा दूसरा सन्देश प्राप्तकर्ता।
3. सम्प्रेषण लिखित, मौखिक, सांकेतिक, दृश्य-श्रव्य साधनों से किया जा सकता है।
4. सम्प्रेषण में सूचनाओं एवं तथ्यों के साथ-साथ भावनाओं, तर्कों तथा आपसी समझ का भी आदान-प्रदान होता है।
5. सम्प्रेषण बहुयामी होता है यह अधोगामी, ऊर्ध्वगामी, समतल, आन्तरिक अथवा बाह्य किसी भी प्रकार का हो सकता है।
6. सम्प्रेषण कुछ उद्देश्यों से प्रेरित होता है यह तभी सफल होता है जब इन उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है।
7. सम्प्रेषण प्रबन्धकीय कार्यों का आधार है।
8. यह प्रायः प्रशासकीय होता है क्यों कि संगठन में अधिकांश संदेशों का आदान-प्रदान प्रशासकीय दृष्टि से होता है।
9. सम्प्रेषण में एक मत (**Unity of Opinions**) होना जरूरी नहीं, परन्तु एक सी समझ (**Unity of Understanding**) का होना जरूरी है।
10. अर्थ की एकरूपता सम्प्रेषण का सारतत्व होती है।

## सम्प्रेषण प्रक्रिया (Process of Communication)

### या सम्प्रेषण प्रक्रिया के तत्व या चरण (Element of Communication Process)

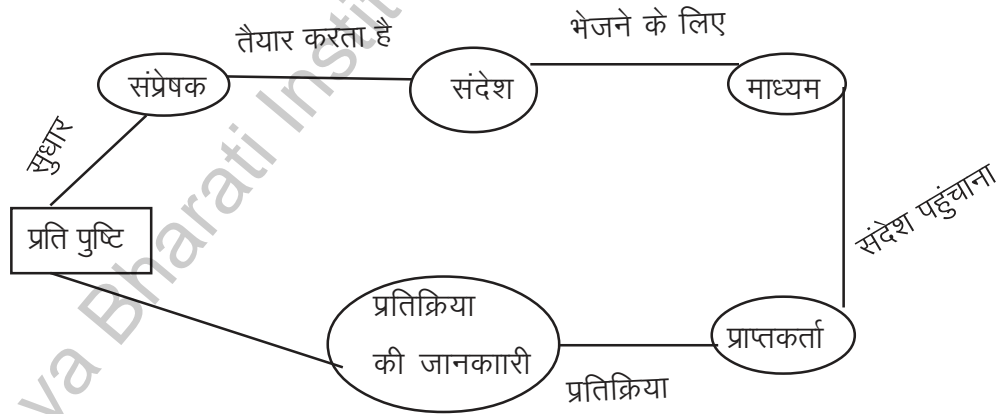
सम्प्रेषण को एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जाता है जो दो पक्षों के बीच निरन्तर चलने वाली होती है। इसमें अनेक तत्वों को शामिल किया जाता है जो इस प्रकार हैं-

1. **प्रेषक (Sender)** - यह वह व्यक्ति होता है जो सन्देश भेजना चाहता है। यही सन्देशवाहन प्रक्रिया का सूत्रधार बनता है। यह सम्प्रेषण प्रक्रिया में सन्देश प्रेषक कहलाता है।
2. **विचार (Idea) :-** सन्देश प्रेषक का विचार ही सम्प्रेषण की विषय वस्तु होती है यह विचार एक धारणा, मनोवृत्ति, अनुभाव, राय, सुझाव आदेश या निर्देश हो सकती है।
3. **लिपिबद्धकरण (Encoding)** -सन्देश या सूचना की विषय वस्तु अदृश्य होती है। इसे स्वरूप प्रदान करने के लिए लिपिबद्ध किया जाता है। मानसिक अवधारणाओं को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा एक महत्वपूर्ण संकेत होती है। इसे लिपिबद्ध करने के लिए शब्दों, चित्रों, संकेतों व दृश्य-श्रव्य का प्रयोग किया जाता है। आजकल

व्यवसाय में कई सन्देशों को कम्प्यूटर भाषा के द्वारा भी लिपिबद्ध किया जाता है।

4. **माध्यम (Channel or Media)** – माध्यम वह कड़ी होती है जो सन्देश भेजने वाले तथा सन्देश प्राप्तकर्ता को जोड़ती है। मनुष्य की 5 इन्द्रियां (**Senses**) उसके सम्प्रेषण का माध्यम है— दृश्य, वाणी, गंध, स्वाद, स्पर्श आदि सन्देश के माध्यम है। हवा, जो कि आवाज की लहरों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है यह भी एक माध्यम है। माध्यम का चुनाव करते समय सन्देश तथा सन्देश की लिपि को ध्यान में रखना चाहिए। सुविधा एवं आवश्यकता के अनुसार सन्देश के माध्यम से लिखित मौखिक साधनों द्वारा पत्र, टेलीफोन, टेलीविजन, स्वर, शारीरिक मुद्राएं, चित्र, फिल्म, टेपरिकार्डर, संवाद आदि का प्रयोग किया जा सकता है।
5. **सन्देश प्राप्तकर्ता (Receiver)**- यह वह व्यक्ति होता है जो सन्देश प्राप्त करता है। प्रायः कुछ सन्देशों को प्राप्त करने वाले निश्चित व्यक्ति होते हैं जैसे—जैसे कर्मचारी, व्यापारी, ग्राहक उपभोक्ता आदि। सन्देश प्राप्तकर्ता एक समूह में भी हो सकता है। कभी कभी कुछ व्यक्ति विशेष भी हो सकते हैं।
6. **व्याख्या करना (Interprieting)** – जब सन्देश प्राप्तकर्ता को सन्देश मिलता है तब वह उसकी व्याख्या करता है। वह शब्दों, चित्रों, संकेतों आदि का अर्थ लगाता है और उसे समझने का प्रयास करता है। सम्प्रेषण की सफलता इस पर निर्भर करती है कि सन्देश प्राप्तकर्ता ने सन्देश की किस प्रकार व्याख्या की। सम्प्रेषण का आशय सन्देश को उसी अर्थ में समझने से है जिस अर्थ में सन्देश भेजा गया है। अर्थ की एकरूपता ही सम्प्रेषण का सार होती है।
7. **प्रति पुष्टि (Feed back)** – सन्देशवाहन प्रक्रिया बिना प्रतिपुष्टि के अधूरी रहती है। सन्देशवाहन प्रक्रिया तभी पूरी होती है जब सन्देश भेजने वाले को यह जानकारी हो जाए कि सन्देश सही समय पर उपयुक्त व्यक्ति के पास पहुंच गया तथा उसने सन्देश भेजने वाली की भावना व अर्थों के अनुरूप समझ लिया है।

सम्प्रेषण प्रक्रिया को निम्न चित्र द्वारा समझाया गया है—



## सम्प्रेषण की श्रेणियां या प्रकार (Categories)/(Types of Communication Network)

### I. सम्बन्धों के आधार पर (Type on the Basis of Relations)

सन्देश भेजने वाले तथा सन्देश प्राप्तकर्ता के आधार पर सम्प्रेषण दो प्रकार के हो सकते हैं—

1. **औपचारिक सम्प्रेषण (Formal Communication)** – औपचारिक सम्प्रेषण में सन्देश भेजने वाला तथा सन्देश प्राप्त करने वाले दोनों के बीच निश्चित एवं संगठित सम्बन्ध होता है। इन सम्बन्धों का निर्माण प्रशासनिक ढांचे के अनुसार होता है। जब कोई व्यक्ति किसी विशेष पद पर होता है तो वह उन नियमों एवं प्रक्रियाओं के अनुसार सन्देशों



का आदान-प्रदान करता है। इसलिए यह भी कहा जाता है कि यह सन्देशवाहन व्यक्तियों के बीच न होकर पदों के बीच होता है।

निरंकुश प्रबन्ध व्यवस्था में यह एक मार्गीय (**one way**) होता है जब प्रजातांत्रिक प्रबन्ध व्यवस्था में द्विमार्गी (**Two way**) होता है। औपचारिक सम्प्रेषण व्यवस्था में अधिकारी अपने अधीनस्थों को आदेश निर्देश सूचनाएं नीतियां, नियम, कार्यक्रम, योजनाएं स्पष्टीकरण आदि के रूप में औपचारिक सन्देश देते हैं। जबकि दूसरी ओर अधीनस्थ अपने अधिकारियों के रिपोर्ट, शिकायतें, सुझाव आदि औपचारिक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है तिक जब औपचारिक सम्बन्धों वाले सम्बन्धों के बीच सन्देशों का आवागमन होता है ता उसे औपचारिक सम्प्रेषण कहते हैं। औपचारिक सम्प्रेषण की कुशलता कर्मचारियों के मनोबल तथा कार्य क्षमता में वृद्धि करती है। इनक सन्देशों का मार्ग पहले से सुनिश्चित होता है। इस मार्ग को संस्था के नियमों, प्रक्रियाओं तथा संगठन चार्टों आदि से स्पष्ट किया जाता है। इसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाता है जैसे—

- (i) सन्देश की प्रकृति —(आदेशात्मक, शिकायत, सुझाव, सलाहकारी समस्या निवारण सम्बन्धी आदि।
- (ii) सम्प्रेषण मार्ग —ऊर्ध्वमुखी, अधोमुखी, लिखित, मौखिक आदि। सभी व्यक्तियों की जानकारी के लिए सामान्य सन्देश, प्रसन्नता वाला।
- (iii) औपचारिक रूप से दी जाने वाली जानकारी का आधार मजबूत होना चाहिए अर्थात् सत्यता पर आधारित होने चाहिए।
- (iv) आवश्यकता पड़ने पर सूचनाएं संग्रहित करना उनका विश्लेषण करना तथा भविष्य के लिए सुरक्षित रखना।
- (v) दैनिक व्यवहार में काम न आने वाले मामलों के लिए उचित व्यवस्था करना।

## सम्प्रेषण मार्ग

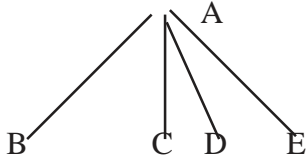
औपचारिक सम्प्रेषण के लिए निर्धारित नियम होते हैं उन्हीं के आधार पर सन्देश भेजे जाते हैं और प्राप्त होते हैं। प्राचीन समय में समस्त अधिकारियों एवं शक्तियां प्रबन्धक के पास रहती थी वहां सम्प्रेषण का मुख्य केन्द्र होता था। सभी की समस्याओं को सुनता तथा कार्य का प्रतिप्रदेश प्राप्त करता। उन्हीं कार्यों को सौंपना निर्देश देना, कार्यों में सुधार करना आदि एक ही श्रृंखला होने के कारण प्रबन्धकों के पास कार्य ज्यादा होता है। कभी-कभी तो वह चिड़चिड़ा होता और कई बार गलत निर्णय भी दे बैठता। जब कि आधुनिक समय में सम्प्रेषण कार्य सम्प्रेषण कार्यों को श्रृंखलाबद्ध कर दिया गया है। प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र अधिकार, विभिन्न स्तरों पर आदेश में स्वतन्त्रता विचारों का आदान प्रदान सम्प्रेषण प्रक्रिया का विकास विभिन्न नियमों नीतियां, सूचनाएं योजनाएं प्रबन्धकों द्वारा तैयार की जाती है जिसके माध्यम से कर्मचारी स्वयं मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं।

## सम्प्रेषण प्रणालियां—

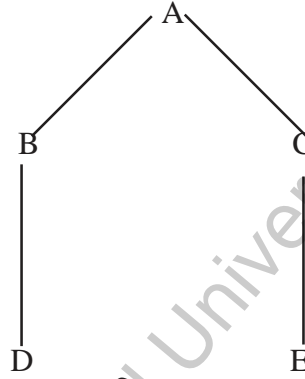
चित्र द्वारा समझाया गया है।



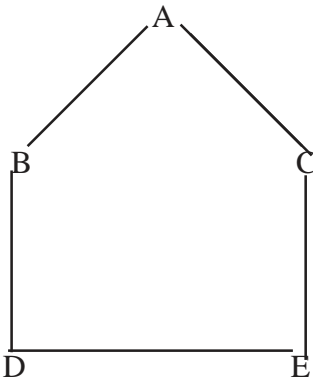
औपचारिक सम्प्रेषण की प्रणालियां



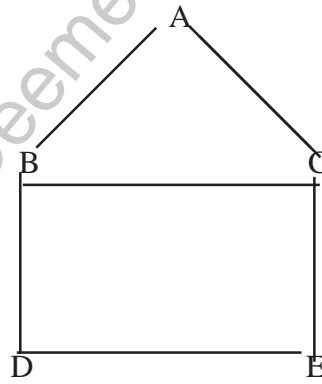
चित्र-1



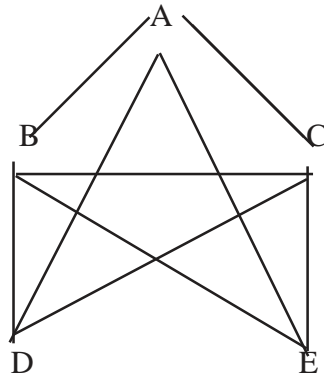
चित्र-2



चित्र-3



चित्र-4



चित्र-5

उपरोक्त चित्रों में सम्प्रेषण प्रणालियों में विभिन्न प्रकार के सम्पर्क दिखाये गये हैं। चित्र 1 में संगठन में कुल 5 सदस्य हैं जिसमें ए सन्देश को भेजने वाला जब चार अन्य व्यक्ति अपनी शिकायते, सुझाव ए को भेजते हैं इसे हम तारा कहते हैं क्योंकि ए ही प्रमुख व्यक्ति है जिसे सौंपे गये कार्यों को पूरा करने का उत्तरदायित्व है। चित्र 2 में बी तथा सी, डी तथा इ के बीच सीधा सम्पर्क नहीं है। जबकि चित्र 3 में डी तथा इ के मध्य सम्पर्क की स्वतन्त्रता है। जबकि बी तथा सी के सम्पर्क का माध्यम ए है। चित्र 5 में सम्पर्क जाल सबसे अधिक है। सभी व्यक्ति डी, इ को छोड़कर ऊपर से नीचे तक सभी व्यक्ति आपस में सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

**लाभ (Advantages)**—औपचारिक सन्देशवहन के निम्नलिखित लाभ हैं—

1. सम्प्रेषण का आवागमन पूर्व निश्चित मार्गों से होता है।
2. इस प्रकार के सम्प्रेषण में सम्बन्धित व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराने में आसानी होती है।
3. सन्देशों की सीमा व स्वरूप पूर्व निर्धारित होने से विकृति की सम्भावना कम पाई जाती है।
4. इस प्रकार की सम्प्रेषण व्यवस्था में विभिन्न पदों के मध्य समन्वय करना आसान होता है।
5. ये सन्देश पूर्व निर्धारित समय में दिये जाते हैं जिससे सूचनाओं में क्रमबद्धता एवं निरन्तरता बनी रहती है।

**दोष (Disadvantages)—**

औपचारिक सम्प्रेषण की अपनी कुछ सीमाएं एवं दोष हैं जो इस प्रकार हैं—

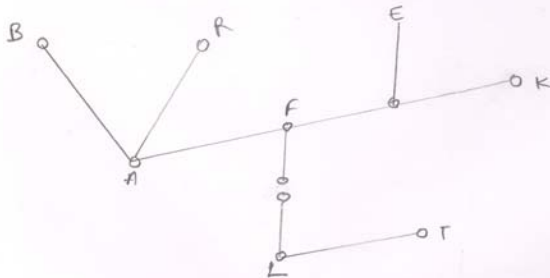
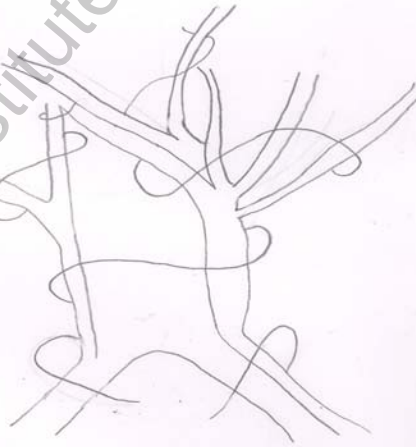
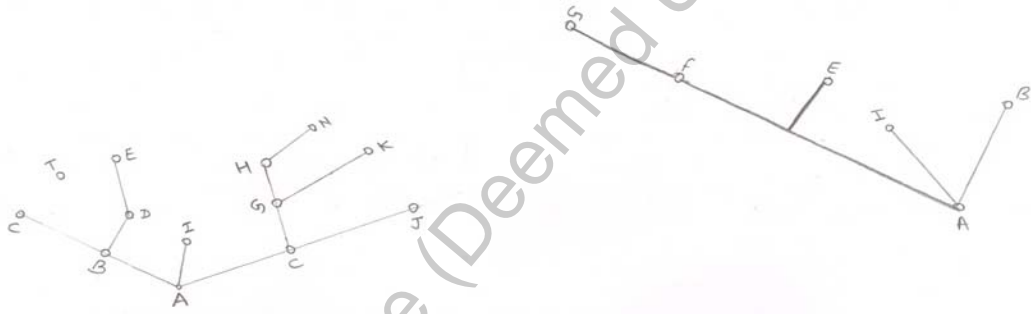
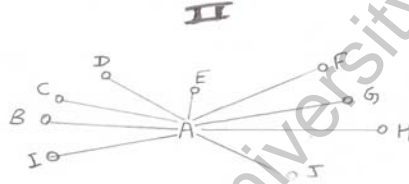
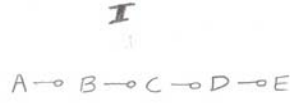
1. सन्देशों को पूर्व निर्धारित मार्गों के द्वारा भेजने पड़ते हैं इसलिए इसके सामान्य प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है।
2. व्यवस्थित प्रक्रिया होने के कारण प्राप्त कार्यों में देरी हो जाती है।
3. प्रायः सन्देश लिखित होते हैं इस कारण यह प्रक्रिया मंहगी पड़ती है।
4. सन्देश भेजते वक्त कुछ त्रुटियां रह सकती है।
5. सन्देश भेजने वाले तथा प्राप्त करने वाले के बीच स्थिति सम्बन्धी अवरोध (**Status barrier**) उत्पन्न हो सकता है। ऐसे में सन्देश का सही अर्थ पहुंचना मुश्किल होता है।

**2. अनौपचारिक सम्प्रेषण या अंगूरीलता सम्प्रेषण (Informal Communication or Grapevine) —**

अनौपचारिक सन्देशवाहन का कोई पूर्व निर्धारित मार्ग नहीं होता। कोई भी कर्मचारी किसी भी विभाग के कर्मचारी को बातचीत करके, अपना सन्देश विचार दे सकता है। कर्मचारी की इस स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार के नियम रूकावट नहीं डालते। कई बार ये अफवाहों का रूप भी ले लता है। प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है मैंने सुना है।" इसके साथ अपनी दो बातें जोड़कर बताता है। इससे कोई हानिकारक बात बढ़ते बढ़ते विकराल रूप लेकर संगठन के लिए नुकसानदायी बन जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ये अनौपचारिक सम्प्रेषण औपचारिक स्थिति के कारण नहीं वरन् आपसी सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर सन्देशों का आदान-प्रदान होता है। ये श्रृंखलाये संगठन द्वारा निर्धारित नहीं की जाती है बल्कि अपने आप ही बनती है व परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है।

अनौपचारिक सम्प्रेषण को ग्रेपवाइन या जनप्रवाद के नाम से भी जाना जाता है। सामान्यतः ये लोगों द्वारा कही-सुनी बातों, तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत तथ्य, आपसी बात-चीत, अनुमानों, विकृत सूचनाओं झूठी बातों आदि का प्रसारण होता है इसलिए इसे अफवाहों की मिल (**Rumour mill**) भी कहते हैं। जनप्रवाद तत्कालीन होता है जो

तात्कालिक मार्गों से होकर शीघ्र ही समस्त संस्था पर छा जाता है। अनौपचारिक सम्प्रेषण में जरूरी नहीं कि जनप्रवाद पूर्णतः असत्य हो ये सत्यता के करीब भी होते हैं। ये अनाधिकृत होते हैं ऐसे सन्देशों का आदान-प्रदान प्रायः शाम की चार, दोपहर के भोजन, सामूहिक कार्यक्रमों तथा सामाजिक समारोह में होते हैं। अनौपचारिक सम्प्रेषणों को चित्रों के माध्यम से दिखाया गया है—



अफवाहें

प्रबन्धकों का कर्तव्य है कि अफवाहों को निर्मूल सिद्ध करने की हर सम्भव कोशिश करनी चाहिए। फास्टिंजर एवं अन्य लेखकों ने बताया कि अफवाहें उन परिस्थितियों में पनपती हैं जहां कर्मचारियों के अस्तित्व सम्बन्धी बातों की जानकारी प्रायः गोपनीय रखी जाती है और उनके नियन्त्रण के बाहर हो। अकसर अफवाहें उस स्थिति में फैलती हैं जहां कर्मचारी सूचना प्राप्त करना चाहते हैं और उन्हें प्राप्त नहीं होती। इस तरह की अफवाहें निम्न स्तर के कर्मचारियों में मजदूरी, बोनस, कार्य के घंटे, कार्य की दशाएं, कार्य-सुरक्षा तथा छंटनी आदि बातों को लेकर फैलती है।

**लाभ (Advantages)**—अनौपचारिक सम्प्रेषण के निम्नलिखित लाभ होते हैं—

1. अनौपचारिक सन्देश स्वतन्त्रापूर्वक प्राप्त किये जा सकते हैं। इसमें पद का कोई महत्व नहीं होता।
2. समय की बचत होती है। सन्देश तत्काल ही प्रेषित हो जाते हैं।
3. सन्देशवाहन से सभी को अपनी बात कहने तथा विचार-विमर्श का व्यापक अवसर मिल जाता है।
4. यह औपचारिक सन्देशवाहन की अनेक समस्याओं का समाधान करता है।
5. यह विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करता है।

**दोष (Disadvantages)**—इस व्यवस्था के अपने कुछ दोष हैं जो इस प्रकार हैं—

1. सन्देश भेजने का स्रोत ढूँढना मुश्किल कार्य है।
2. किसी को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है।
3. ऐसे सन्देश अर्द्धसत्य या विकृत रूप धारण कर लेते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसे आगे-बढ़ाते समय मिर्च मसाला लगाकर करता है।
4. अफवाहें पर नियन्त्रण करना मुश्किल होता है।
5. ऐसे सन्देशों की सत्यता पर विश्वास करना कठिन है।
5. इन सन्देशों के आधार पर निर्णय करना कठिन होता है।

## II. प्रवाह के आधार पर (Flow of Communication)

### 1. अधोगामी सम्प्रेषण (Downward Communication)

उच्च अधिकारियों द्वारा अधीनस्थों को भेजे जाने वाले सन्देशों को अधोगामी सम्प्रेषण के नाम से जाना जाता है। ऐसे सन्देश औपचारिक पदानुक्रम (Hierarchy) के अनुसार ऊपर से नीचे की ओर जाते हैं। इन्हें कर्मचारी सन्देशवाहन के नाम से भी जानते हैं क्योंकि ऐसे सन्देश सामान्यतः उच्च अधिकारियों द्वारा कर्मचारियों तक पहुंचाये जाते हैं। ऐसे सन्देशों में प्रायः निम्नलिखित सन्देश शामिल होते हैं—

1. कार्यों से सम्बन्धित आदेश एवं निर्देश।
2. कार्य सम्बन्धित सूचनाएं, नीतियां तथा नियम।
3. संस्था की नीतियां, कार्यविधियां तथा नियम।
4. कार्य निष्पादन के सम्बन्ध में प्रतिपुष्टि।
5. डॉट-फटकार, प्रशंसा पदोन्नति
6. अधीनस्थों से कार्य सम्बन्धी प्रश्न।

अधोगामी सम्प्रेषण लिखित, मौखिक या सांकेतिक हो सकता है। सबकी अपनी-अपनी उपयोगिता होती है। अधिकारी स्वयं समय व परिस्थिति के अनुसार किसी माध्यम का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसे सन्देश प्रायः व्यक्तिगत आदेश-निर्देश, वार्ता, सभाओं एवं सम्मेलन, भाषण, वार्षिक रिपोर्ट सूचना-पट्ट आदि के द्वारा भेजे जाते हैं। ऐसे सन्देशों पर अधीनस्थों द्वारा विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रायः अधीनस्थों द्वारा अधिक महत्व आदर या भय के कारण दिया जाता है। ये सन्देश प्रायः औचारिक होते हैं। अतः सन्देश भेजते समय अधिकारी को कुछ विशेष ध्यान रखना चाहिए जो इस प्रकार है-

- अधिकारी द्वारा दी जानी वाली सूचनाओं की पूरी समझ व जानकारी होनी चाहिए।
- भेजे जाने वाला सन्देश विल्कुल स्पष्ट होना चाहिए।
- सन्देश सही समय पर व्यवस्थित ढंग से दिये जाने चाहिए।
- सन्देश अधीनस्थों के लिए गौरवपूर्ण एवं सम्मानजनक होने चाहिए।

## 2. ऊर्ध्वगामी सम्प्रेषण (Upward Communication)

ऊर्ध्वगामी सन्देशवाहन नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ये सन्देश प्रायः अधीनस्थों कर्मचारियों द्वारा उच्च अधिकारियों को भेजे जाते हैं। इन सन्देशों में निम्नलिखित सन्देश हो सकते हैं-

1. कर्मचारियों के प्रतिवेदन
2. कर्मचारियों की कार्य सम्बन्धी समस्याएं
3. कर्मचारियों की प्रतिक्रियाएं, प्रश्न आदि।
4. कर्मचारियों के विचार, मत व सुझाव इत्यादि।
5. कार्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ, शिकायतें।
6. कार्यों व नीतियों की कमियां व विचार सुझाव
7. कर्मचारियों की घरेलू तथा व्यक्तिगत समस्याएं।

ऊर्ध्वगामी सम्प्रेषण से कर्मचारियों की भावनाओं, समस्याओं व सुझावों का ज्ञान हो जाता है। इसमें कर्मचारियों को प्रेरणा मिलती है। मनोबल बढ़ता है, उत्पादकता में वृद्धि होती है।

### अधोगामी एवं ऊर्ध्वगामी सन्देशवाहन में अन्तर-

#### (Difference between Downward and Upward Communication)

अन्तर का आधार	अधोगामी सन्देशवाहन	ऊर्ध्वगामी सन्देशवाहन
1. स्रोत	अधोगामी सन्देशवाहन का स्रोत उच्चाधिकारी होते हैं।	ऊर्ध्वगामी सन्देशवाहन का स्रोत अधीनस्थ होते हैं।
2. प्रवाह की दिशा	ये ऊपर से नीचे की ओर आते हैं।	ये नीचे से ऊपर की ओर आते हैं।
3. प्रकृति	ये सन्देश आदेशात्मक प्रकृति के होते हैं।	ये सन्देश सुझावात्मक प्रकृति के होते हैं।
4. महत्व	इनको प्रायः अधीनस्थ अधिक महत्व देते हैं। तथा इसके अनुसार कार्य करते हैं।	इनका महत्व अपेक्षाकृत कम होता है।
5. दायी	इन्हें भेजने का दायित्व उच्चाधिकारी का होता है।	इन्हें भेजने का दायित्व कर्मचारियों का होता है।
6. माध्यम	इनका भेजने का माध्यम लिखित होता है।	इनका भेजने का माध्यम मौखिक होता है।

### 3. समतल सन्देशवाहन होता (Horizontal Communication)

समतल सन्देशवाहन के अन्तर्गत जब समान स्तर के कर्मचारियों, अधिकारियों के बीच सन्देशों का आदान-प्रदान होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ऐसे सम्प्रेषण में एक ही कार्य समूह या विभाग में एक समान स्तर के कर्मचारियों में सम्प्रेषण किया जाता है। ये औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार के सम्प्रेषण का उद्देश्य संस्था के विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना होता है। ये सम्प्रेषण समन्वयात्मक प्रकृति के होते हैं। इससे संस्था को कार्यों एवं निर्णयों को शीघ्रता से पूरा किया जा सकता है। इससे कर्मचारियों में कार्य करने की स्वतन्त्रता भी मिलती है।

### III. माध्यम के आधार पर (Types on the Basis of Media)

संदेश माध्यमों के आधार पर सम्प्रेषण के निम्न 4 प्रकार के होते हैं—

#### 1. मौखिक सम्प्रेषण : (Verbal Communication)

यह सम्प्रेषण की सबसे प्राचीन एवं सशक्त विधि है। जब वाणी द्वारा या शब्दों के उच्चारण द्वारा सन्देशों का आदान-प्रदान किया जाता है तो इसे मौखिक सम्प्रेषण कहते हैं। इसमें सन्देश भेजने वाला तथा सन्देश प्राप्त करने वाला आमने-सामने या किसी यन्त्र के माध्यम से सन्देशों का आदान-प्रदान करते हैं। यह सन्देश भेजने की सबसे प्रचलित विधि है। संघ के पूर्व अध्यक्ष लॉरेन्स ऐप्पले (Lawrence Appley) का महना है कि 'मौखिक शब्दों से पारस्परिक सम्प्रेषण करना सन्देशवाहन की सर्वोत्तम कला है। मौखिक सम्प्रेषण कई तरह से किया जा सकता है—जैसे आमनेसामने बैठकर बातचीत कर, संगोष्ठी, सभा, भाषण, विचार विमर्श कर।

**लाभ (Advantage)** -मौखिक सन्देश वाहन के निम्नलिखित लाभ हैं—

1. सूचनाओं को शीघ्रता से पहुंचाया जा सकता है।
2. समय व धन की बचत होती है।
3. सन्देश की प्रतिक्रिया को तत्काल जाना जा सकता है।
4. आपसी सहयोग बढ़ता है।
5. यह माध्यम लोचशील है।
6. बातचीत की गंभीरता का पता चल जाता है।
7. संभाषण कुशलता एवं प्रभावी मधुरवाणी का आनन्द श्रोताओं को मिल जाता है।
8. किसी तरह का भ्रम होती है तो तत्काल उनका निवारण हो जाता है।
9. यह सन्देशवाहन सबसे प्रभावी होता है क्योंकि इसमें शब्दों के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति, हाव-भाव का पता चल जाता है।

**दोष (Disdvantage)** -मौखिक सन्देशवाहन के निम्न दोष हैं—

1. इस माध्यम को प्रयोग के लिए दोनों पक्षों की उपस्थिति आवश्यक है।
2. मौखिक सम्प्रेषण का लिखित आलेख न होने के कारण न्यायालय में विवाद की स्थिति में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं रहता है।
3. महत्वपूर्ण विषयों पर बातचीत करते समय उसे सोचने का समय नहीं मिल पाता। इसलिए महत्वपूर्ण तथ्यों के

छूट जाने का भय रहता है।

4. सबसे बड़ी समस्या यह आती है कि सभी बातों को सुनना सम्भव नहीं होता। अगर सुन लिया तो याद रखना कठिन होता है।
5. उन संस्थाओं में यह उपयुक्त नहीं जहां जहां कुछ बातें लिखित में होनी आवश्यक होती है।
6. जहां सन्देशप्राप्त कर्ता व सन्देश भेजने वाला अलग-अलग स्थान पर रहता है वहां यह प्रणाली उपयुक्त नहीं रहती है।
7. प्रायः गलती होने पर कार्यकर्ता सन्देश भेजने वाले को दोषी ठहराता है। अपनी गलती नहीं देखता।
8. ये सन्देश अल्पकालीन होते हैं तथा स्मरण शक्ति पर निर्भर करते हैं।

## 2. लिखित सम्प्रेषण (Written Communication)

वे समस्त सूचनाएं आदेश-निर्देश आंकड़े जो लिखित रूप में भेजे जाते हैं। उन्हें लिखित सम्प्रेषण कहते हैं। पत्र, परिपत्र, समाचार-पत्र, पत्रिकाएं, संस्था की हैण्ड बुक, कार्यावलियां (Agenda) बुलेटिल आदि का उपयोग लिखित सम्प्रेषण है।

आधुनिक समय में लिखित सम्प्रेषण का महत्व बढ़ गया है। आज व्यवसाय अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की वस्तु बन गया। आज सन्देश प्राप्त करने व भेजने वालों की दूरियां बढ़ गई हैं। आज विभिन्न सूचनाओं को एकत्रित करना, उपयोग करने व लम्बे समय तक सम्भालकर रखना व्यवसाय के लिए जरूरी हो गया है इसलिए लिखित सन्देश का महत्वपूर्ण दिनोदिन बढ़ रहा है।

### लिखित सम्प्रेषण की सावधानियां (Cautions of written Communication)

लिखित सम्प्रेषण भेजते समय कुछ सावधानियां आवश्यक रखनी चाहिए क्योंकि लिखित सम्प्रेषण सदैव विद्यमान रहता है भविष्य में कभी भी जरूरत होने पर संदर्भ के रूप में उपयोग किया जा सकता है। इसे पर्याप्त सोच विचार के बाद ही तैयार किया जाना चाहिए। लिखित सम्प्रेषण की भाषा, विषयवस्तु, प्रस्तुती तथा संबोधन विधि का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। अतः लिखित सम्प्रेषण भेजने समय निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

1. सरल भाषा का प्रयोग करना चाहिए।
2. भाषा की शुद्धता एवं स्पष्टता होनी चाहिए।
3. वाक्य छोटे एवं समझने योग्य होने चाहिए।
4. दोहरे अर्थ देने वाले शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।
5. लिखित सामग्री तैयार करते समय उपलब्ध समस्त जानकारी का उपयोग किया जाना चाहिए तथा जल्दवाजी में कुछ नहीं लिखा जाना चाहिए।
6. लिखित सामग्री तैयार करते समय संभव हो तो चित्रों एवं रेखाचित्रों का उपयोग करना चाहिए।
7. विचार तर्क पूर्ण होने चाहिए।
8. लेखन सुन्दर व आकर्षक लिपि में होना चाहिए।

9. अनावश्यक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

**लाभ (Advantage)** -लिखित सम्प्रेषण होने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

1. सन्देशों में स्पष्टता स्वयं आ जाती है इनका प्रमाण भी उपलब्ध होता है।
2. दीर्घकालीन आयोजन एवं नीति-निर्माण में सहायक होता है।
3. इन्हें भविष्य हेतु सुरक्षित रखा जा सकता है।
4. यह कम खर्चीला होता है।
5. भौगोलिक दूरी सम्प्रेषण में बाधक नहीं होती।
6. भावी संदर्भ के लिए उपयोगी आलेख तैयार रहता है।
7. लोगों को उत्तरदायी ठहराना आसान हो जाता है।

**दोष (Disadvantage)**-लिखित सम्प्रेषण के निम्नलिखित दोष होते हैं—

1. यह प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक खर्चीली है।
2. संदेश लिखने में श्रम व समय खर्च होता है।
3. प्राप्तकर्ता की प्रतिक्रिया का तत्काल ज्ञान नहीं होता है।
4. प्रत्येक सन्देश को लिखना व भेजना सम्भव नहीं है।
5. लिखित सन्देश की गोपनीयता कम हो जाती है।
6. अधीनस्थ कर्मचारी कई बार अपनी लापरवाही के कारण लिखित प्रेषण नहीं पढ़ते।
7. सन्देश पहुंचाने के लिए डाक, तार, रेल, व्यक्तिगत सन्देश पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः सन्देशों को पहुंचाने में भी सन्देह रहता है।

हमने देखा उपरोक्त दोषों के बावजूद भी कई बार लिखित सन्देश बहुत उपयोगी होते हैं। जब लिखित प्रमाण की आवश्यकता है या सन्देश अधिक लम्बे आंकड़े युक्त तथा अत्यधिक तकनीकी प्रकृति के होते हैं तो सन्देशों को भेजने के लिए लिखित सम्प्रेषण ही अपनाया पड़ता है।

### 3. सांकेतिक सम्प्रेषण (Gestural Communication)

जब संकेतों के माध्यम से सन्देशों का आदान-प्रदान किया जाता है तो इसे सांकेतिक सम्प्रेषण कहते हैं। कहा भी गया है कि "हाव-भाव शब्दों की अपेक्षा अधिक दर्शाते हैं। (Action often speak louder than words) ये तभी सम्भव है जब सन्देश भेजने वाला तथा सन्देश प्राप्त करने वाला दोनों आमने-सामने हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब सन्देशों की अभिव्यक्ति संकेतों, हाव-भाव, शारीरिक मुद्राओं तथा चेहरे की अभिव्यक्ति द्वारा दिये जाते हैं तो ऐसे सन्देशों के माध्य को सांकेतिक सम्प्रेषण के नाम से जाना जाता है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि ये शरीर की भाषा तथा व्यवहार की भाषा हाती है। सांकेतिक सन्देशों में अनेक इशारों का प्रयोग किया जाता है। जैसे-आंख मारना, मुंह फुलाना हंसना, उदास होना, होठ हिलाना, हाथ मिलाना, गले मिलना, तिरछी



निगाह से देखना, पीठ थपथपाना आदि कुछ संकेत होते हैं। इन हाथ भावों का तथा संकेतों का परिस्थिति व समय अनुसार अर्थ निकाला जाता है। इस प्रकार के सम्प्रेषण का उपयोग सामान्यतः स्वतन्त्र रूप से नहीं होता है। ये मौखिक सम्प्रेषण के साथ ही काम में लिये जाते हैं।

#### 4. दृश्य-श्रव्य सन्देशवाहन (Audio-Visual Communication)

आधुनिक युग में सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में दृश्य-श्रव्य सन्देशवाहन का महत्व दिनो-दिन बढ़ता जा रहा है। ऐसे सम्प्रेषण में हावभाव, चित्रों, कार्टून, हावभाव इशारों, मौखिक एवं लिखित सम्प्रेषणों का मिश्रण देखने को मिलता है। आजकल उद्योगों में अनेक औद्योगिक क्रियाओं जैसे- प्रचार प्रसार, प्रशिक्षण, सभा व सम्मेलन विक्रय अभियान, सर्वेक्षणों, तकनीकी प्रशिक्षण आदि में चित्रों, फिल्मों, मूवी कैमरों का बहुत उपयोग हो रहा है। आजकल तकनीकी वस्तुओं के उत्पादन तथा विक्रय विज्ञान प्रशिक्षण में इसी माध्यम का प्रयोग किया जा रहा है।

#### सम्प्रेषण की बाधाएँ (Barriers in Communication)

सम्प्रेषण का मुख्य उद्देश्य है कि सही व्यक्ति तक सही सूचनाओं को पहुंचाकर कार्य करने के लिए प्रेरित करना। कभी-कभी सही सन्देश नहीं पहुंच पाने पर सम्प्रेषण का इच्छित उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता अर्थात् वे सन्देश का भिन्न अर्थ लगा लेते हैं जिससे अनर्थ होने लगता है।

हम कह सकते हैं कि सन्देश भेजने वाले से सन्देश प्राप्त करने वाले तक सन्देश के पहुंचने में अनेक कठिनाइयां/विकार उत्पन्न होते हैं। ये बाधाएं जैसे भौतिक, मनोवैज्ञानिक एवं अर्थगम होती है। भौतिक बाधाएं भौतिक वातावरण के कारण उत्पन्न होती है। जैसे- शोरगुल, समय की कमी, दूरियां आदि। मनोवैज्ञानिक बाधाएं जैसे-भावनाओं स्थिति व्यक्तिगत विचारों, सामाजिक मूल्य आदि के कारण उत्पन्न होती है अर्थात् बाधाओं के अन्तर्गत सन्देश भेजने एवं प्राप्त करने वालों की योग्यता, भाषा तथा अनुभव आता है। संदेश वाहन की बाधाएं इस प्रकार हैं-

#### 1. संगठनात्मक संरचना-

संगठन में संगठन संरचना के कारण सम्प्रेषण में अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। संगठन में जितने अधिक स्तर होंगे सन्देशवाहन में उतनी ही बाधाएं उत्पन्न होगी। क्योंकि अधिक स्तरों से संदेश भेजने वाले तथा सन्देश प्राप्त करने वाले के मध्य दूरी बढ़ जाती है। अधिक स्तरों से सन्देश गुजरने के कारण सन्देश विकृत होता चला जाता है। ऊर्ध्वगामी (upward) सम्प्रेषण विभिन्न स्तरों पर कार्य करने वालों के विरुद्ध भी जो सकते हैं। इसलिए वे उच्च प्रबन्धक वर्ग तक नहीं पहुंच पाती।

#### 2. भाषा की समस्या-

भाषा सम्बन्धी समस्या तब उत्पन्न होती है जब सन्देश भेजने वाला तथा सन्देश प्राप्त करने वाला दोनों के मस्तिष्क में विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं। अर्थात् सन्देश प्राप्त करने वाला अपने अनुभव एवं समझ के अनुसार शब्दों का अर्थ लगाते हैं। इससे सम्प्रेषण का उद्देश्य ही खत्म हो जाता है। भाषा सम्बन्धी समस्याएं मुख्यतः भाषा की भिन्नता जटिलता, द्विअर्थी वाक्य संरचना, स्थानीय बोली के कारण तथा शब्दार्थ, संकेतात्मक व निर्देशात्मक अर्थ की समस्या के कारण होती है।

#### 3. भौगोलिक बाधाएँ-

कई बार प्रेषक एवं प्रेषिती के मध्य भौगोलिक दूरियां भी सन्देशवाहन में बाधक बन जाती है। इससे लागत बढ़ जाने के कारण भी अपर्याप्त सूचनाओं का ही सम्प्रेषण हो पता है। जबकि आधुनिक समय में इस पर काफी नियन्त्रण कर लिया गया है। टेलीफोन, मोबाइल, टेलेक्स, तार आदि द्वारा सन्देश दिये जा सकते हैं। परन्तु फिर भी कभी-कभी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण सन्देश समय पर भेजना कठिन हो जाता है।

4. **समयाभाव—** कई बार समय की कमी के कारण यथा समय संदेश नहीं भेजे जाते हैं तथा लोगों से तुरन्त सम्पर्क करना कठिन हो जाते हैं। इससे सम्प्रेषण की प्रभावशीलता कम हो जाती है।
5. **श्रवण समस्या—** कई बार सन्देश भेजने वाला तथा सन्देश प्राप्त करने वाला सन्देश को ठीक प्रकार से न सुन पाने के कारण सम्प्रेषण में बाधा आती है। सही से न सुन पाने के कारण इच्छित कार्य को पूरा नहीं करवा सकते।
6. **परिवर्तन का विरोध—** परिवर्तन प्रकृति का नियम है। यद्यपि मनुष्य भी परिवर्तन चाहता है। परन्तु मनुष्य अपने वर्तमान परिस्थिति में ही कार्य करना चाहता है। अगर अधीनस्थों को किसी प्रकार के परिवर्तनों की सूचना दी जाती है अर्थात् उनकी कार्यशैली, कार्यपद्धति, तथा कार्य करने के तौर-तरीकों में परिवर्तन होता है तो ऐसे परिवर्तन सम्बन्धी सूचना की वे उपेक्षा करते हैं।
7. **अनौपचारिक सम्प्रेषण—** कई बार समूह में अनौपचारिक सम्प्रेषण गलत अफवाह, कही सुनी बातों पर विश्वास आदि के कारण लोगों द्वारा सही सन्देशों पर भी विश्वास नहीं किया जाता। गलत अफवाहों पर अधिक विश्वास करते हैं जिससे संस्था में अव्यवस्था फैल जाती है।
8. **व्यक्तिगत भेद—** संस्था में कार्य करने वाले व्यक्ति अलग-अलग जगह जैसे कोई राजस्थानी तो कोई कश्मीरी तो कोई मराठी या बंगाली होता है। अलग-अलग धर्म, अलग-अलग जाति से होता है। इन व्यक्तियों के रहन-सहन, खान-पान बोल-चाल तथा रीति-रिवाजों में अन्तर पाया जाता है। परिणाम स्वरूप इनकी मानसिक स्थिति में भी अन्तर आ जाता है। इन सब का प्रभाव मानसिक स्थिति पर भी पड़ता है। ये सभी घटक सम्प्रेषण की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करते हैं। क्योंकि संस्था का प्रत्येक व्यक्ति सन्देश का भावार्थ अपने स्तर, रीति-रिवाजों एवं वातावरण के अनुरूप से लगाता है। अतः प्रत्येक सदस्य सन्देश का अर्थ अपने हिसाब से लगाता है।
9. **संस्था का वातावरण—** कभी-कभी कर्मचारियों के मध्य मधुर संबंधों के अभाव में सम्प्रेषण की प्रक्रिया विफल हो जाती है। तो कभी नेता का व्यवहार कर्मचारियों के प्रति अच्छा न होने से सभी उसके प्रति रूष्ट हो जाते हैं और प्रत्येक आदेश का अर्थ विपरीत ही लगाते हैं।

## सन्देशवाहन की बाधाओं को दूर करने के सुझाव

### (Suggestion to overcome barriers to communication)

प्रबन्धकों को अच्छा सम्प्रेषक बनने के लिए सन्देशों में सुधार के साथ अपनी कौशल, समझ को बढ़ाना चाहिए। साथ ही सन्देश को प्रभावी बनाने के लिए निम्न बातों को ध्यान रखना चाहिए—

1. **प्रत्यक्ष सन्देशवाहन—** जहां तक सम्भव हो सन्देश सम्बन्धित व्यक्ति को ही दिया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष सम्प्रेषण से समय बचता है, स्तर भी कम हो जाते हैं जिससे मूल सन्देश अपरिवर्तित ही रहता है।
2. **सरल भाषा—** सन्देश भेजने वाले को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भाषा ऐसी हो जो सामान्य बुद्धि स्तर का व्यक्ति समझ सके। तकनीकी शब्दों का प्रयोग से बचना चाहिए। ऐसे शब्दों का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए जिनके कई अर्थ निकलते हो।
3. **समयानुकूलता—** सम्प्रेषण को भेजते समय इस बसत का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि सन्देश सही समय पर दिया जाए। पहले या बाद में भेजे गये सन्देशों का कोई महत्व नहीं होता।
4. **अच्छी सम्प्रेषण योजना—** सम्प्रेषण योजनाबद्ध एवं व्यवस्थित होनी चाहिए। सन्देश को भेजने से पहले, प्रत्येक पहलू पर विचार कर तथ्यों को भली प्रकार समझ कर क्रमबद्ध रूप से तथा सन्देशों के परिणामों का पूर्वानुमान भी लगा लेना चाहिए।

5. **सम्प्रेषण सिद्धान्तों का पालन**— सम्प्रेषण भेजते समय सन्देश के निर्माण, संरचना व प्रतिपुष्टि सम्बन्धित सम्प्रेषण के वैज्ञानिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए।
6. **न्यूनतम प्रबन्ध स्तर**— सन्देश को शीघ्र व वास्तविक रूप में पहुंचाने के लिए संगठन संरचना ने प्रबन्ध स्तर यथासमय न्यूनतम होने चाहिए।
7. **अच्छे मानवीय सम्बन्ध एवं सहयोग**— कर्मचारियों में आपसी सहयोग एवं सद्भावना द्वारा अच्छे वातावरण का निर्माण बनाकर सम्प्रेषण की प्रभावी व्यवस्था करनी चाहिए। प्रबन्धक को हमेशा अधीनस्थों की शिकायतें व सुझावों को सुनना चाहिए और अधीनस्थों को भी अपने अधिकारों के प्रति स्वामीभक्ति होनी चाहिए।
8. **प्रतिपुष्टि**— सन्देश भेजने वाले को इस बात की जानकारी भी कर लेनी चाहिए कि सन्देश प्राप्तकर्ता ने संदेश का सही अर्थ लगाया है जिस संदर्भ में भेजा है तथा सन्देश प्राप्त करने वाले की प्रतिक्रिया का भी तत्काल ज्ञान किया जाना चाहिए और उसके शंका एवं भ्रमों को दूर करना चाहिए।
9. **अन्य सुझाव**—
  1. सन्देश भेजते समय उचित माध्यम का चुनाव किया जाना चाहिए।
  2. समय, स्थान तथा आवश्यकता आदि भौतिक तत्वों को ध्यान में रखकर संदेश भेजना चाहिए।
  3. सन्देश सार्थक होने चाहिए। महत्वपूर्ण बातों पर बल दिया जाना चाहिए।
  4. सही समझ उत्पन्न करने के लिए सन्देश की पुनरावृत्ति की जानी चाहिए।
  5. संदेश यथासम्भव संक्षिप्त होने चाहिए।
  6. तथ्यों, संदर्भों तथा निष्कर्षों में अन्तर होना चाहिए।
  7. सन्देश भेजने वाले एवं प्राप्त करने वाले को बिना किसी पूर्वाग्रह के खुले दिमाग से सम्प्रेषण करना चाहिए।
  8. सम्प्रेषण का उद्देश्य एवं लक्ष्य स्पष्ट होने चाहिए।
  9. प्रेषक को बोलने के साथ-साथ सुनने में भी दक्ष होना चाहिए। यदि प्रेषती की प्रतिक्रिया को सुनने में दक्ष नहीं तो सन्देश को ठीक प्रकार से भी पहुंचाया जा सकता।
  10. यदि संगठन में अनेक स्तर हो और सन्देश के आदान-प्रदान में कठिनाई हो तो सम्प्रेषण के लिए वैकल्पिक माध्यमों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

## प्रश्नावली

### लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सम्प्रेषण का अर्थ बताइये।
2. लिखित सम्प्रेषण किसे कहते हैं।
3. अधोगामी एवं ऊर्ध्वगामी सम्प्रेषण में अन्तर बताइये।
4. सम्प्रेषण की प्रमुख बाधाओं को बताइये।
5. एक प्रभावशाली सम्प्रेषण की विशेषताएं बताइये।

### निबन्धात्मक प्रश्न

1. सम्प्रेषण प्रक्रिया के प्रमुख तत्वों को बताइये।
2. सन्देशवाहन की प्रमुख बाधाओं को बताइये।
3. सम्बन्धों के आधार पर औपचारिक तथा अनौपचारिक सन्देशवाहन को विस्तार से समझाइये तथा इसके गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।
4. सन्देशवाहन की समस्याओं को स्पष्ट कीजिए तथा उन्हें दूर करने के लिए उपयुक्त सुझाव दें।

## SECTION - D

### अध्याय - प्रथम परिवर्तन का प्रबन्ध (Management of Change)

#### अवधारणा (Concept)

परिवर्तन प्रकृति का नियम एवं एक शाश्वत सत्य है। स्थिरता जड़ता प्रदान करती है तो परिवर्तन गतिशीलता बनाये रखता है। हमारे चारों ओर हर पल विभिन्न प्रकार की घटनाएँ घटित होती रहती है, ये घटनाएँ परिवर्तन का परिणाम भी है तथा परिवर्तन का सूचक भी। मानव गतिविधि का कोई भी क्षेत्र— चाहे आर्थिक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो या धार्मिक, तकनीकी हो या शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। मानव सदैव परिवर्तनों के अनुसार अपने-आपको ढालने का प्रयास अवश्य करता है।

मानव जीवन की भांति ही परिवर्तन प्रबन्ध को भी प्रभावित करता है। प्रबन्ध के क्षेत्र में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन उद्देश्यों, नीतियों, नियमों, सिद्धान्तों, कार्य पद्धतियों, तकनीकी आदि के संबंध में हो सकते हैं या प्रबन्ध के कार्यात्मक क्षेत्रों यथा क्रय, विक्रय, वित्त, उत्पादन, विपणन, सेविवर्गीय आदि से सम्बन्धित हो सकते हैं। वास्तव में, प्रबन्ध जगत में परिवर्तनों का क्षेत्र काफी विस्तृत है। इस प्रकार के परिवर्तनों के कारण ही परिवर्तन के समक्ष सदैव चुनौती की स्थिति विद्यमान रहती है। इस प्रकार परिवर्तनशील परिस्थितियों में प्रबन्ध को गतिशील बनाये रखने के लिये, भावी सफलता के लिये तथा परिवर्तनों के परिणामों को अनुकूल बनाने के लिये प्रबन्धकों द्वारा परिवर्तन का प्रबन्ध करना आवश्यक होता है।

परिवर्तन का प्रबन्ध आधुनिक प्रबन्ध का एक सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो गया है। क्रिस आर्गैरिस लिखते हैं कि "बदलते हुए भविष्य का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये सृजनात्मक एवं परिवर्तन का अनुमान करने वाले प्रबन्धक की एक मात्र आशा है।" यह सच है कि न केवल प्रबन्ध वरन् सम्पूर्ण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रणालियों की सफलता परिवर्तनों के सफल प्रबन्ध पर ही निर्भर करती है। कोई भी प्रबन्धक परिवर्तनों से बच नहीं सकता। वह परिवर्तनों से प्रभावित भी होता है तथा कर्मचारियों द्वारा परिवर्तनों का विरोध भी किया जाता है। अतः परिवर्तनों को सफलतापूर्वक लागू करने, अपनाने, सामना करने अथवा उनका प्रत्युत्तर देने के लिये प्रबन्धकों को विशेष योग्यता रखनी होती है। इवेल लिखते हैं कि — "प्रबन्धकों में से वे व्यक्ति महानतम होंगे जो परिवर्तन का प्रबन्ध कर सकते हैं"

#### परिवर्तनों के प्रकार

परिवर्तनों का स्पष्ट रूप से कोई प्रारम्भिक व अन्तिम बिन्दु नहीं होता। व्यावसायिक जगत में अनके प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। ये परिवर्तन संगठन के उद्देश्यों, लक्ष्यों, कार्य-पद्धतियों, संरचनाओं, तकनीकों तथा प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्रों से सम्बन्धित हो सकते हैं। ये परिवर्तन संगठन की दृष्टि से हितकारी-अहितकारी या अनुकूल-प्रतिकूल तथा स्थायी अस्थायी प्रकार के हो सकते हैं। एक संगठन में होने वाले परिवर्तनों को रोजर्स एवं शूमेकर (Rogers and Shoemaker) ने निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया है।

- (1) स्वैच्छिक नवाचार निर्णय — ऐसे परिवर्तन जो स्वैच्छिक आधार पर स्व-निर्णयों के परिणाम के रूप में होते हैं।

(2) **सामूहिक नवाचार निर्णय** – ऐसे परिवर्तन जो सामूहिक सहमति वाले निर्णयों के उत्पाद होते हैं, तथा

(3) **अधिकार सत्ता नवाचार निर्णय** – ऐसे परिवर्तन जो संगठन के उच्चाधिकारियों या उनके किसी समूह द्वारा लिये गये निर्णयों के उत्पाद होते हैं।

यद्यपि एक संगठन में अनेक प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं किन्तु हम यहां कुछ ऐसे परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे जो सामान्यतः सभी संगठनों में दिखलाई पड़ते हैं –

1. **कार्य से सम्बन्धित परिवर्तन** – कार्य सम्बन्धी परिवर्तन एक संगठन के किसी भी प्रकार के कार्यों के बदलाव से सम्बन्ध रखते हैं तथा जो कार्य के सम्पूर्ण वातावरण को प्रभावित करते हैं। एक संगठन में प्रत्येक व्यक्ति एवं उसके कार्य दूसरे व्यक्तियों एवं उनके कार्यों से सम्बन्धित होते हैं। अतः जब कार्य सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं तो कार्यों में नये संतुलन की आवश्यकता होती है। ये परिवर्तन तकनीकों में परिवर्तन, कार्य-प्रक्रिया में परिवर्तन या कार्य विस्तार सम्बन्धी परिवर्तनों के रूप में हो सकते हैं।
2. **प्रौद्योगिकी में परिवर्तन** – वर्तमान में हो रहे प्रौद्योगिकी परिवर्तन, प्रबन्ध को, अपने संगठन की ओर देखने व आवश्यक परिवर्तन करने के लिये प्रेरित करते हैं। जब एक संगठन द्वारा किसी नई तकनीक को अपनाया जाता है तो कर्मचारियों पर इसका अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। कुछ कर्मचारी प्रशिक्षण की मांग कर सकते हैं, कुछ बेरोजगार हो सकते हैं, कुछ को अपनी कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का खतरा महसूस हो सकता है।
3. **कार्य-प्रक्रिया में परिवर्तन** :- परिवर्तन की समस्या वास्तव में समायोजन की समस्या है। सामान्यतया मानव कार्य करने के एक निर्धारित तरीके को पसन्द करता है। कार्य प्रक्रिया में परिवर्तन से कार्य करने के तरीके में भी परिवर्तन हो जाता है, जिसे प्रायः कर्मचारी पसन्द नहीं करते तथा परिवर्तन का प्रतिरोध करते हैं।
4. **कार्य का विस्तार** – कार्य के विस्तार रूपी परिवर्तन से कर्मचारियों के कार्य से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों, उप-प्रणालियों की संख्या तथा कार्य-भार आदि में वृद्धि होती है। कभी-कभी कार्य के विस्तार से सम्बन्धित परिवर्तन कार्य की नीरसता तथा पुनरावृत्ति में कमी करते हुए कर्मचारियों को अभिप्रेरित कर सकता है तथा साथ ही उनके महत्व में वृद्धि कर सकता है।
5. **संगठन से सम्बन्धित परिवर्तन** – यह परिवर्तन संगठनात्मक उद्देश्यों, नीतियों, स्वरूप, उत्पादन रेखाओं, प्रबन्धकीय कर्मचारियों, प्रबन्ध-दर्शन, संगठन संरचना आदि से सम्बन्धित हो सकता है। संगठन-संरचना में परिवर्तन तथा संगठनात्मक सम्बन्धों में परिवर्तन कर्मचारियों पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव डालते हैं।

संगठन-संरचना विभिन्न पदों के मध्य सम्बन्धों का प्रतीक होता है। अतः जब संरचना को एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में परिवर्तन किया जाता है तो यह सम्बन्धों के सम्पूर्ण समूह, कार्य-वितरण तथा अधिकार –सत्ता संरचना को परिवर्तित कर देता है। जब संगठन-संरचना में कोई भी परिवर्तन होता है तो कर्मचारियों के अधिकारों व उत्तरदायित्वों में परिवर्तन हो जाता है। परिणामस्वरूप वे आसानी से परिवर्तित अधिकारों व उत्तरदायित्वों के साथ समायोजित नहीं हो पाते।

6. **व्यक्ति संबंधी परिवर्तन** – व्यक्ति सम्बन्धी परिवर्तन कर्मचारियों की पदोन्नति, छूटनी, स्थानान्तरण, नव-नियुक्ति आदि के कारण होते हैं। वैसे कार्य से सम्बन्धित परिवर्तन, कार्य का विस्तार, प्रौद्योगिकी में परिवर्तन तथा कार्य प्रक्रिया में परिवर्तन भी व्यक्ति सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं।

7. **वातावरण सम्बन्धी परिवर्तन** – संस्था के बाहर के सभी संगठनों में होने वाले गैर- तकनीकी परिवर्तनों को हम वातावरण सम्बन्धी परिवर्तन कहते हैं। वातावरण सम्बन्धी परिवर्तनों में हम निम्नलिखित परिवर्तनों को सम्मिलित कर सकते हैं –

- (i) सरकारी कानून में परिवर्तन,
- (ii) कर व्यवस्था में परिवर्तन,
- (iii) सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन,
- (iv) बाजारों में परिवर्तन,
- (v) राजनैतिक परिवर्तन,
- (vi) आर्थिक नीतियों में परिवर्तन,
- (vii) ब्याज की दरों में परिवर्तन,
- (viii) उपभोक्ता रुचियों में परिवर्तन,
- (ix) श्रमसंघों में परिवर्तन।

#### **परिवर्तन का प्रबन्ध – अर्थ एवं परिभाषाएं**

सामान्य शब्दों में, विद्यमान या प्रचलित कार्य प्रणाली, कार्य विधियाँ, परिपाटी अथवा स्थापित कार्य परम्पराओं में कोई सुधारात्मक बदलाव करना ही परिवर्तन का प्रबन्ध है। दूसरे शब्दों में, किसी संस्था के आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण में हो रहे परिवर्तनों के कारण संस्था की स्थापित एवं विद्यमान कार्यप्रणाली में नवीन परिवर्तन करने पर विचार करना तथा उन्हें लागू करना ही परिवर्तन का प्रबन्ध कहलाता है।

#### **परिभाषाएं –**

**मेसकन तथा अलवर्ट के अनुसार,** “संगठन के अस्तित्व एवं सफलता के लिये प्रबन्ध द्वारा परिवर्तनों का प्रभावपूर्ण प्रत्युत्तर ही परिवर्तन का प्रबन्ध है।”

**इवेन्सविच के अनुसार,** “परिवर्तन प्रबन्ध संगठन की संरचना, व्यवहार तथा प्रौद्योगिकी में परिवर्तन करके व्यक्तियों, समूहों तथा संस्था के सम्पूर्ण निष्पादन में सुधार करने का एक नियोजित प्रयास है।”

**सियालगी के अनुसार,** “परिवर्तन-प्रबन्ध वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत सोच समझकर कुछ कार्यों, प्रक्रियाओं, लोगों में परिवर्तन या संशोधन करने का प्रयास किया जाता है ताकि संस्था के अस्तित्व को सुरक्षित रखा जा सके।”

इस प्रकार, परिवर्तन का प्रबन्ध वह व्यवस्थित एवं नियोजित प्रक्रिया है। जिसके द्वारा संस्था के आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण के परिवर्तनों का अध्ययन करके संस्था की संरचना, तकनीक, कार्यों तथा कर्मचारियों के व्यवहार तथा मूल्यों में आवश्यक परिवर्तन करने का व्यवस्थित प्रयास किया जाता है ताकि संस्था को भावी आघातों या सदमों से बचाकर दीर्घकाल तक उसकी सफलता को सुनिश्चित किया जा सके।

#### **परिवर्तन प्रबन्ध की विशेषताएँ**

परिवर्तन प्रबन्ध की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:-

1. इसमें पुराने के स्थान पर नवीनता के अनुसार प्रबन्धकीय व्यवस्था में समायोजन किया जाता है।
2. यह एक नियोजित प्रक्रिया एवं व्यवस्था है।
3. इसके अन्तर्गत सोच-समझकर कुछ कार्यों, प्रक्रियाओं एवं संगठन में परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता है।

4. यह विद्यमान या प्रचलित कार्यप्रणाली, परिपाटी अथवा स्थापित परम्पराओं में कोई सुधारात्मक बदलाव करता है।
5. यह संगठनात्मक विकास से भिन्न है।
6. इसमें प्रबन्धकों द्वारा परिवर्तनों का प्रभावी प्रत्युत्तर दिया जाता है।
7. परिवर्तन-प्रबन्ध का क्षेत्र व्यापक है क्योंकि इसके अन्तर्गत आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण में हो रहे सभी परिवर्तनों को पहचानना एवं उनके अनुरूप संगठन-संरचना, तकनीक, कर्मचारियों एवं कार्यों में परिवर्तन करना सम्मिलित है।

**प्रकृति : (Nature)**

परिवर्तन संगठनात्मक व्यवहार का एक महत्वपूर्ण तथ्य है। प्रत्येक संगठन बाह्य एवं आन्तरिक परिवर्तनों से प्रभावित होता है। **फुलमर के अनुसार**, "संगठन के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार के परिवर्तन से सम्पूर्ण संगठन प्रभावित होता है। अतः संगठन की सफलता परिवर्तनों के साथ पूर्ण समन्वय करने पर ही निर्भर करती है।"

परिवर्तन का स्रोत बाह्य या आन्तरिक हो सकता है। परिवर्तन संस्था के हितों को अनुकूल या प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर सकता है। अतः परिवर्तन के प्रबन्ध के लिये परिवर्तन की प्रकृति को निम्न तथ्यों से स्पष्ट किया जा सकता है।

1. कुछ परिवर्तन आन्तरिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होते हैं, तो कुछ बाह्य परिस्थितियों के द्वारा संगठन पर लाद दिये जाते हैं। जैसे सरकारी नितियों के द्वारा उत्पन्न होने वाले परिवर्तन।
2. कई परिवर्तन सामाजिक आवश्यकताओं, समय की मांग, तकनीकी सुधार, वैज्ञानिक विकास, सामाजिक प्रगति, मानवीय प्रवृत्तियों, वैधानिक बंधनों, सांस्कृतिक परिवेश तथा अन्तर्राष्ट्रीय बदलाव के कारण घटित होते हैं।
3. परिवर्तन प्रचलित मूल्यों एवं मान्यताओं के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकते हैं। यह नई व्यवस्थाओं के सूत्रपात अथवा अर्थहीन, घिसी-पिटी व जर्जर पद्धतियों के उन्मूलन के लिये हो सकते हैं।
4. परिवर्तन विद्यमान व्यवस्था के लिये हितकारी अथवा अहितकारी सिद्ध हो सकता है।
5. परिवर्तन का प्रभाव-क्षेत्र सामान्यतः व्यापक होता है। इसके तकनीकी, कार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक आयाम हो सकते हैं।
6. परिवर्तन चाहे संगठन के किसी भी भाग में हो, किन्तु इसका प्रभाव समग्र संगठन पर पड़ता है।
7. परिवर्तन एक मानवीय एवं मनोवैज्ञानिक समस्या भी है।
8. कोई भी संगठन परिवर्तन के बिना आगे नहीं बढ़ सकता है। अतः इसमें परिवर्तन के आघातों को सहने की क्षमता बनी रहनी चाहिये। एक विवेकशील प्रबन्धक परिवर्तनों के संबंध में एक गतिशील साम्य बनाये रखता है।
9. कोई भी परिवर्तन कुछ मात्रा में प्रतिरोध अवश्य उत्पन्न कर सकता है। केम्ब्रिज के डूक लिखते हैं "किसी भी परिवर्तन का, चाहे वो किसी भी कारण से किसी भी दिशा में हो, प्रतिरोध अवश्य होता है।"
10. प्रत्येक प्रकार के परिवर्तन का पूर्वानुमान किया जाना चाहिये। क्योंकि यह तनाव, सघर्ष एवं अव्यवस्था उत्पन्न कर सकता है।

11. परिवर्तन स्वयं व्यक्तियों अथवा संगठन में हो सकता है। परिवर्तन संगठन की एक सर्वव्याप्त एवं जटिल शक्ति है। अतः परिवर्तनों को ठीक से समझने के लिये संगठन में उनके संरचनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकारों के प्रभावों का अध्ययन किया जाना चाहिये।
12. परिवर्तनों की प्रकृति विकासात्मक, क्रान्तिकारी अथवा हिमानी हो सकती है।
13. कोई भी संगठनात्मक परिवर्तन स्वतः ही घटित नहीं होता है। यह तब घटित होता है जब परिवर्तन को प्रेरित करने वाली शक्तियों का प्रभाव इसका प्रतिरोध करने वाली शक्तियों से अधिक हो जाता है।
14. समस्त नवकरण परिवर्तन होता है, किन्तु समस्त परिवर्तन नवकरण नहीं होता है।
15. परिवर्तन का उद्देश्य संगठन की कार्यकुशलता एवं प्रभावशीलता में अभिवृद्धि करना होता है।
16. परिवर्तन अनिवार्य है, किन्तु संगठन में स्थायित्वता भी बनी रहनी चाहिये। अतः प्रबन्धकों को परिवर्तन एवं स्थायित्वता में संतुलन बनाये रखना पड़ता है।

#### परिवर्तन प्रबन्ध की आवश्यकता –

जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन का परिवर्तन एक अभिन्न अंग है, उसी प्रकार संगठन के जीवन से भी इसे पृथक् नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में डब्ल्यू. बी. मिरिहा ने कहा कि, “आधुनिक गतिशील संगठन में यदि कोई वस्तु स्थायी है तो वह परिवर्तन ही है।” इसी प्रकार परिवर्तन की आवश्यकता एवं महत्त्व बतलाते हुए प्रोफेसर रिचार्ड के. ऐलन का मत है कि, “किसी भी संगठन में परिवर्तन का होना इतना अनिवार्य नहीं है कि संगठन एवं उसमें कार्य करने वाले व्यक्तियों को समयानुसार या तो आगे बढ़ना होगा अथवा पीछे हटना होगा। दीर्घकाल में वे स्थिर नहीं रह सकते हैं।”

परिवर्तन प्रबन्ध की आवश्यकता एवं महत्त्व निम्नलिखित है:-

1. **प्रतिस्पर्द्धा का सामना** – परिवर्तन अथवा नवाचार प्रतिस्पर्द्धा की सन्तति है। अत्याधिक प्रतिस्पर्द्धा का सामना अथवा उसमें टिकने के लिये प्रबन्ध की कार्य प्रणालियों में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए जो भी नई-नई तकनीकें, व्यूहरचनाएँ, कार्यविधियाँ एवं व्यवस्थायें आयी हैं, उन्हीं के अनुरूप प्रबन्धकीय क्षेत्र में समायोजन करना पड़ता है। अतः प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिये परिवर्तन-प्रबन्ध आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।
2. **सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह**— एक संगठन को सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वा हेतु परिवर्तन-प्रबन्ध नितान्त आवश्यक है। इसका कारण यह है कि व्यावसायिक संगठन का समाज के विभिन्न वर्गों, जैसे स्वामियों, कर्मचारियों, अंशधारियों, उपभोक्ताओं, पूर्तिकर्ताओं, सरकारों के प्रति अनेक उत्तरदायित्व हैं जिनकी पूर्ति किया जाना उस समय तक सम्भव नहीं होगा, जब तक कि परिवर्तन के अनुसार प्रबन्ध नहीं किया जाता है।
3. **प्रबन्धकीय कार्यों की सफलता** – परिवर्तन क्योंकि प्रवृत्ति को बदलता है। अतः लोगों की प्रतिक्रिया इसे पक्ष या विपक्ष में हो सकती है। यदि परिवर्तन इनकी अपेक्षाओं के अनुकूल है तो लोग उसका स्वागत करेंगे अन्यथा विरोध करेंगे। अतः एक सफल प्रबन्ध वह है जो परिवर्तन-प्रबन्ध कुशलतापूर्वक कर सके, जिससे प्रबन्धकीय कार्य भी सफल हो सके।
4. **संस्था की गतिविधियों का संचालन** – जिस प्रकार सरकार देश की व्यावसायिक एवं आर्थिक नीतियों में परिवर्तन करती है, उसी प्रकार आर्थिक नियोजन में भी परिवर्तन करती है। ऐसी दशा में एक ओर राष्ट्रीय आय तो दूसरी ओर प्रति व्यक्ति आय पर प्रभाव पड़ता है। अतः प्रबन्धक इन परिवर्तनों एवं



इसके प्रभावों को ध्यान में रखकर कार्य करे तो संस्था की गतिविधियों को आसानी से संचालन किया जा सकता है।

5. **समस्याओं का निवारण** – परिवर्तन-प्रबन्ध से संस्था के कर्मचारियों एवं उच्चाधिकारियों की समस्याओं का निवारण हो जाता है। इसका कारण यह है कि परिवर्तित निर्णय-प्रक्रिया, नेतृत्व संगठन-संरचना, अधिकार सत्ता के केन्द्रीयकरण एवं विकेन्द्रयकरण के अनुसार प्रबन्ध में परिवर्तन किया जाता है। यदि ऐसा परिवर्तन नहीं किया जाता है तो संस्था में समस्याओं का निवारण तो बहुत दूर, समस्याएँ ही समस्याएँ खड़ी हो जायेगी।
6. **व्यावसायिक अस्तित्व की स्थिरता** – प्रतिस्पर्द्धा की दौड़ में वही व्यवसाय अस्तित्व में रह सकता है जो वर्तमान समय में तकनीकी, कर्मचारी, कार्य-संगठन एवं संसाधनों में हुए परिवर्तन के अनुसार अपनी प्रबन्ध प्रक्रिया में व्यवस्था करे। ऐसी व्यवस्था करने से ही व्यवसाय का अस्तित्व स्थिर हो सकता है, जिसके फलस्वरूप उसकी कठिनाईयों में वृद्धि होगी, लाभों में वृद्धि होगी और व्यवसाय दिन-प्रतिदिन फलेगा-फूलेगा। इस सम्बन्ध में **सकन एवं अलबर्ट** ने कहा कि, "संगठन के अस्तित्व एवं सफलता के लिए प्रबन्ध द्वारा परिवर्तनों को प्रभावपूर्ण प्रत्युत्तर ही परिवर्तन प्रबन्ध हैं।"
7. **विकास एवं विस्तार** – आज के युग में देखें तो पता लगता है कि विकास एवं विस्तार हो रहा है। ऐसे क्षेत्र यातायात, सम्प्रेषण, तकनीकी, आर्थिक एवं अन्य इत्यादि है। अतः प्रबन्धकों को इस प्रकार के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों के अनुसार समयोजन करना पड़ता है, तब ही वे अपनी संस्था को आगे बढ़ा सकते हैं।
8. **तकनीकी विकास** – परिवर्तन-प्रबन्ध का महत्त्व तकनीकी दृष्टि से भी है। इसका कारण यह है कि आज के वैज्ञानिक युग में जो कुछ नई मशीनें, उपकरण एवं यन्त्र इत्यादि आ रहे हैं, उन सबका उपयोग तब ही सम्भव है, जब प्रबन्ध के क्षेत्र में इनका समायोजन करें तो उत्पादन लागत कम आयेगी और किस्म भी अच्छी होगी।
9. **यातायात एवं सम्प्रेषण के साधनों का उपयोग** – आज के युग में यातायात एवं सम्प्रेषण के साधनों का भी तीव्र गति से विकास हुआ है। फलस्वरूप स्थानीय बाजार ने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजार का रूप ले लिया है। ऐसी दशा में परिवर्तन प्रबन्ध करके इनका उपयोग अधिक किया जा सकता है और अपने व्यावसायिक क्षेत्र को बढ़ाया जा सकता है।
10. **व्यूहरचनाओं का निर्माण** – आधुनिक समय में व्यावसायिक संगठनों के अतिरिक्त सामाजिक संगठनों में भी निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। परिणामस्वरूप उत्पादकों, उपभोक्ताओं एवं निर्माताओं की रुचियाँ, नीतियाँ, अभिवृत्तिया, क्रय आदतें एवं मनोवृत्तियाँ बदल रही हैं। ऐसी दशा में प्रबन्धकों द्वारा इन परिवर्तनों का गहनता से अध्ययन करने पर उन्हीं के अनुसार व्यूहरचनाओं के निर्माण में सहायता मिलती है।
11. **गतिशील साम्य** – यह देखा गया है कि प्रत्येक संस्था विभिन्न शक्तियों के क्षेत्र में अपना कार्य करती है। शक्तियाँ उत्प्रेरक एवं विधनकारी हो सकती है। प्रबन्धक, कर्मचारियों के दृष्टिकोण एवं चिन्तन में परिवर्तन लाकर संस्था में सुधारों का एक गतिशील साम्य बनाये रख सकने में सफल हो सकते हैं।
12. **नव-प्रवर्तन एवं कार्यकुशलता** – परिवर्तन-प्रबन्ध में नव-प्रवर्तन लाना ही नहीं अपितु संस्था की कार्यकुशलता में वृद्धि भी हो सकती है। इसका कारण यह है कि सुधारात्मक एवं सुजनात्मक परिवर्तनों के द्वारा फर्म की लाभदायकता को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें

व्यर्थ, पुरानी एवं अलाभप्रद कार्यविधियों को बदलकर वैधानिक कार्यपद्धतियों को भी अपनाया जाता है।

### नियोजित परिवर्तन (Planned Change)

नियोजित परिवर्तन का अर्थ संस्था के किसी विभाग या उपविभाग में वर्ष में एक बार एवं प्रत्येक चार-पाँच वर्ष के पश्चात् हुए ऐसे परिवर्तन से है जो कि संगठनात्मक ढाँचे से सम्बन्धित हो।

#### विशेषताएँ –

नियोजित परिवर्तन की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. यह संगठनात्मक अस्तित्व के लिए एक चुनौती है।
2. इसमें केवल कभी-कभी हुए या होने वाले परिवर्तनों को शामिल किया जाता है।
3. यह परिवर्तन के अनुसार ही संस्था के उद्देश्य, नीतियाँ एवं कार्यक्रम तैयार करता है।
4. इसमें वे परिवर्तन ही शामिल किये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध संगठनात्मक ढाँचे से होता है।
5. यह पुराने का स्थान नवीनता को प्रदान करता है।
6. ऐसे परिवर्तन के लिये प्रबन्धकों की दूरदर्शिता एवं सहभागिता का होना नितान्त आवश्यक है।

#### नियोजित परिवर्तन की प्रक्रिया (Process of Planned Change)

कोई भी संस्था किसी भी परिवर्तन को जब चाहे, जैसा चाहे, लागू नहीं कर सकती है। इसके लिये परिवर्तन के उचित प्रबन्ध की आवश्यकता होती है तथा यह कार्य क्रमानुसार कदमों वाली एक निर्धारित व्यवस्थित एवं पूर्व नियोजित प्रक्रिया द्वारा ही किया जा सकता है। परिवर्तन के प्रबन्ध की प्रक्रिया के प्रमुख कदम निम्नलिखित हैं –

1. परिवर्तन के कारणों को ज्ञात करना।
2. परिवर्तनकारी शक्तियों का विश्लेषण करना।
3. उद्देश्यों का निर्धारण करना।
4. परिवर्तन हेतु नियोजन करना।
5. प्रतिरोधों का निवारण करना।
6. लोगों को परिवर्तन हेतु तैयार करना।
7. परिवर्तनों को लागू करना।
8. परिवर्तनों का अनुसरण/अनुगमन करना।

नियोजित परिवर्तन की प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है –

1. **परिवर्तन के कारणों को ज्ञात करना** :- किसी भी संस्था में परिवर्तन की आवश्यकता किन्हीं विशेष कारणों से ही उत्पन्न होती है। अतः प्रबन्धक को सर्वप्रथम उन कारणों का पता लगाना चाहिये, जिनके कारण संस्था में परिवर्तन की आवश्यकता है।

परिवर्तन के लिये उत्तरदारी कारणों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है।

- (i) आन्तरिक कारण
- (ii) बाह्य कारण
- (iii) तकनीकी कारण।

आन्तरिक कारण संस्था की आन्तरिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं। जबकि बाह्य कारण बाह्य वातावरण की परिस्थितियों के कारण तथा तकनीकी कारण तकनीकी परिवर्तनों के कारण

उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक प्रबन्धक को संस्था में किसी परिवर्तन पर विचार करने से पूर्व उसके कारणों को भली प्रकार ज्ञात करना चाहिये।

2. **परिवर्तनकारी शक्तियों का विश्लेषण करना** :- कुर्त लेविन के अनुसार संस्था में प्रत्येक समय पर दो शक्तियाँ कार्य करती हैं। (i) प्रेरक शक्तियाँ (ii) प्रतिरोधक शक्तियाँ। प्रेरक शक्तियाँ परिवर्तन को लागू करने में सहायक होती हैं जबकि प्रतिरोधक शक्तियाँ परिवर्तनों का विरोध करती हैं। जब इन दोनों में साम्य की स्थिति आती है तो संस्था एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करती है। तभी संस्था में कुछ कार्य संभव हो पाता है। अतः परिवर्तन की योजना बनाने तथा उसे लागू करने से पूर्व इन दोनों शक्तियों को पहचानना चाहिये तथा साम्य की स्थिति में होने वाले सम्भावित परिवर्तन का पूर्वानुमान करना चाहिये।
3. **उद्देश्यों का निर्धारण** :- परिवर्तनकारी शक्तियों का विश्लेषण करने के पश्चात् अगले कदम के रूप में परिवर्तन के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है तथा साथ ही उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये एक आधारभूत दृष्टिकोण को भी निर्धारित किया जाता है। ऐसे निर्धारित उद्देश्य ही परिवर्तन की प्रक्रिया के अगले कदमों का मार्गदर्शन करते हैं। क्योंकि ये उद्देश्य ही परिवर्तन के प्रबन्ध की सीमाओं को व्यक्त करते हैं।
4. **परिवर्तन हेतु नियोजन** :- उद्देश्यों एवं उनकी प्राप्ति के लिये आधारभूत दृष्टिकोण को निर्धारित कर लेने के बाद परिवर्तन से उत्पन्न होने वाली सम्भावित जोखिमों, लागतों एवं अवसरों को ध्यान में रखते हुए परिवर्तन का सम्पूर्ण नियोजन किया जाता है। परिवर्तन का नियोजन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये कि यह किये गये विश्लेषणों एवं निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप हों तथा इस बात के लिये आश्वस्त होना चाहिये कि परिवर्तन से प्रभावित प्रत्येक घटक पर नियोजन में उचित ध्यान दिया गया है।
5. **प्रतिरोध का निवारण करना** :- परिवर्तनों का प्रायः प्रतिरोध किया जाता है। प्रतिरोध कई कारणों से किया जाता है। आर्थिक हानि होने, नौकरी के अवसर कम होने, अधिकारों, शक्तियों आदि में कमी आने, सामाजिक संबंधों में परिवर्तन होने इत्यादि कारणों से परिवर्तनों का प्रतिरोध किया जाता है। किन्तु कुशल प्रबन्धक इन सभी प्रतिरोधों का निवारण करके परिवर्तनों को लागू करने में सफल हो जाते हैं। इस हेतु उन्हें परिवर्तनों के संबंध में लोगों की आशंकाओं एवं भ्रांतियों को दूर करने के लिये परिवर्तनों की सही-सही जानकारी देनी चाहिये। आपसी परामर्श, सहभागिता, प्रशिक्षण, कुशल नेतृत्व, आर्थिक प्रेरणाएँ आदि के द्वारा परिवर्तनों पर प्रतिरोध को आसानी से कम किया जा सकता है।
6. **लोगों को परिवर्तन हेतु तैयार करना** :- परिवर्तन की योजना बनाने के बाद लोगों को परिवर्तन के लिये तैयार करना चाहिए। इस हेतु लोगों को यह विश्वास दिलाना होता है कि उनका वर्तमान व्यवहार या कार्यप्रणाली अप्रभावी या बेअसर है तथा उन्हें नई कार्यप्रणाली एवं व्यवहार सिखना है। यह कार्य बहुत ही कठिन है, किन्तु प्रबन्धकों को अपने कर्मचारियों को परिवर्तनों के लिये तैयार करना ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन के लिये आवश्यक संसाधन एवं उपकरण भी उपलब्ध करने चाहिये।
7. **परिवर्तनों को लागू करना** :- जब कर्मचारी परिवर्तनों के लिये तैयार हो जाते हैं तो परिवर्तनों को लागू करना चाहिये। इस हेतु प्रशिक्षित प्रबन्धकों या परिवर्तन प्रतिनिधियों की सेवाएँ लेनी चाहिये। परिवर्तन प्रतिनिधि नये व्यवहार तथा नई कार्यप्रणाली से लोगों को अवगत करवाते हैं। तब लोग

उसी प्रकार का नया व्यवहार तथा कार्य प्रणाली का अभ्यास करते हैं तथा वे उसके प्रभावों का आकलन करते हैं। इसमें कुछ समय लगता है। अतः प्रबन्धक या परिवर्तन प्रतिनिधियों को धैर्य से परिवर्तन लागू करना चाहिये।

8. **परिवर्तन का अनुगमन करना** :- परिवर्तन लागू करने के बाद उसके प्रभावों का मूल्यांकन करना चाहिये। इस हेतु परिवर्तन योजना का अनुगमन करना चाहिये। इस प्रक्रिया में प्रबन्धक यह देखते हैं कि परिवर्तन कार्यक्रम नियोजित रूप से क्रियान्वित किया जा रहा है अथवा नहीं, तथा इससे अपेक्षित परिणाम प्राप्त हो रहे हैं या नहीं। यदि परिवर्तन के क्रियान्वयन में कोई कमी दिखायी देती है या उससे अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो रहे होते हैं तो प्रबन्धक आवश्यक कदम उठाते हैं।

इस प्रकार परिवर्तन के लिये एक नियोजित प्रक्रिया होनी चाहिये, जिससे परिवर्तनों का प्रबन्ध करना आसान हो जाता है।

#### प्रश्न बोध

1. परिवर्तन प्रबन्ध की अवधारणा को समझाइयें।
2. नियोजित परिवर्तन की विशेषताएँ बताइये।
3. परिवर्तन के प्रकारों का संक्षे में वर्णन कीजिए।
4. नियोजित परिवर्तन से आप क्या समझते हैं। नियोजित परिवर्तन की प्रक्रिया में निहित कदमों की व्याख्या कीजिए।

## अध्याय- द्वितीय परिवर्तन का प्रतिरोध (Resistance to Change)

यद्यपि परिवर्तन एक प्राकृतिक सत्य है, निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है तथा प्रत्येक उपक्रम की सफलता के लिये भी आवश्यक है फिर भी प्रायः व्यक्ति परिवर्तनों का प्रतिरोध करते हैं क्योंकि प्रत्येक क्रिया पर प्रतिक्रिया होती है। जब संस्था में कोई परिवर्तन होता है तो उस पर कर्मचारियों की प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक ही है।

प्रतिरोध से तात्पर्य प्रस्तावित या प्रत्याशित परिवर्तनों को स्वीकार न करते हुए यथास्थिति बनाये रखने से है। प्रायः व्यक्ति प्रतिरोध इसलिये करते हैं क्योंकि परिवर्तनों के कारण विद्यमान स्थिति में परिवर्तन आयेगा, जो उसके लिये जोखिम पूर्ण व हानिकारक सिद्ध हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि परिवर्तन या बदलाव की संभावित स्थिति में व्यक्ति अपने आपको असुरक्षित महसूस करता है। प्रत्याशित परिवर्तन के कारण मन में उत्पन्न अनिश्चिता व भ्रमात्मक स्थितियाँ व्यक्तियों को प्रतिरोध करने के लिये उकसाती है। यही कारण है कि प्रायः व्यक्ति सभी परिवर्तनों का प्रतिरोध करता है।

इस प्रकार, परिवर्तन के प्रतिरोध का अभिप्रायः कर्मचारियों के ऐसे प्रतिक्रियात्मक या सुरक्षात्मक व्यवहार से है जिसके अन्तर्गत परिवर्तन को अर्थहीन या उसे रोकने का प्रयास किया जाता है।

### परिवर्तन के प्रतिरोध के कारण

व्यावसायिक अथवा औद्योगिक जगत में परिवर्तन का होना एक सहज बात है। कई लोग परिवर्तन को एक चुनौती, अवसर या शिक्षण के रूप में स्वीकार कर लेते हैं किन्तु दूसरी ओर अनेक कारणों से परिवर्तन का विरोध भी किया जाता है। यह विरोध भावनात्मक, विवेकपूर्ण अथवा समूहजनित हो सकता है। परिवर्तन व्यक्तियों को एक नई व्यवस्था से जोड़ता है। नई स्थिति दुखद भी हो सकती है। परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध सामान्यतः निम्नांकित कारणों से किया जाता है –

- I. कार्य से सम्बन्धित कारण।
- II. वैयक्तिक कारण।
- III. सामाजिक कारण।
- IV. मनोवैज्ञानिक कारण।
- V. तकनीकी कारण

**I. कार्य से सम्बन्धित कारण :** कार्य से जुड़े हुए अनेक कारण हैं जो कर्मचारियों को किसी संभावित परिवर्तन का प्रतिरोध करने के लिये प्रेरित करते हैं। इन कारणों में मुख्य रूप से निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है।

1. तकनीकी बेरोजगारी फैलने का डर।
2. कार्य-वातावरण एवं कार्य की दशाओं में परिवर्तन का डर।
3. पदावनति एवं आधार मजदूरी में कमी हो जाने का डर।
4. कार्य की गति बढ़ जाने तथा प्रेरणात्मक मजदूरी में कमी हो जाने का डर।
5. कार्य का आर्थिक मूल्य कम हो जाने का डर।
6. पदोन्नति का मार्ग बन्द हो जाने का डर।

7. जटिल एवं खतरनाक उपकरणों का उपयोग बढ़ जाने का डर। जैसे नवीन स्वचालित यंत्रों व कम्प्यूटरों का विरोध किया जाना।
8. भत्ते एवं अन्य में कटौती की संभावना।
9. कार्य पर अधिकारियों का नियंत्रण बढ़ जाना तथा कर्मचारियों की स्वतंत्रता छीन जाना। निकट निरीक्षण बढ़ जाना।
10. कार्य-भार एवं दायित्वों में वृद्धि हो जाने का डर।
11. कभी-कभी कर्मचारी यह शंका करते हैं कि कोई एक परिवर्तन केवल अकेला होने वाला नहीं है। बल्कि उसके बाद भी धीरे धीरे कुछ बड़े बड़े परिवर्तन भी किये जा सकते हैं।
12. कभी-कभी संस्था द्वारा विद्यमान भूमि, भवन, यंत्रों आदि में इस प्रकार विनियोग किया जाता है कि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना बहुत अधिक जोखिमपूर्ण होता है। प्रबन्धक व कर्मचारी ऐसे परिवर्तन का विरोध कर सकते हैं।

**II. वैयक्तिक कारण :-** कुछ वैयक्तिक कारण अथवा व्यक्तित्व से जुड़े हुए घटकों के कारण भी परिवर्तनों का प्रतिरोध किया जाता है। इस कारणों में अग्रलिखित को सम्मिलित किया जाता है।

1. **असुविधा :-** कर्मचारी व्यक्तिगत असुविधा एवं कठिनाईयों के कारण भी परिवर्तनों का विरोध करना प्रारम्भ कर देते हैं। कई बार व्यक्ति अपनी वैयक्तिक कार्य प्रणाली एवं जीवन में बाधा पड़ने के कारण भी अधिकार, शक्तियाँ एवं पदोन्नति प्राप्त करने से इनकार कर देते हैं। नये कार्य को सीखने की असुविधा भी इसमें प्रमुख है।
2. **अनिश्चितता :-** प्रत्येक परिवर्तन अनिश्चितता की जोखिम एवं डर उत्पन्न करता है। नये कार्यों में नई चुनौतियाँ, कठिनाईयाँ तथा नई जोखिमें होती हैं। इसमें विद्यमान सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जाता है। व्यक्ति नये कार्यों को करने का साहस नहीं जुटा पाते हैं तथा उनका विरोध करते हैं।
3. **कुछ खोने का डर :-** कई बार परिवर्तनों से कर्मचारियों के अधिकार, शक्तियाँ, साधन, कार्य स्वतंत्रता, महत्वपूर्ण पद, प्रतिष्ठा आदि में कमी हो जाने का भय बना रहता है। अतः वे परिवर्तन का विरोध करते हैं।
4. **प्रभावों का गलत आंकलन:-** कई बार कर्मचारी परिवर्तनों के प्रभाव का सही मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं तथा प्रभावों को समझे बिना ही उनका विरोध करना प्रारम्भ कर देते हैं।
5. **मानसिक जड़ता -** कुछ लोग परिवर्तन स्वीकार करने की क्षमता खो चुके होते हैं। इसके प्रमुख कारण वृद्धावस्था, मानसिक जड़ता, पुराने के साथ गहन अभ्यस्तता, भावनात्मक संबंध आदि होते हैं।
6. **कठोर परिश्रम-** नये परिवर्तन के फलस्वरूप कर्मचारियों को अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता हो सकती है। फलतः उनका प्रतिरोध शुरू हो जाता है।
7. **कड़वा अनुभव -** कई लोगों के विगत कड़वा अनुभव भी परिवर्तनों से कतराने या उनकी उपेक्षा करने के लिये प्रेरित करता है। पिछले असफल अनुभव में जब उन्हें कोई निराशा या हानि हाथ लगी हो तो वे फिर परिवर्तन का विरोध करने लगते हैं।
8. **अधिक विशिष्टीकरण :-** नये परिवर्तन के कारण कार्य में अधिक विशिष्टीकरण बढ़ जाने से निरसता व ऊब बढ़ जाती है तथा वैयक्तिक महत्व घट जाता है। अतः यह भी प्रतिरोध का एक कारण बन जाता है।

9. **अधिक कौशल** – कई बार नई कार्य स्थिति के लिये कर्मचारी को पुनः प्रशिक्षण प्राप्त कर अपनी योग्यता व कौशल में वृद्धि करनी होती है। अतः कर्मचारी परिवर्तन से बचने लगते हैं।
10. **चयनात्मक अवबोध** – व्यक्ति चयनात्मक अवबोध के कारण परिवर्तन के दोषों को तुरन्त देख लेता है तथा उसके सकारात्मक पहलुओं को छोड़ देता है। यह प्रवृत्ति प्रतिरोध को जन्म देती है।
11. **निर्भरता**– कई व्यक्ति दूसरों पर निर्भर होने की प्रवृत्ति रखते हैं। यह प्रवृत्ति उन्हें पहलपन, नवकरण तथा परिवर्तन को स्वीकार करने से रोकती है।
12. **उच्च अहम्** – कई बार परिवर्तन व्यक्ति के अहम् पर चोट करने वाला सिद्ध होता है। उसकी सत्ता, स्वाभिमान तथा प्रतिष्ठा में कमी होने पर वह परिवर्तन का विरोध करता है।

### III. सामाजिक कारण – प्रतिरोध के सामाजिक कारणों में निम्न को सम्मिलित किया जाता सकता है।

1. **आपसी संबंधों के बिगड़ने का भय** – यह भी संभव हो सकता है कि परिवर्तन के फलस्वरूप कर्मचारी को अपने अधिकारियों, अधीनस्थों अथवा समान स्तर के अन्य कर्मचारियों से अपने संबंध तोड़ने पड़े। नयी स्थिति में नये सम्बन्ध बनाने में समय लगता है। फलतः लोग परिवर्तन का विरोध करने लगते हैं।
2. **विश्वास का अभाव**– पारस्परिक अविश्वास स्वयं ही प्रतिरोध का कारण बन जाता है। परिवर्तन को उनके व्यक्तियों के भरोसे पर ही लागू किया जा सकता है।
3. **भीड़ व्यवहार** – कई बार कुछ व्यक्तियों के प्रतिरोध का कारण यह भी होता है कि “अन्य लोग भी विरोध कर रहे हैं।” भीड़ व्यवहार के कारण भी प्रतिरोध उत्पन्न होता है।
4. **सम्भावित सामाजिक हानि** – परिवर्तन के कारण जब व्यक्ति के अनौपचारिक संबंधों, पद स्तर, सामाजिक वातारण, मैत्री संबंधों आदि के धूमिल पड़ जाने की संभावना होती है तो वह परिवर्तन में बाधा डालने का प्रयास करता है।
5. **श्रमसंघ द्वारा विरोध** – श्रमसंघ के सदस्य प्रबन्धकों द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन का विरोध कई कारणों से करते हैं। संघ के हितों के विरुद्ध होने वाले परिवर्तनों का सदैव प्रतिरोध होता है।
6. **निहित हित**– यह कोई असामान्य बात नहीं है कि परिवर्तन के कारण जब भी व्यक्तियों के आर्थिक एवं सामाजिक हित एवं प्रतिष्ठा दाँव पर लगती है तो व्यक्ति ऐसे परिवर्तनों का विरोध करने लगते हैं।
7. **मानदण्डों की अनुपालना** – मानदण्ड संगठनों में उसी प्रकार है जैसे व्यक्तियों में आदतें। सामाजिक प्रणाली में व्यक्ति मानदण्डों के अनुरूप कार्य करने पर बल देते हैं। जब भी कोई परिवर्तन मानदण्डों के विपरीत किया जाता है तो संगठन में विरोध पनपने लगता है।
8. **प्रणालीगत एवं सांस्कृतिक संगति**– कोई भी संगठन या सामाजिक प्रणाली कई अंगों-तत्वों से मिलकर बनती है। जब प्रणाली में कोई परिवर्तन किया जाता है तो विभिन्न अंगों के आपसी संबंधों में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। एक अंग में परिवर्तन करने से अन्य अंगों में भी परिवर्तन होता है। परिवर्तनों की इस श्रृंखला का इसीलिए विरोध किया जाता है।
9. **पवित्र आदर्श**– संगठन के सदस्यों के कुछ पवित्र विश्वास एवं आदर्श होते हैं। जब भी कोई परिवर्तन इन पवित्र लक्ष्यों से संबंधित होता है तो उसका विरोध किया जाने लगता है।

10. **बाह्य समूह को अस्वीकृति** – बाह्य समूहों अथवा एजेन्ट को शंका एवं वैमनस्य की दृष्टि से देखने के कारण भी व्यक्ति इन बाह्य एजेन्टों द्वारा किये जाने वाले परिवर्तनों का विरोध करते हैं।
11. **अन्य कारण** –
  - (a) नये सामाजिक समायोजन के प्रति अनिच्छा।
  - (b) नई स्थिति में संतुष्टि प्राप्त न होने का डर।
  - (c) यह धारणा कि परिवर्तन से ज्यादा लाभ संगठन को होगा। व्यक्ति, कार्य समूह या समाज को नहीं।
  - (d) परिवर्तन के लिए सहभागिता में कमी के फलस्वरूप आक्रोश उपजना।

**IV. मनोवैज्ञानिक कारण** – अनेक कर्मचारी परम्परावादी होते हैं तथा उन्हें निश्चित पद्धति के अनुसार कार्य करने का अभ्यास व अनुभव होता है। वे निश्चित पद्धति, तकनीकों एवं वातावरण में कार्य करना पसन्द करते हैं। बहुत सी बार परिवर्तन कर्मचारियों के हित में होने के बावजूद भी वे परिवर्तन का प्रतिरोध करते हैं। मनोवैज्ञानिक कारण निम्नलिखित हैं –

1. भविष्य में परिवर्तन से प्राप्त होने वाले लाभों का सही पूर्वानुमान नहीं लगाने के कारण व्यक्ति का विरोध होना।
2. नेतृत्व में अविश्वास।
3. परिवर्तन से सुरक्षा का भय।
4. परिवर्तन को बर्दाश्त करने की शक्ति कम होना।
5. व्यक्ति की भावना को ठेस पहुँचाना।
6. परिवर्तन की पर्याप्त सूचना एवं समझ न होना।
7. स्थापित लीक से हटकर कार्य नहीं करना चाहना।

**V. तकनीकी कारण**— बहुत से कर्मचारी तकनीकी कार्यों के विशेषज्ञ होते हैं, जैसे लागत लेखा विशेषज्ञ, क्रियात्मक अनुसंधान विशेषज्ञ आदि। जब इन्हें पिछली तकनीक को छोड़कर नई तकनीक से कार्य करना पड़ता है और वे यह समझते हैं कि इस प्रकार का कार्य नहीं कर सकते हैं तो वे प्रतिरोध करते हैं।

परिवर्तनों के प्रतिरोध के उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त **संगठन द्वारा प्रतिरोध** भी किया जाता है। जिसके कारण निम्नलिखित हैं –

1. **संसाधनों की सीमितता**— एक संगठन को परिवर्तित वातावरण के साथ अनुकूलशीलता स्थापित करनी चाहिये। लेकिन ऐसा करने पर संस्था को खर्च करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त बहुत सी संस्थाएँ तो इन खर्चों को सहन करने की क्षमता भी नहीं रखती हैं। ऐसी दशा में वे परिवर्तन का प्रतिरोध करती हैं।
2. **अन्तर-संस्थागत समझौते** – कई बार एक संस्था द्वारा दूसरी संस्था के साथ किये गये समझौते भी परिवर्तन के प्रतिरोध का कारण बन जाते हैं। ऐसी दशा में परिवर्तन को लागू करने से पूर्व दूसरे संगठन के साथ किये गये समझौतों पर विचार करना आवश्यक है।



3. **संगठनात्मक ढाँचा** – समय एवं परिस्थितियों के बदलते हुए संस्था अपने संगठनात्मक ढाँचे में परिवर्तन करती है, वह भी प्रतिरोध का आधार हो जाता है, जैसे नौकरशाही वाला ढाँचा। आज के नवाचार संगठनात्मक ढाँचे में इस ढाँचे का प्रतिरोध किया जाता है।
4. **अप्रचलन की लागत** – यदि एक संगठन एक बड़ी राशि स्थायी सम्पत्तियाँ तथा मानवीय संसाधनों में विनियोजित करता है, जिसका लाभ लम्बी अवधि तक संस्था उठाती है। परिवर्तन के आने से यह सम्पत्ति एवं मानवीय संसाधन प्रचलन के योग्य नहीं रह पाते। परिणामतः संगठन को इसकी एक बड़ी लागत भुगतनी पड़ती है। इन सब कारणों से परिवर्तन का प्रतिरोध किया जाता है।

### परिवर्तनों पर कर्मचारियों की प्रतिक्रियाएँ

यह एक शाश्वत सत्य है कि प्रत्येक क्रिया पर प्रतिक्रिया होती है। जब संस्था में कोई क्रिया होती है तो उस पर कर्मचारियों की प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक ही है। प्रतिक्रिया कैसी होगी, यह कई बातों से प्रभावित हो सकती है। किन्तु कर्मचारियों की मनोदशा ही प्रतिक्रिया को सर्वाधिक रूप से प्रभावित करती है। **सी.ए. कारनाल लिखते हैं कि-** “व्यक्ति कई ढंग से परिवर्तन को अनुभव करते हैं। कुछ के लिये परिवर्तन संतुष्टि, आनन्द, लाभ, उपलब्धि लाता है तो कुछेक के लिये यह हानि, दुख, उदासी, अपमान बन जाता है। कुछ ऐसे भी हैं जो परिवर्तन को बिल्कुल भी अनुभव नहीं करते हैं।”

सामान्यतः संस्था में होने वाले परिवर्तनों पर कर्मचारियों की निम्न प्रतिक्रिया हो सकती है :

1. **परिवर्तन स्वीकार करना** – जब कर्मचारी यह अनुभव करते हैं कि प्रस्तावित या संभावित परिवर्तन उनके लिये हितकारी या लाभदायी है तो वे उस परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में परिवर्तन को लागू करना प्रबन्धकों के लिये बहुत आसान हो जाता है।
2. **परिवर्तनों के प्रति तटस्थता** – जब कर्मचारी यह अनुभव करते हैं कि प्रस्तावित या संभावित परिवर्तन से उनके हितों पर किसी भी प्रकार का नकारात्मक अथवा सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ने वाला है तो वे तटस्थ भाव से परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। ये वे उस परिवर्तन में कोई विशेष रूचि नहीं दर्शाते हैं।
3. **संशोधन के साथ स्वीकृति** – कभी कभी कर्मचारी सभी प्रस्तावित परिवर्तनों को यथावत स्वीकार नहीं करते हैं। वे प्रस्तावित परिवर्तनों को कुछ संशोधनों के बाद स्वीकार कर सकते हैं।
4. **संस्था छोड़ना** – जब कोई कर्मचारी यह अनुभव करता है कि संस्था में किये गये परिवर्तन उसके लिये अहितकारी, असहनीय या आपत्तिजनक है तो वह संस्था छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। परिवर्तन के साथ उचित समायोजन न होने पर भी कर्मचारी चला जाता है, जैसे मजदूरी की दरों या कार्य वातावरण में परिवर्तन किये जाने पर व्यक्ति द्वारा संस्था छोड़ देना।
5. **परिवर्तन का विरोध** – विरोध में प्रतिरोध की मात्रा कम होती है। इसमें कर्मचारी परिवर्तन में विविध प्रकार से बाधाएँ डालने का प्रयास करते हैं। जैसे घसीटते हुए नई स्थिति में कार्य करना, रोक लगाने के विभिन्न हथकण्डों को अपनाना, परिवर्तन के क्रियान्वयन में देरी करना।
6. **परिवर्तन का प्रतिरोध** – यदि कर्मचारियों को यह अनुभव होता है कि प्रस्तावित या संभावित परिवर्तन उनके लिये हानिकारक या अहितकर है तो वे उसका प्रतिरोध करते हैं। प्रतिरोध की सीमा न्यूनतम से लेकर अधिकतम हो सकती हैं। यदि कर्मचारी प्रस्तावित परिवर्तन से

कोई विशेष हानि अनुभव नहीं करते हैं तो प्रतिरोध न्यूनतम होता है, किन्तु जब उन्हें परिवर्तन की हानि निरन्तर बढ़ती दिखायी देती है तो प्रतिरोध की सीमा या मात्रा को बढ़ा देते हैं।

#### परिवर्तन प्रतिरोध को कम करने के उपाय –

परिवर्तनों को लागू करने में उनके बाधाएँ आती हैं, अनेक अवरोध उत्पन्न किये जाते हैं तथा प्रबन्धकों को अनेक प्रतिरोधों का सामना करना पड़ता है। वास्तव में सफलतापूर्वक परिवर्तनों का प्रबन्ध करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। निकोलो मेशिवेली ने लगभग चार शताब्दियों पूर्व यह लिखा था कि “ नई कार्य व्यवस्था को हाथ में लेने से अधिक कोई कठिन कार्य नहीं है, उसे कियान्वित करने से अधिक कोई जोखिमपूर्ण कार्य नहीं है तथा उस कार्य में अग्रणी भूमिका की सफलता की अनिश्चिता से अधिक अनिश्चिता किसी भी कार्य में नहीं है।”

किन्तु सफल प्रबन्धक निम्न प्रकार के प्रयासों से सभी अवरोधों एवं बाधाओं को पार कर लेते हैं तथा प्रतिरोधों को दूर कर लेते हैं।

1. **परिवर्तनों की सही जानकारी** – परिवर्तनों का ज्यादातर विरोध इनके संबंध में भ्रांतियों एवं मिथ्या धारणाओं के फैल जाने के कारण होता है। अतः प्रबन्धकों को चाहिए कि वे प्रस्तावित परिवर्तनों के बारे में तथ्यात्मक प्रमाण प्रस्तुत करें, भ्रामक बातों का खडन करें तथा कर्मचारियों को सही जानकारी उपलब्ध करवायें।
2. **शिक्षा** – कर्मचारियों के साथ खुला विचार विमर्श करके उन्हें परिवर्तनों का महत्व समझाना चाहिये। समूह प्रस्तुतिकरण, स्वभाव, सम्मेलन, संवाद, सम्प्रेषण, बातचीत आदि के द्वारा परिवर्तनों की आवश्यकता को प्रकट किया जाना चाहिये।
3. **सहभागिता** – परिवर्तनों के विरोध को कम करने के लिए सहभागिता एक प्रभावी उपाय है। परिवर्तनों का निर्णय करते समय कर्मचारियों को सम्भावित समस्याओं, कठिनाईयों व सुधारों पर विचार व्यक्त करने का अवसर दिया जाना चाहिये। कर्मचारियों के विचारों को जानकर उनके सहयोग से परिवर्तन की योजना बनानी एवं क्रियान्वित करनी चाहिये।
4. **प्रभावी नेतृत्व** – प्रभावपूर्ण नेतृत्व के द्वारा लोगो को परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। कुशल नेता परिवर्तनों को लागू करने वाला कारगर प्रतिनिधि माना जाता है। क्योंकि वह अपने अनुयायियों एवं अधिनस्थों का सहयोग सरलता से प्राप्त कर सकता है।
5. **परामर्श** – जहां कर्मचारियों को परिवर्तन की योजना के निर्धारण में सम्मिलित करना संभव नहीं होता है। वहाँ उनसे परामर्श करके ही उनकी मिथ्या धारणाओं को दूर किया जा सकता है। इससे परिवर्तन को चाहने वाले लोगों के विचार भी ज्ञात हो सकते हैं।
6. **वचनबद्धता** – प्रबन्धक लोगों से परिवर्तनों में सहयोग देने का वचन लेकर भी उन्हें नैतिक रूप से बाध्य कर सकते हैं। व्यक्तिगत समर्पकों के आधार पर वचनबद्धता प्राप्त की जा सकती है।
7. **प्रशिक्षण**— नई कार्य स्थितियों, नये परिवर्तनों के लिये विशिष्ट कौशल प्राप्त करने की आवश्यकता हो सकती है। प्रशिक्षण प्रदान करके प्रबन्धक लोगो में नई योग्यता विकसित कर सकते हैं तथा उन्हें परिवर्तन के लिये प्रेरित कर सकते हैं।
8. **भावनात्मक समर्थन** – परिवर्तन के दौरान कर्मचारियों की कठिनाईयों को सुनकर, उनकी भावनाओं की रक्षा करके, उन्हें सुविधा एवं समय देकर तथा उन्हें पूरे सहयोग का आश्वासन प्रदान करके प्रबन्धक परिवर्तन के क्रियान्वयन को सरल बना सकते हैं।

9. **सामूहिक वार्ता** – परिवर्तन का विरोध करने वालों के साथ प्रबन्धक सामूहिक वार्तालाप एवं सौदेबाजी करके उन्हें विभिन्न प्रेरणाएं प्रदान कर सकते हैं।
10. **सहयोग** – सहयोग से तात्पर्य यह है कि परिवर्तन का विरोध करने वाले व्यक्तियों को परिवर्तन के निर्णय अथवा क्रियान्वयन में कोई महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करना ताकि उसे परिवर्तन के लिये उत्तरदायी बनाया जा सके।
11. **न्यूनतम सामाजिक परिवर्तन** – यदि परिवर्तनों के फलस्वरूप कर्मचारियों के आपसी सामाजिक संबंधों में बाधा पड़ती है तो उन्हें दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिये। न्यूनतम स्थानान्तरण, न्यूनतम कार्य परिवर्तन अथवा उनकी विभागीय स्थिति में न्यूनतम बाधा उत्पन्न करके परिवर्तनों को प्रभावी बनाया जा सकता है।
12. **अस्थायी परिवर्तन** – परिवर्तन-प्रतिरोध को कम करने का यह भी एक प्रभावी उपाय है कि सभी परिवर्तन प्रारम्भ में अस्थायी रूप से ही लागू किये जाये। कर्मचारियों को कोई विशेष असुविधा या हानि न होने पर तथा परिवर्तन लाभप्रद सिद्ध होने पर उन परिवर्तनों को स्थायी रूप से लागू किया जा सकता है।
13. **विश्वास जीतना** – जब कर्मचारियों का अपने प्रबन्धकों पर विश्वास होता है तो वे परिवर्तनों को सुगमता से स्वीकार कर लेते हैं। अतः प्रबन्धकों को कर्मचारियों में विश्वास उत्पन्न करना चाहिये।
14. **आर्थिक प्रेरणा** – परिवर्तन के विरोध के पीछे आर्थिक हानि एक प्रमुख कारण है। अतः प्रबन्धकों को परिवर्तन के फलस्वरूप होने वाले आर्थिक लाभों को स्पष्ट कर देना चाहिये, कई बार आर्थिक लाभ प्रत्यक्ष न होकर, अप्रत्यक्ष होता है। अतः प्रबन्धकों को ऐसे अप्रत्यक्ष लाभ की ओर भी कर्मचारियों का ध्यान आकर्षिक कर देना चाहिये।
15. **प्रतिस्पर्धी भावना का विकास** – परिवर्तनों को लागू करने के लिये विभिन्न कर्मचारियों, विभागों, शाखाओं आदि में प्रतिस्पर्धा की भावना विकसित की जानी चाहिये। प्रतिस्पर्धा के कारण इनकी आन्तरिक शक्तियों को चुनौती मिलती है तथा कर्मचारी स्वयं परिवर्तनों के क्रियान्वयन में सहयोग प्रदान करने लगते हैं।
16. **उचित परिवर्तन** – प्रायः उन परिवर्तनों का विरोध कम होता है जो समय एवं परिस्थितियों के अनुसार उचित होते हैं। समयानुकूल परिवर्तन के लिए आवश्यक सहयोग आसानी से प्राप्त हो जाता है।
17. **उचित समय** – परिवर्तन की योजना उचित समय पर ही प्रारम्भ की जानी चाहिये। नियोजित परिवर्तन सोच विचार कर कर्मचारियों की धारणा के अनुकूल ही प्रारम्भ किये जाने चाहिये। परिवर्तनों की सफलता में समय की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
18. **उचित गति** – परिवर्तनों की प्रकृति एवं महत्त्व के अनुसार उनकी गति भी उचित रहनी चाहिये। क्रमिक परिवर्तनों में भी कुछ अन्तराल रखा जा सकता है ताकि कर्मचारी परिवर्तनों को स्वीकार कर सकें।
19. **व्यवहार कौशल** – कभी कभी आवश्यक होने पर व्यवहार कौशल एवं छल योजना का प्रयोग करते हुए भी कुछ परिवर्तन लागू किये जा सकते हैं। जैसे कुछ सूचनाओं को गुप्त रखते हुए उनकी कार्यदशाओं अथवा कार्यविधियों में परिवर्तन कर देना किन्तु बाद में आवश्यक होने पर इसके औचित्य को कर्मचारियों के समक्ष प्रकट कर देना।

20. **बल प्रयोग** – कुछ दशाओं में जब परिवर्तन के क्रियान्वयन में कर्मचारी जब बहुत ज्यादा बाधक बन जाते हैं तो प्रबन्धक धमकी व चेतावनी देकर तथा संभावित व्यक्तिगत हानियों को बतलाकर भी परिवर्तनों को लागू करवा सकते हैं। वेतन वृद्धि रोके जाने, कार्य से हटाये जाने, पदोन्नति रोकने, स्थानान्तरण करने आदि का प्रयोग करके परिवर्तनों को लागू किया जा सकता है।

**प्रश्न बोध**

1. परिवर्तन के प्रतिरोध से आप क्या समझते हैं।
2. परिवर्तन के प्रतिरोध के कारणों का संक्षे में उल्लेख कीजिए।
3. परिवर्तन के प्रतिरोध को कम करने के उपाय बताइयें।

**अध्याय - तृतीय**  
**परिवर्तन वातावरण में प्रबन्ध के उभरते आयाम**  
**(Emerging Horizons Of Management In Changing Environment)**

जिस प्रकार एक व्यक्ति परिवर्तित परिस्थितियों में कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार प्रबन्ध को भी आन्तरिक वातावरण की तुलना में बाह्य वातावरण में कार्य करना पड़ता है और परिवर्तित वातावरण के साथ-साथ उसे समायोजित भी करना पड़ता है। इसलिये **फ्रेडरिक डी. स्टुडीवेन्ट ने कहा कि**, “वातावरणीय घटक व्यावसायिक प्रबन्ध को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।”

**प्रबन्ध के नये आयामों के उभरने के कारण**

प्रबन्ध के नये आयामों के उभरने के अनेक कारण हैं, उनमें प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं –

1. **भौतिक वातावरण** – भौतिक वातावरण प्रकृति की सीमाओं का निर्धारण करता है। हम यह देख रहे हैं कि विश्व में जलवायु, सेवाओं के ढाँचे, भौतिक उर्जा, जल, विद्युत, पहाड़, मैदान, समुद्र, नदियाँ एवं बन्दरगाह आदि घटकों में बहुत परिवर्तन हुआ है एवं कई प्राकृतिक स्रोत वन, तेल, कोयला, गैस आदि तो नष्ट भी हो गये हैं। ये सभी घटक प्रबन्धकों के कार्य एवं क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। ऐसे में उन्हें वह प्रबन्ध व्यवस्था एवं निर्णय लेना होता है जो भौतिक, प्राकृतिक संसाधनों का पूर्ण उपयोग करे।
2. **आर्थिक वातावरण** – सामान्यतः आर्थिक कारण का संबंध उन घटकों एवं बाह्य शक्तियों से है जिनका व्यावसायिक प्रबन्ध पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। आर्थिक वातावरण में आर्थिक प्रणाली, देश की अर्थव्यवस्था, सरकारी कानून एवं नियम आदि सम्मिलित हैं जैसे – मूल्य उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व, नियोजन, उत्पादन, राष्ट्रीय आय, पूंजी निर्माण अनुपात, नियोजित श्रम का पेशेवर वितरण, कर नीति, आयात-निर्यात नीति, पूँजी बाजार एवं मजदूरी पर भौतिक नियंत्रण आदि। ये सभी घटक प्रबन्धक की व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। इसलिये प्रबन्धकों को नये रूप से सोचने एवं इन्हीं के अनुरूप निर्णय एवं नियंत्रण करने पर विचार करना पड़ता है अन्यथा सरकारी सहयोग से न केवल वंचित होना पड़ेगा अपितु दण्ड के भागी भी हो सकते हैं।
3. **नैतिक वातावरण** – आज के जटिल व्यावसायिक क्रियाओं के क्षेत्र में नैतिक सिद्धान्त एवं आचार-संहिताएँ प्रबन्धकों के व्यवहार का मार्गदर्शन करती हैं। अतः उन्हें समाज के नैतिक स्तरों का पालन करना आवश्यक है। नैतिक वातावरण में स्वास्थ्य, सुरक्षा, श्रम कल्याण, कार्य की दशाएँ, प्रतिस्पर्धा एवं किस्म नियंत्रण आदि सम्मिलित हैं। इनको मध्यनजर रखकर एक प्रबन्धक को नये तरीके से प्रबन्ध एवं संचालन करना पड़ता है।
4. **सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण** – वर्तमान समय में सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में भी काफी परिवर्तन आ रहा है। लोगों के विचार एवं अवधारणाएँ बदल गयी हैं जैसे नैतिक मूल्य, जीवन-स्तर आस्थाएँ, जीवन शैली आदि। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य, उत्पादों की किस्म, शिक्षण-प्रशिक्षण, मंहगे एवं ब्राण्डेड उत्पाद का ही उपयोग करना, कुछ कर दिखाने की सोच और सुरक्षा आदि के प्रति बहुत जागरूक हो गये हैं। इतना ही नहीं गाँवों से शहरों की ओर प्रवृत्ति बढ़ना, मैं ओर मेरे बीबी बच्चे की प्रवृत्ति बढ़ना, पति-पत्नी, दोनों के कमाने की सोच होना और अपनी आरामी जिन्दगी

व्यतीत करना आदि सोच भी बढ़ते जा रहे हैं। ये सभी प्रवृत्ति, दृष्टिकोण एवं सोच ने प्रबन्धकों को नये रूप से सोचने एवं कर बताने को मजबूर कर दिया है।

5. **राजनीतिक वातावरण** – वर्तमान में राजनीतिक वातावरण काफी बदल गया है, जैसे राजनीतिक स्थिरता न होना, राजनीतिक दल की सरकार का युग समाप्त हो जाना, किसी भी सरकार का लम्बे समय तक न चलना आदि। इन सभी का देश के आर्थिक विकास की गति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। सामाजिक, औद्योगिक एवं श्रम अधिकारियों में शीघ्र सुधार नहीं हो रहे हैं। विनिवेश नीति तय नहीं हो रही है। आंतकवाद को रोका नहीं जा सकता है। सरकार पर आम जनता का विश्वास उठ गया है। इन सभी दुष्प्रभावों ने प्रबन्धों को चिन्तन को प्रभावित किया है और उन्हें यह चुनौती दी जा रही है कि इन पर विचार करे, फिर ही कोई प्रभावी निर्णय लें।
6. **वैधानिक वातावरण** :- वैधानिक वातावरण ने भी प्रबन्धकों को चुनौतियां देकर नये नियमों का पालन करने एवं उनके अनुसार प्रबन्ध करने को बाध्य कर दिया है, जैसे— निगमित अधिनियम, निर्यात-आयात नियंत्रण अधिनियम, विदेशी मुद्रा विनिमय अधिनियम, प्रत्यास विरोधी कानून, सेबी, फेमा, प्रदूषण एवं उपभोक्ता संबंधी कानून आदि।
7. **प्रौद्योगिकी या तकनीकी वातावरण** :- व्यावसायिक प्रबन्ध को गतिशील विज्ञान एवं तकनीकी विकास से संबंधित क्रियाएँ भी प्रभावित करती हैं। आज कम्प्यूटर, स्वचालन, मशीनीकरण, यन्त्रीकरण, नई नई दवाईयों, मानव शरीर के उपचार की विधियों एवं यन्त्र, प्राकृतिक कच्चे माल के स्थान पर रासायनिक कच्चे माल का उपयोग, मानव यन्त्रों, निरन्तर शोध एवं विकास, आणविक शक्ति, ऊर्जा के नये स्रोत, भूमिगत यातायात, जैविक रसायन एवं आनुवांशिकी के क्षेत्र में नये विकास परिवहन हेतु एयर बसों एवं टेक्सियों का प्रचलन, सम्प्रेषण हेतु इन्टरनेट सेवा और आधुनिक बैंकिंग सुविधाएं आदि देखी जा सकती है। परिणामस्वरूप प्रबन्धकों को नये दृष्टिकोण विकसित करने एवं उनके अनुसार परिवर्तन करने को प्रेरित कर रहे हैं।
8. **अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण** – आज कोई भी देश एकाकीपन में अपना विकास नहीं कर सकता है तो व्यावसायिक प्रबन्धक के विकास एवं प्रगति को तो सोचा भी नहीं जा सकता है। आज उदारीकरण, वैश्वीकरण की नीति, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा, सम्प्रेषण एवं यातायात सुविधाओं का विस्तार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बढ़ने के फलस्वरूप प्रबन्धकों को उनके समस्याओं एवं चुनौतियों को झेलना पड़ रहा है। इसके अतिरिक्त एक देश के प्रबन्ध व्यवहार का दूसरे देश के प्रबन्ध व्यवहार पर प्रभाव पड़ रहा है। ऐसी दशा में प्रबन्धकों को अपनी कार्यप्रणाली को नवीन करने की आवश्यकता है अन्यथा व्यावसायिक संगठन पिछड़ जायेगा और एक समय यह भी आ सकता है कि उन्हें अपने संगठन/संस्था से हाथ धोना पड़े।
9. **बाजार वातावरण** – आज का बाजार 'विक्रेता से क्रेता' का हो गया है। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं, जैसे— ग्राहक छवि बढ़ाने के लिए महँगी एवं ब्राण्डेड वस्तुओं का उपयोग एवं उपभोग करना, विक्रय के संवर्द्धनात्मक प्रयासों का उपयोग करना, प्रतिस्पर्द्धा का आधार उत्पाद, किस्म, आकर्षक-पैकिंग, रंग डिजाइन आदि रह जाना न कि कीमत/मूल्य और रेडीमेड वस्त्रों का चलन आदि। इन सभी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी दी है। परिणामस्वरूप प्रतिस्पर्द्धा में टिकने के लिए विपणन एवं विक्रय प्रबन्धकों को नये ढंग या तरीके से कार्य करने को बाध्य कर दिया है और वे इस दृष्टि से प्रबन्ध क्षेत्र में नये-नये आयामों को जन्म दे रहे हैं।

10. **आन्तरिक वातावरण** :- व्यावसायिक संगठन का आन्तरिक वातावरण भी प्रबन्ध के आयामों के उभरने का एक कारण है। संगठन के विकास, विस्तार एवं आकार के बढ़ने के साथ साथ विभिन्न क्षेत्रों – उत्पादन, सेविवर्गीय, वित्त, विपणन, शोध एवं विकास आदि से भी जटिलताएँ आने लग जाती है। इसके अतिरिक्त कार्यरत व्यक्तियों के व्यवहार, सोच-विचार, मूल्य, अनुशासन एवं भावनाओं आदि में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। ऐसे में प्रबन्धकों के सामने यह चुनौती है कि सीमित संसाधनों का अधिकतम एवं कुशलतम उपयोग कैसे करें।

### **प्रबन्ध के उभरते आयाम (Emerging Horizons of Management)**

आधुनिक समय में जो घटनाएँ घटित हो रही हैं या जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे सभी प्रबन्धकों को अपने सोच-विचार, मान्यताओं, लक्ष्यों, आस्थाओं, कार्य प्रणालियों आदि सभी में परिवर्तन को बाध्य करने वाले हैं। ऐसे में उन्हें उनके नये कार्यों को करना पड़ेगा, नये विचारों एवं तकनीकों को अपनाना पड़ेगा। प्रबन्धकों के समक्ष अब कुछ नये कार्य उत्पन्न होंगे, उनके कार्यों के नये क्षितिज उभरेंगे। उन सभी कार्यों एवं क्षितिजों का संक्षिप्त में वर्णन इस प्रकार है –

1. **वैज्ञानिक पूर्वानुमान** – प्रबन्धकों को वैज्ञानिक विधि से पूर्वानुमान करने पर भविष्य में और अधिक ध्यान देना होगा। उन्हें भविष्य में और अधिक आधुनिक एवं परिष्कृत यन्त्रों एवं तकनीकों का उपयोग करने होंगे ताकि भावी प्रवृत्तियों एवं घटनाओं का अधिक अच्छी तरह पूर्वानुमान किया जा सके। उन्हें उत्पादों की माँग के पूर्वानुमान तक ही सीमित नहीं रहना होगा वरन् उन्हें सामाजिक, आर्थिक एवं तकनीकी प्रवृत्तियों का भी ठीक ठीक अनुमान करना होगा।
2. **प्रबन्ध: एक आर्थिक संसाधन के रूप में** :- प्रबन्ध के क्षेत्र में नया आयाम प्रबन्ध एक आर्थिक संसाधन के रूप में आया है, उसे प्रबन्धकों को स्वीकार करना होगा। इसका कारण यह है कि यह आयाम इस बात की पुष्टि करता है कि जो देश आर्थिक प्रगति कर पाये हैं या नहीं, दोनों के पीछे प्रबन्ध का हाथ होता है। इसके लिए किसी देश के उद्योगों की उन्नति एवं वहाँ के निवासियों के जीवन-स्तर में वृद्धि भी तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि वर्षों से उपेक्षित प्रबन्ध को अन्य उत्पादन के साधनों की भाँति महत्त्व नहीं दिया जायेगा।
3. **मानवीय संसाधन लेखांकन** – मानवीय संसाधन क्योंकि उपक्रम से संबंधित है और उपक्रम उससे निरन्त लाभ उठाता है, इसलिए प्रबन्धकों को उसे अपने स्वामित्व में मानना होगा। इससे उपक्रम द्वारा मानवीय संसाधनों के चयन, विकास, पदस्थापन, प्रशिक्षणार्थी एवं प्रशिक्षण आदि पर आयी लागत को मानना होगा और खाते तैयार करने होंगे। इसके अलावा इसमें संगठन के लिए व्यक्ति का आर्थिक मूल्य भी संचालित करना होगा।
4. **सृजनात्मक एवं नवाचार** – प्रबन्धकों की सफलता के लिए सृजनात्मक कार्य एवं नवाचार जैसे नये आयाम पर ध्यान देना होगा। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ रही है, नवीन मूल्य एवं प्रौद्योगिकी देखी जा रही हैं। यही नहीं, आज के प्रबन्धक को अधिक विचारक, मौखिक, सृजनशील एवं नव-प्रवर्तक होना भी आवश्यक है। परिणामस्वरूप संगठन में नये विचारों, नये परिवर्तनों एवं नयी कार्य-पद्धतियों की कल्पना कर सकेंगे। यही नहीं नये उत्पादों, नये किस्मों, नये उपयोगों एवं लाभ के नये अवसरों की परिकल्पना भी सम्भव होगी।
5. **व्यूहरचनात्मक प्रबन्ध एवं नियोजन** – आज की बढ़ रही प्रतिस्पर्द्धा, आगे और अधिक प्रतिस्पर्द्धा को ध्यान में रखते हुए भविष्य में प्रबन्धकों को व्यूहरचनात्मक प्रबन्ध एवं नियोजन का सहारा लेना होगा।

प्रबन्धकों को अपने वातावरण की परिस्थितियों या दशाओं का गहन अध्ययन एवं विश्लेषण कर ब्यूरचनात्मक नियोजन करना पड़ेगा। इस हेतु स्वोट विश्लेषण (SWOT- Strength, Weakness opportunities and Threats अर्थात् शक्ति, कमजोरी, अवसर, धमकियाँ एवं चुनौतियाँ) करना होगा। इससे प्रबन्धक संस्था के आन्तरिक एवं बाह्य वातावरण को समझने में मदद मिलेगी, प्रभावी ब्यूरचनाओं का निर्माण कर सकेंगे आन्तरिक शक्तियों का भरपूर उपयोग करेंगे और दोषों को या तो समाप्त करने अथवा नियन्त्रण करने में कामयाब होंगे।

6. **प्रबन्ध अंकेक्षण**— प्रबन्ध के उभरते आयामों में प्रबन्ध अंकेक्षण भी एक आयाम है, जिसे प्रबन्धकों को स्वीकार करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि यह प्रबन्धकीय तथ्यों, नीतियों, कार्यक्रमों, बजट, प्रमापों एवं नियंत्रण आदि की शुद्धता एवं पूर्णता की जांच करेंगे। इसके अतिरिक्त यह समग्र प्रबन्ध का मूल्यांकन भी करेंगे। यदि प्रबन्ध की अवधारणाओं, प्रक्रियाओं एवं व्यवहार की जानकारी रखने वाले व्यक्ति द्वारा ऐसा अंकेक्षण कराया जायेगा तो इसके अच्छे परिणाम देखने को मिलेंगे।
7. **प्रबन्ध सूचना प्रणाली**— आधुनिक युग में प्रबन्ध सूचना प्रणाली का विकास भी एक प्रबन्ध का उभरता आयाम है, जिसे प्रबन्धकों को अपनाना होगा। यह प्रभावशाली नियंत्रण के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है क्योंकि इससे एक ओर तो निर्णयन की किस्म में सुधार होता है तो दूसरी ओर सुधारात्मक कार्यवाही को लागू करने के लिए प्रबन्धकों को योजना से विचलनों की पूर्ण जानकारी देती है। परिणामस्वरूप सुधारात्मक कार्यों में तीव्रता आयेगी, प्रबन्धकीय कार्यों के निष्पादन में सहायता मिलेगी और विशुद्ध निर्णय लिये जा सकेंगे। यही नहीं, प्रबन्धकों को वे ही सूचनाएँ भेजने होगी, जो उनके लिए उपयोगी एवं सार्थक होगी।
8. **उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध**— प्रबन्ध के उभरते आयामों में उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध भी एक है। इसका सम्बन्ध व्यावसायिक क्रियाओं को सम्पादित करने से पूर्व उस क्रिया के निष्पादन के उद्देश्यों को निश्चित करने एवं तत्पश्चात् उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रबन्ध द्वारा प्रयास किये जाने से है। इसलिए प्रबन्धकों को स्वीकार करना होगा। इसका कारण यह है कि उद्देश्यों द्वारा प्रबन्ध व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र के किसी भी क्षेत्र में प्रयुक्त किया जा सकेगा, किन्तु कुछ क्षेत्रों में तो बहुत उपयोगी होगा, जैसे— विक्रय में सुधार, उत्पादों में सुधार, क्रियात्मक कार्यक्षमता, लाभदायकता, नवाचार, उत्पादकता, वित्तीय एवं भौतिक साधन, विकास एवं प्रवृत्ति आदि। परिणामस्वरूप प्रबन्धकीय प्रभावशीलता में वृद्धि होगी, सहभागिता अवधारणाओं को बल मिलेगा, व्यक्तिगत प्रेरणा का विकास होगा और श्रम तथा प्रबन्ध के मध्य सम्बन्धों में सुधार होगा।
9. **प्रबन्ध में नीतिशास्त्र**— आधुनिक प्रबन्ध का मूल केन्द्र मानव एवं उसके साथ व्यवहार उभरता आयाम है। इसलिए प्रबन्धकों को नीतिगत मूल्यों, मानवीय आदर्शों, पारस्परिक सम्बन्धों, नीतिगत प्रभावों एवं नेतृत्व पर विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि उनके नैतिक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व बहुत महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। यही नहीं प्रबन्धकों के आचरण के लिए नैतिक आचार—संहिताओं का निर्माण भी किया जाना होगा ताकि नीतिगत वातावरण का निर्माण किया जा सकेगा।
10. **मानवीय सम्बन्ध विचारधारा का विकास**— मानवीय सम्बन्ध विचारधारा की यह मान्यता है कि उद्योग में कार्य करने वाले को व्यक्ति पहले मानते हैं, बाद में श्रमिक। इसलिए प्रबन्धकों को इनके साथ मानवोचित व्यवहार करते हुए प्रबन्धकीय कार्यों को पूरा करना होगा। परिणामस्वरूप प्रबन्धकीय कार्यों का प्रभावी क्रियान्वयन, मानवीय संसाधनों को श्रेष्ठतम उपयोग, कर्मचारियों की कार्यक्षमता में वृद्धि, सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह और औद्योगिक शान्ति की स्थापना होगी।



11. **प्रणालीगत दृष्टिकोण** – प्रबन्ध के उभरते आयामों में प्रणालीगत दृष्टिकोण भी एक है, जिसे प्रबन्धकों द्वारा स्वीकार करना होगा। इसका कारण यह है कि इसके अन्तर्गत उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं या उप-तन्त्रों को एकत्रित या संयोजित किया जाता है ताकि सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके। **इस संबंध में कोर्थ एवं रसेल ने कहा कि,** “प्रणालीगत दृष्टिकोण प्रबन्ध के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कान्ति ला रहा है।”  
 प्रणालीगत दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि उपक्रम में अनेक अवयव कार्य करते हैं और जब तक समस्त अवयवों का एक साथ अध्ययन नहीं किया जायेगा, तब तक श्रेष्ठ निर्णय लेना कठिन होगा। अतः प्रबन्धकों को तो वातावरण की मांग एवं सदस्यों की मान्यताओं के अनुसार कार्य करना होगा। परिणामस्वरूप प्रबन्ध की विभिन्न समस्याओं एवं उनके निवारण का सुदृढ़ आधार मिलेगा। प्रबन्धकीय कार्यों को प्रभावित करके समस्त घटकों में युग्म स्थापित किया जा सकेगा और विभिन्न संगठनों के जटिल व्यवहार को समझने का आधार प्रदान करेगा।
12. **आकस्मिकता दृष्टिकोण** – प्रबन्ध के क्षेत्र में आकस्मिकता या स्थित्यात्मक दृष्टिकोण एक उभरता आयाम है। इसकी यह मान्यता है कि प्रत्येक स्थिति की भिन्नता एवं जटिलताओं को समझकर अनुकूल निर्णय लेने की आवश्यकता है। अतः प्रबन्धकों को इस कार्य को करने की श्रेष्ठ विधि के स्थान पर दृष्टिकोण परिस्थितियों का अध्ययन करना होगा, विभिन्न घटकों, विचलनों एवं भिन्नताओं की पहचान करनी होगी, उनका विश्लेषण करना होगा और परिस्थितियों की मांग तथा व्यक्तियों की आवश्यकता को समझना होगा। परिणामस्वरूप सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिकता में विद्यमान अन्तर की खाई को पाट सकेगा और स्थिति का वास्तविक नियंत्रण भी कर सकेगा।
13. **व्यवहारीय विश्लेषण** – व्यवहारीय विश्लेषण भी एक प्रबन्ध का उभरता आयाम है। इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियों से अथवा कई व्यक्ति आपस में व्यवहार करते हैं, उनको समझने एवं उनके प्रभावों को सुधारने का प्रबन्धकों को प्रयास करना होगा। परिणामस्वरूप मानवीय सम्बन्धों का विकास हो सकेगा, मानवीय व्यवहार भूमिका को बेहतर रूप में समझ सकेगा।
14. **पर्यावरण सन्तुलन** – आज वातावरणीय नियन्त्रण की समस्या वैधानिक एवं प्रबन्धकीय पहल प्रबन्धकों के लिए एक चुनौती हो गयी है। ऐसी दशा में प्रबन्धकों के लिए स्वैच्छिक प्रयासों द्वारा वातावरण पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होगा।
15. **सूचना प्रौद्योगिकी**— प्रबन्ध के नये आयाम के रूप में प्रबन्धकों को सूचना प्रौद्योगिकी पर निर्भर रहना होगा ताकि आवश्यक समंक एवं सूचनाएँ प्राप्त की जा सकें। अतः प्रबन्धकों को प्रबन्धकीय कार्यों (नियोजन, संगठन, समन्वय, अभिप्रेरणा, नियंत्रण, सम्प्रेषण, निर्देशन, एवं नेतृत्व आदि) के लिए तथा प्रबन्ध के क्रियात्मक क्षेत्रों के लिए समंक, बैंकों, कृत्रिम आसूचना कार्यक्रमों, प्रबन्ध सूचना प्रणाली को ज्ञान आधारित प्रणालियों की स्थापना करनी होगी।
16. **संगठन विकास** – संगठन विकास एक ऐसी व्यवस्थित पद्धति या प्रणाली हैं जिसकी सहायता से संगठन के व्यवहार को अनुकूल बनाया जा सकता है एवं नियोजित परिवर्तन लाये जा सकते हैं। अतः प्रबन्धकों को अपने संगठन के सभी सदस्यों की जीवनवृत्ति नियोजित करनी होगी। संगठन में कार्य संवर्द्धन एवं कार्य-विस्तार पर ध्यान देना होगा। इसके अलावा संवेदनशीलता प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करनी होगी।
17. **प्रबन्ध विकास**— प्रबन्ध विकास भी प्रबन्ध के क्षेत्र में एक नया आयाम है। इसलिए प्रबन्धकों को भविष्य में इस पर बल देना होगा। परिणामस्वरूप प्रबन्धकों को नये सिद्धान्तों, नवीन तकनीकों एवं

विचारधाराओं की जानकारी दी जा सकेगी। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध विकास कार्यक्रमों का संचालन करके प्रबन्धकों को व्यवहारवादी प्रबन्ध, परिवर्तनों का प्रबन्ध, संघर्षों का प्रबन्ध, सूचना प्रौद्योगिकी, वित्तीय प्रबन्ध, विपणन प्रबन्ध में अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित नवीन ज्ञान एवं जानकारी प्रदान की जा सकेगी। इन सबके परिणामस्वरूप प्रबन्धक भावी चुनौतियों का मुकाबला करने में समक्ष होंगे।

18. **सहभागिता द्वारा प्रबन्ध**:- आधुनिक युग में सहभागिता प्रबन्ध एक उभरता आयाम है, जिसका आशय एक व्यक्ति द्वारा उपक्रम के प्रबन्धकीय कार्यों में मानसिक एवं भावनात्मक रूप से हिस्सा लेना है। परिणामस्वरूप उपक्रम के उद्देश्यों को पूरा करना सम्भव होगा। अतः प्रबन्धकों को इस विचारधारा को स्वीकार करना होगा।
19. **बेहतर निगमित प्रबन्ध** :- प्रबन्ध के उभरते आयाम में बेहतर निगमित प्रबन्ध भी एक है, जिसे भविष्य के लिए प्रबन्धकों को स्वीकार करना होगा। इस हेतु उन्हें अपने उद्देश्यों एवं नीतियों में पारदर्शिता लानी होगी, कार्यकलापों को प्रदर्शित करना होगा, कानूनी औपचारिकताओं का पालन करना होगा, विभिन्न पक्षकारों के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना होगा और उन्हें सन्तुष्ट करने हेतु अथक् प्रयास करने होंगे।

**प्रश्न बोध:-**

1. प्रबन्ध के नये आयामों के उभरने के कारणों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
- 2- परिवर्तन वातावरण में प्रबन्ध के उभरते आयाम पर एक लेख लिखिए।

### **समय-प्रबन्धन (Time Management)**

आबालवृद्ध सभी की एक समस्या है कि हम करना बहुत कुछ चाहते हैं पर क्या करें समय नहीं है। समयाभाव की समस्या को समय प्रबन्धन के द्वारा समाहित किया जा सकता है। सभी को एक दिन में चौबीस घंटे का ही समय मिलता है। जो लोग समय के महत्त्व को जानकर उसका सही उपयोग करते हैं, वे अपने जीवन में बहुत कुछ कर लेते हैं और जो समय की कीमत को नहीं जानते वे व्यर्थ के कार्यों में समय को खो देते हैं। वास्तव में समस्या समय के अभाव की नहीं, उसके सही प्रबन्धन की है।

#### **२.१ समय का महत्त्व (Importance of Time)**

समय-प्रबन्धन व्यक्तित्व विकास का बहुत महत्वपूर्ण सूत्र है। समय के होने पर ही कुछ कार्य किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। कहा जाता है— **Time is money**. व्यक्ति खोया हुआ स्वास्थ्य, भूली हुई विद्या, चोरी हुआ धन मेहनत से पुनः प्राप्त कर सकता है किन्तु जो समय बीत गया, उसे किसी भी कीमत पर पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज व्यक्ति इस बात की तो चिन्ता करता है कि परीक्षा में फेल न हो जाए, व्यापार में घाटा न लग जाए, स्वास्थ्य खराब न हो जाए, ट्रेन छूट न जाए। फेल होने पर, घाटा लगने पर, स्वास्थ्य खराब होने पर उसे दुःख भी होता है। किन्तु आलस्य और बातों में समय के व्यर्थ बीत जाने पर वह उसकी चिन्ता नहीं करता। जीवन का प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण है। किसी भी क्षण का मूल्य न ज्यादा है और न कम।

समय का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, हम उसके महत्त्व और कीमत को समझें या न समझें। समय के महत्त्व के सन्दर्भ में शेक्सपीयर की ये पंक्तियाँ बहुत मार्मिक हैं— “पहले मैंने समय को नष्ट किया और अब यह समय मुझे नष्ट कर रहा है। आज व्यक्ति जो कुछ है— समय के कारण है। जिसने उसका सम्मान किया, उसको समय ने सम्मान दिलाया है। जिसने उसके महत्त्व को समझा है, समय ने उसके महत्त्व को स्थापित किया है।

## २.२ समय का स्वरूप (Nature of Time)

प्रकृति में अनगिनत चीजें हैं—मिट्टी, हवा, प्रकाश, पानी, वनस्पति आदि-आदि। इनमें 'समय' सबसे अद्भुत एवं अलग तरह का तत्त्व है। इसकी विलक्षणता तीन तत्त्वों पर टिकी हुई है—

✳ समय को देखा नहीं जा सकता, जैसे—मिट्टी, पानी, प्रकाश आदि दिखाई देते हैं, वैसे समय हमें दिखाई नहीं देता। सुबह-शाम, सर्दी-गर्मी आदि रूपों में हम उसे महसूस कर सकते हैं पर देख नहीं सकते।

✳ समय को पकड़ा नहीं जा सकता। जिस प्रकार हवा को सिलेण्डर में बंद करके, सूर्य के प्रकाश को बैट्री में संचित करके रखा जा सकता है और जरूरत पड़ने पर उसका उपयोग किया जा सकता है, वैसे समय को पकड़कर नहीं रखा जा सकता। जो बीत गया, सो बीत गया।

✳ समय की गति को बदला नहीं जा सकता। हवा कभी तेज चलती है, कभी धीमी और कभी कुछ देर के लिए रुक भी जाती है। समय की गति में कोई परिवर्तन नहीं आता। वह हमेशा एक ही रफ्तार से गतिशील रहता है। कभी रुकता नहीं।

## २.३ समय प्रबन्धन क्या ? (What is time management)

समय-प्रबन्धन का सीधा-सा अर्थ है—समय का इस प्रकार नियोजन करना कि उसका अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। समय को हम अपने अनुकूल नहीं ढाल सकते अतः समय प्रबन्धन का अर्थ है—हम अपने आपको समय के अनुकूल ढाल लें। समय प्रबन्धन की एक सुन्दर परिभाषा दी गई— Time management is the management of self. समय-प्रबन्धन स्व-प्रबन्धन है।

आज व्यक्ति भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए समय का प्रबन्धन करता है पर स्वयं के जीवन के लिए समय का प्रबन्धन नहीं करता। स्वयं को खोकर यदि सब कुछ पा लिया तो उसका हमारे लिए कोई उपयोग नहीं अतः स्व-प्रबन्धन ही समय प्रबन्धन है।

## २.४ समय-प्रबन्धन क्यों ? (Why Time Management)

व्यक्ति का जीवन बहुआयामी है। उसे पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, वैयक्तिक, धार्मिक सभी स्तरों पर अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन करना होता है। सभी का सम्यक् निर्वहन करने के लिए सभी क्षेत्रों में परस्पर समन्वय एवं संतुलन बनाने की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से सभी क्षेत्रों में समय का सही नियोजन बहुत जरूरी है अन्यथा सभी क्षेत्रों में समय-समय पर आने वाली अपेक्षाएँ, आवश्यकताएँ, जिम्मेदारियाँ सही समय पर पूरी नहीं हो सकती, जो अन्ततः असन्तोष, अशान्ति और असफलता का कारण बनती हैं। इस बहुआयामी जीवन में आनन्द से सारे कार्यों को निपटाने के लिए समय-प्रबन्धन बहुत उपयोगी बनता है।

## २.५ समय प्रबन्धन कैसे ? (How to Manage time)

प्रबन्धन की दृष्टि से समय को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

- ✳ दैनिक जीवन के लिए समय,
- ✳ उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए समय,
- ✳ रिक्त समय (खाली समय)।

### २.५.१. दैनिक जीवन के लिए समय (Time for daily routine)

जीवन में कुछ क्रियाएँ प्रतिदिन करणीय होती हैं। उन्हें संचालित करना अनिवार्य होता है, जैसे—भोजन करना, नींद लेना, स्नान करना आदि। समय का लगभग ४० प्रतिशत भाग यानि प्रतिदिन नौ से दस घंटे का समय दैनिक जीवन के कार्यों में लग जाता है। इसमें छः-सात घंटे सोने के निकाल दें और शेष तीन-चार घंटों में दैनिक क्रियाएँ—नहाना, खाना आदि अन्य छोटी-छोटी बातें शामिल हैं। इतना समय दैनिक कार्यों के लिए लगाना आवश्यक भी होता है। किन्तु इच्छा के कारण आवश्यकता से अधिक समय लगाना उचित नहीं, जैसे—सात मिनट में स्नान किया जा सकता है पर साठ मिनट का समय स्नान में लगाना उचित नहीं। पांच मिनट में कॉलेज या ऑफिस जाने के लिए तैयार हुआ जा सकता है, वहाँ पचास मिनट लगाने आवश्यक नहीं।

इस प्रकार हमें अपने दैनिक जीवन के कार्यों में लगने वाले समय की जांच करनी चाहिए और जहाँ कहीं भी अनावश्यक रूप से समय लग रहा है, उसे रोका जाना चाहिए।

### ५.२.२. उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए समय (Time for Aim)

सभी के जीवन में छोटा या बड़ा कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। एक विद्यार्थी का उद्देश्य है—पढ़ाई करना। एक व्यवसायी का उद्देश्य है—अपने व्यापार में तरक्की करना। एक नौकरी-पेशा वाले व्यक्ति का उद्देश्य होता है—समय से कार्यालय में पहुँचकर अपना कार्य करना आदि। कुल मिलाकर हर व्यक्ति के साथ एक मुख्य उद्देश्य निश्चित रूप से जुड़ा रहता है। यदि कोई कुछ नहीं कर रहा है तो उसका भी उद्देश्य होगा—कुछ करने की तलाश करना। दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद हमारे पास जो समय बचता है, उस समय को जीवन के उद्देश्य को पूरा करने में लगाना चाहिए। विद्यार्थी को अपना समय अध्ययन में, व्यापारी को अपना समय व्यापार में लगाना चाहिए। १० से ५ बजे तक स्कूल या दुकान में शारीरिक रूप से जाकर बैठना ही उद्देश्य पूरा करना नहीं होता अपितु उस समय में कार्य करते रहने से ही उद्देश्य पूरा होता है। इसलिए हमें उद्देश्यपूर्ण जीवन के समय के प्रति गंभीर होना चाहिए। समय का निर्धारण करने से पूर्व दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१. उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रतिदिन कितने समय की आवश्यकता है ?

२. उसके लिए बिना परेशानी कितना समय दिया जाना संभव है।

यदि उद्देश्य बहुत बड़ा बना लिया है और उसके अनुरूप समय नहीं दे पा रहे हैं तो यह असंतुलन हमें तनावग्रस्त कर सकता है। अतः उद्देश्य के अनुरूप समय का नियोजन भी करना चाहिए।

### २.५.३. रिक्त समय (Free Time)

प्रायः समय-प्रबंधन की बात दैनिक जीवन के लिए समय तथा उद्देश्यपूर्ण जीवन के लिए समय के संदर्भ में ही अधिक आती है किन्तु हमें कम से कम ३० मिनट का समय खाली रखना चाहिए, जिस समय में न हम दैनिक कार्य करें और न अपने उद्देश्य को पूरा करें। उस समय में खाली होकर बैठें और उस खाली समय में ध्यान करें, मन को एकाग्र कर निर्विचार अवस्था में जाएँ, अपनी आत्म-शक्तियों को जागृत करें। क्योंकि जीवन का उद्देश्य पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना, पैसा कमाना या मनोरंजन करना मात्र नहीं है। जीवन का अंतिम लक्ष्य तो आत्म-विकास करते-करते मोक्ष को प्राप्त करना है। संसार-चक्र से मुक्त होना है। इसलिए प्रतिदिन कुछ समय आत्मा की आराधना के लिए रिक्त रखना चाहिए। समय-प्रबंधन का एक महत्वपूर्ण अर्थ यह भी है कि हम अपनी क्षमता को बढ़ायें। ध्यान आदि के द्वारा हमारी क्षमता बढ़ती है और हम कम समय में अधिक कार्य कर सकते हैं।

इस प्रकार अपने २४ घंटे के समय को इन तीन भागों में विभक्त करना चाहिए और जागरूकता के साथ समय का उपयोग करना चाहिए।

### २.६ समय प्रबंधन के सूत्र (Tips for Time Management)

बहुत बार व्यक्ति सोचता है कि हम समय का अधिक से अधिक सदुपयोग करेंगे लेकिन हमारे जीवन में कुछ तत्व ऐसे हैं, समय को व्यर्थ खो देते हैं, जिन्हें Time-Waster कहते हैं। व्यक्ति अपना समय तीन स्तरों पर व्यर्थ करते हैं— १. व्यक्तिगत स्तर पर, २. पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर, ३. व्यावसायिक स्तर पर।

❖ **व्यक्तिगत स्तर पर**—स्वयं से जुड़े कुछ व्यक्तिगत ऐसे कारण हैं जो हमारा समय बर्बाद करते हैं। उनमें मुख्य हैं—मूड का बिगड़ना, गलत आदतें, कमजोर स्वास्थ्य और आराम पसन्द जिन्दगी। ये ऐसे कारण हैं कि व्यक्ति इनमें अपना संतुलन नहीं रख पाता। संतुलन के अभाव में वह समय का सही सदुपयोग नहीं कर पाता। समय यँ ही व्यर्थ चला जाता है।

❖ **पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर**—समय नष्ट करने वाले इस प्रकार के कारकों में विशेष रूप से आते हैं—आगन्तुक (visitors), मित्रगण, अनुशासनहीनता, अव्यवस्थाएँ, निरर्थक सामाजिक गोष्ठियाँ और अनावश्यक आलोचनात्मक बैठकें। ये कुछ ऐसे कारक हैं जो समय को व्यर्थ करते हैं अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह इन सबको संतुलित करें और अपने समय को बचायें।

❖ **व्यावसायिक स्तर पर**—व्यवसाय संबंधी समय नष्ट करने वाले कारकों में मुख्य हैं—अनावश्यक बैठकें, फोन का दुरुपयोग, अस्पष्ट संप्रेषण, ना कहने की अक्षमता, काम करने वाले कर्मचारी आदि।

ये कुछ ऐसे कारक तत्व हैं, जो चाहे-अनचाहे व्यक्ति का समय बर्बाद करते हैं। अतः समय का सदुपयोग करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना विश्लेषण करके देखे कि कहाँ-कहाँ उसका समय अनावश्यक लगता है और वह किस प्रकार उनसे बच सकता है।

### २.६.१. लक्ष्य का निर्धारण

समय प्रबंधन का पहला सूत्र है—लक्ष्य का निर्धारण करें। जिस व्यक्ति के जीवन का कोई लक्ष्य नहीं होता वह अपने समय का सदुपयोग नहीं कर पाता। अपनी क्षमता और शक्ति के अनुरूप लक्ष्य का निर्धारण करने वाला ही समय का सही उपयोग कर सकता है।

### २.६.२. जीवन की प्राथमिकताओं का निश्चय

जीवन में बहुत सारे कार्य करणीय होते हैं पर कौन-से कार्य को प्राथमिकता देनी है, यह निश्चय करना आवश्यक है। जो व्यक्ति प्राथमिकताओं का निश्चय नहीं करते, वे अनावश्यक कार्य करते रहते हैं और आवश्यक कार्य में अपना समय नहीं लगाते, जिससे जो कार्य जिस समय में होना अनिवार्य था, वह नहीं हो पाता; जैसे—परीक्षा के समय पढ़ाई करना प्राथमिकता है किन्तु कोई उस समय पढ़ाई को प्राथमिकता न देकर खेलकूद, टी.वी. या बातों में अपना समय व्यतीत करता है तो वह परीक्षा को पास नहीं कर सकता। अतः प्राथमिकता किस कार्य को देना, यह निश्चय करना भी समय-प्रबंधन का एक महत्वपूर्ण सूत्र है।

### २.६.३. समय-विश्लेषण

समय विश्लेषण का तात्पर्य है—अपने समय की जाँच-पड़ताल करना। किस कार्य में कितना समय लग रहा है। जो समय लग रहा है, वह आवश्यक लग रहा है या अनावश्यक लग रहा है। यदि कोई व्यक्ति सोने में दस से बारह घंटे लगाता है, नहाने में एक घंटा लगता है, तैयार होने में एक घंटा लगाता है तो उसे सोचना चाहिए। सोने, नहाने में इतना समय लगाना आवश्यक नहीं, यह समय का सदुपयोग नहीं है। इस प्रकार प्रतिदिन छोटे-छोटे दैनिक कार्यों में लगने वाले समय का विश्लेषण करना चाहिए और जहाँ कहीं भी अनावश्यक रूप से समय लग रहा है, उसे रोका जाना चाहिए। अपनी आदत को बदलना चाहिए।

### २.६.४. स्वावलम्बी जीवन

जो व्यक्ति अपने दैनिक जीवन के कार्यों के लिए जितना अधिक दूसरों पर आश्रित रहता है, उसका बहुत सारा समय उस काम के होने की प्रतीक्षा करने में ही चला जाता है। यदि व्यक्ति स्वावलम्बी होता है तो उससे आधे समय में वह काम स्वयं पूरा कर सकता है। उदाहरण के लिए जूते में पॉलिश करना है, कपड़ों के प्रेस करना है आदि। इन कार्यों के लिए यदि व्यक्ति परिवार के सदस्यों या नौकर-चाकरों पर निर्भर है तो जब तक वे कार्य नहीं कर देते तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रतीक्षा के उस समय का हम सदुपयोग भी नहीं कर पाते। यदि स्वयं वह कार्य कर लें तो कार्य भी समय पर हो जाता है और समय भी बच जाता है।

### २.६.५. कार्य की गति में तीव्रता

समय प्रबंधन का एक महत्वपूर्ण सूत्र है कार्य की गति में तीव्रता लाना। सामान्यतया किसी भी काम को करने की एक निश्चित गति होती है किन्तु कुछ लोग हर कार्य को इतनी धीमी गति से करते हैं कि दस मिनट के कार्य में एक घंटा लगा देते हैं। उनके मन में रहता है कि हमें जो काम करना है, वह करना है, चाहे दस मिनट में करें या एक घंटे में। जबकि हमारे मन में यह बात आनी चाहिए कि हमें अपनी गति को बढ़कर समय निकालना है ताकि हम और अधिक काम कर सकें। वास्तव में हमारे पास समय कम नहीं होता अपितु कार्य करने की गति कम होती है। यदि गति तेज है तो समय बहुत है।

### २.६.६. व्यवस्थित कार्यशैली

जिसकी कार्यशैली व्यवस्थित होती है, वह समय पर सभी काम सही ढंग से संपादित कर लेता है। इसके लिए अलग से कुछ करना नहीं पड़ता, केवल कुछ बातें निश्चित करनी होती हैं, जैसे कि—

१. दैनिक जीवन की चीजों को निर्धारित स्थानों पर ही रखना ताकि उन्हें ढूँढने में समय बर्बाद न करना पड़े।

२. सुबह उठने से लेकर सोने तक की चर्या का व्यवस्थित निर्धारण होना। वस्तुतः व्यवस्था एक आदत होती है। यह आदत या तो पड़ जाती है या डालनी पड़ती है।

### २.६.७. आर.यू.टी.एच. (RUTH)

आधुनिक समय में समय-प्रबंधन के लिए एक सूत्र काम में लिया जाता है—RUTH.

**R-Rush** – (आवश्यक-अत्यावश्यक)

**U-Urgent** – (आवश्यक परन्तु अत्यावश्यक नहीं)

**T-Today** – (साधारण-आवश्यक)

**H-Hold** – (साधारण-आवश्यक नहीं)

कार्यों का निर्धारण करके जो कार्य अत्यावश्यक हैं, उनको प्राथमिकता देनी चाहिए। इस प्रकार के कार्य **Rush** में आते हैं, वहाँ तत्काल निर्णय लेकर तत्काल कार्य करना पड़ता है। उदाहरण के लिए भयंकर दुर्घटना होने पर तत्काल उसे अस्पताल ले जाना। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो आवश्यक तो हैं पर अत्यावश्यक नहीं। उन्हें **Urgent** की कोटि में रखते हैं। कुछ कार्य साधारण होते हैं, उन्हें **Today** की कोटि में गिना जाता है। वे आवश्यक तो हैं पर अत्यावश्यक नहीं। उन्हें दिन भर में कभी भी किया जा सकता है; जैसे – कपड़े धोना, बाजार से सामान लाना आदि। जो कार्य साधारण हैं और आज ही करने आवश्यक नहीं, वे **Hold** के अन्तर्गत आते हैं। उन्हें कल, परसों कभी भी किया जा सकता है; जैसे – बाल कटवाना, कपड़े सिलवाना, घूमने जाना आदि।

इसके अतिरिक्त भी निम्न सूत्र समय-प्रबंधन में उपयोगी हो सकते हैं –

- \* सुबह जल्दी उठना। उठकर नित्यकर्म के बाद योगाभ्यास और ध्यान करना।
- \* दिन भर के कार्यों की योजना बनाना।
- \* अपने पास एक छोटी डायरी रखना, जिसमें कोई भी कार्य याद आते ही लिख लेना।
- \* मन को प्रसन्न रखना। प्रसन्न मन कार्य को जल्दी सम्पन्न कर लेता है।
- \* दैनिक टाइम-टेबल का निर्धारण करना।
- \* फोन पर आवश्यक बात करना, गप्पें नहीं मारना।
- \* समय की पाबन्दी रखना।
- \* जिस कार्य को नहीं कर सकते उसके लिए बिनम्रता से 'ना' कह देना।
- \* भावक्रिया के साथ कार्य करना।
- \* यात्रा के समय का उपयोग करना।
- \* प्रतीक्षा के क्षणों का उपयोग करना।

## ४. तनाव –प्रबन्धन (Stress Management)

आज का युग तनाव का युग है। आबालवृद्ध सभी इस समस्या से ग्रस्त हैं। यह तनाव आज की अनेक बीमारियों का कारण बना हुआ है। यह प्रशासक, व्यवसायी, अध्यापक, विद्यार्थी, व्यवस्थापक, कर्मचारी, बेरोजगार आदि सभी आयु, लिंग के व्यक्तियों को प्रभावित करता है। आज तनाव को मिटाने के लिए अनेक प्रयोग किए जा रहे हैं। अनेक प्रकार की दवाइयों का निर्माण किया जा रहा है किन्तु ये क्षणिक उपचार हैं। जब तक इसका स्थायी उपचार नहीं किया जाता तब तक तनाव से मुक्ति पाना असंभव है।

### ४.४ तनाव क्या ? (What is stress)

तनाव या दबाव शब्द भौतिक शास्त्र का शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ-किसी पदार्थ के किसी भी भाग पर पड़ने वाले चाप या दबाव से है। जब किसी भी पदार्थ पर पड़ने वाले दबाव से पदार्थ के आकार में परिवर्तन हो जाता है तो उसे तनाव या टान (Tension) कहते हैं। यहां तनाव का अर्थ व्यक्ति के सामान्य सुख-चैन पूर्ण जीवन में होने वाली गड़बड़ी/परिवर्तन अथवा बेचैनी से है, जो हमारे सामान्य जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है।

### ४.२ तनाव के कारण (Cause of Stress)

तनाव के अनेक कारण हैं। कर्मवाद की भाषा में तनाव का मूल कारण है—मोहकर्म की प्रबलता। मनोविज्ञान के अनुसार संवेग की प्रबलता को तनाव का मूल कारण माना है। बेनजेमिन के अनुसार—The cause of stress are limitless and includes drugs exercise, marriage, examination, having children, competition, aging, procrastinating, vocation, diet, insufficient sleep, buying a house, earthquakes and so on.

आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार—लोभ, क्रोध, मादक द्रव्य का सेवन, भय और कामवासना तनाव के मूल कारण हैं। वे लिखते हैं—हमारे मस्तिष्क में अनेक प्रकोष्ठ हैं, उनमें एक प्रकोष्ठ तनाव पैदा करने वाला है। ध्यान के द्वारा मस्तिष्क के उस प्रकोष्ठ को यदि प्रशिक्षित कर दिया जाए तो तनाव पैदा ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त वर्तमान जीवनशैली में तनाव के अनेक कारण देखने में आते हैं—

- |  |                                       |
|--|---------------------------------------|
| १. अत्यधिक शारीरिक श्रम,                           | २. अत्यधिक चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या आदि |
| ३. सुविधावादी जीवनशैली,                            | ४. अत्यधिक महत्वाकांक्षाएँ,           |
| ५. गरिष्ठ भोजन,                                    | ६. कार्य की अधिकता,                   |
| ७. समय का कुप्रबंधन,                               | ८. अनियमित जीवनशैली,                  |
| ९. एकल परिवार,                                     | १०. पारिवारिक असंतोष,                 |
| ११. अनुकम्पी-परानुकम्पी नाड़ीतंत्र का असंतुलन आदि। |                                       |

### ४.३ तनाव के प्रकार (Types of Stress)

तनाव के जितने कारण हैं, उतने ही उसके प्रकार हो सकते हैं। मोटे तौर पर तनाव को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

१. शारीरिक तनाव,
२. मानसिक तनाव,
३. भावनात्मक तनाव।

ये तीनों प्रकार के तनाव एक-दूसरे में भी बदलते हैं। शारीरिक तनाव से मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव भी उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी मानसिक तनाव से शारीरिक और भावनात्मक तनाव उत्पन्न हो जाते हैं। सामान्यतया शारीरिक तनाव अत्यधिक शारीरिक श्रम से पैदा होता है। विश्राम एवं नींद से इसे दूर किया जा सकता है। मानसिक तनाव अत्यधिक चिन्तन या चिन्ता से होता है। भावनात्मक तनाव निषेधात्मक भाव से पैदा होता है। इसे नियंत्रित करना सामान्यतया कठिन होता है।

### ४.४ तनाव की प्रक्रिया (Process of Stress)

तनाव शरीर, मन और भावों पर कैसे उतरते हैं, इसकी एक पूरी प्रक्रिया है। आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि तनाव मुख्य रूप से कान और आँख के माध्यम से मस्तिष्क के (cerebellum cortex) लघु मस्तिष्क प्रान्तस्था तक पहुँचता है

और वहाँ से उसके रसायन सम्पूर्ण शरीर में प्रसारित होते हैं। शारीरिक स्तर के तनाव को तीन अवस्थाओं में समझा जा सकता है।

पहली अवस्था में एड्रीनल कार्टेक्स में तनाव की सूचना का सम्प्रेषण होता है।

दूसरी अवस्था में लिम्फेटिक तंत्र की सक्रियता के द्वारा शरीर में उत्पन्न स्थिति के प्रति संघर्ष छोड़ा जाता है। इसमें प्रतिरक्षा तंत्र के अन्तर्गत आने वाले थाइमस व स्प्लीन प्रमुख रूप से कार्य करते हैं।

तीसरी अवस्था में तनाव की अधिकता शरीर के सभी संस्थानों पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लेती है। जिसके कारण शरीर में गहरी थकान एवं तनाव की अनुभूति होती है।

तनाव शारीरिक स्थिति से भी अधिक मनःस्थिति को प्रभावित करता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कर्टसीन ने cerebral-cortex वृहद् मस्तिष्क प्रान्तस्था में तीन प्रकार के मस्तिष्क खण्डों का वर्णन किया है— १. मेंटल ब्रेन, २. विसरल ब्रेन, ३. सोमेटिक ब्रेन। मस्तिष्क के इन तीनों खण्डों का आपस में अन्तर्संबंध रहता है। इनकी लयात्मक स्थिति मानसिक संतुलन का हेतु बनती है। किन्तु इनकी लयात्मकता समाप्त होने पर मनोकायिक रोगों की शुरुआत हो जाती है। व्यक्ति मानसिक रूप से तनावग्रस्त हो जाता है।

भावतंत्र को तनाव कैसे प्रभावित करता है। यह आज भी वैज्ञानिकों के लिए शोध का विषय है। क्योंकि तनाव से उत्पन्न भावों की स्थिति को वैज्ञानिक उपकरण नहीं पकड़ सकते। ग्रंथितंत्र के स्रावों के आधार पर भावों की सही व्याख्या नहीं हो सकती किन्तु भावावेश के कारण शरीर, मन, ग्रंथि व मस्तिष्क कैसे प्रभावित होते हैं, इसको जाना जा सकता है। भावनात्मक तनाव सबसे ज्यादा हानिकारक होता है।

#### ४.५ तनावमुक्ति और प्रेक्षाध्यान (Stress Management and Preksha Meditation)

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार तनाव जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है। इसके बिना जीवन चलता भी नहीं है। मन, वचन, शरीर की कोई भी प्रवृत्ति करने से पूर्व उनमें तनाव होना आवश्यक है। प्रवृत्ति के समय तनाव आता है और प्रवृत्ति पूरी होते ही तनाव चला जाता है तो वह भयंकर नहीं होता किन्तु केवल प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति हो कहीं विश्राम न हो तो वह तनाव हानिकारक होता है, अनेक समस्याएँ पैदा करता है। उन्होंने तनाव के मूल कारणों का विश्लेषण करते हुए प्रेक्षाध्यान के द्वारा उसके विसर्जन की प्रक्रिया बतलाई है, जो कि तनावमुक्ति का स्थायी समाधान है। वे लिखते हैं— जब तक चित्त की निर्मलता नहीं आएगी, तब तक तनाव की समस्या बनी रहेगी। इसलिए सबसे पहले चित्तवृत्ति का परिष्कार करें। फिर इससे आगे एकाग्रता की भूमिका में आएँ और फिर निरुद्ध की भूमिका, निर्विचार की स्थिति में आएँ। इस अवस्था में तनाव पैदा ही नहीं होता। प्रेक्षाध्यान चित्तशुद्धि की प्रक्रिया है और उससे आगे निर्विचार स्थिति तक पहुँचने का साधन है। अतः प्रेक्षाध्यान के द्वारा तनाव का स्थायी समाधान पाया जा सकता है।

प्रेक्षाध्यान के निम्न प्रयोग तनाव विसर्जन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं—

##### ४.५.१. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग तनावमुक्ति की निर्दोष प्रक्रिया है। कायोत्सर्ग से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक—तीनों प्रकार के तनावों से मुक्ति मिलती है। कायोत्सर्ग का अर्थ है— शरीर का शिथिलीकरण, चैतन्य के प्रति जागरूकता, भेद-विज्ञान की अनुभूति।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में तनाव-मुक्ति का स्थायी उपाय है— कायोत्सर्ग के साथ होने वाला भेद-विज्ञान। 'आत्मा अलग और शरीर अलग' यह भेद-विज्ञान जितना स्पष्ट होगा, तनाव की जड़ पर उतना ही जोरदार प्रहार होगा। तनाव होना ही बंद हो जाएगा। तनाव होने पर कायोत्सर्ग (शरीर का शिथिलीकरण) करना सामयिक उपचार है किन्तु कायोत्सर्ग के साथ भेद-विज्ञान की अनुभूति करना तनाव मुक्ति का स्थायी उपचार है।

##### ४.५.२. ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास

तनाव-मुक्ति का एक महत्वपूर्ण उपाय है— ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास। घटना को जानें, देखें, पर भोगें नहीं। हर व्यक्ति के जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल घटनाएँ घटित होती हैं और थोड़ी देर बाद वे समाप्त हो जाती हैं। जो उस घटना को ज्ञाता-द्रष्टा भाव से देखता है, उसका संवेदन नहीं करता, मन को उससे प्रभावित नहीं होने देता, वह उस घटना से होने वाले तनाव से भी बच



जाता है। इसकी साधना कठिन है किन्तु साधना हो जाने पर व्यक्ति हर परिस्थिति में संतुलित रह सकता है। तनावग्रस्त नहीं होता।

#### ४.५.३. घटना को मूल्य न देना

घटना को मूल्य देना तनाव का एक कारण बनता है। अतः तनावमुक्ति का एक महत्वपूर्ण उपाय है—घटना को मूल्य नहीं देना। घटना सामने आने पर ऐसा सोचें—दुनियाँ में ऐसा ही होता है। यह दुनियाँ का स्वभाव है। मैं इसके कारण दुःखी क्यों बनूँ? ऐसा चिंतन आते ही तनाव दूर हो जाएगा।

#### ४.५.४. कार्यान्तर

एक ही कार्य को लगातार पाँच-छः घंटे करते रहने से तनाव आना स्वाभाविक है। अतः कार्यान्तर—थोड़ी देर के लिए उस कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में लग जना तनाव-मुक्ति का सुन्दर उपाय है।

#### ४.५.५. विश्राम

दो घंटे कार्य करने के पश्चात् पाँच मिनट कायोत्सर्ग करने से शरीर को विश्राम मिलता है, जिससे तनाव का रचन हो जाता है।

#### ४.५.६. सर्वेन्द्रिय संयम-मुद्रा

इस प्रयोग से बाह्य विषयों से संपर्क छूट जाता है, जिससे तनाव विसर्जित हो जाता है।

#### ४.५.७. महाप्राण ध्वनि

तनाव की स्थिति में दो-तीन मिनट महाप्राण ध्वनि का प्रयोग किया जाए तो उससे भी तनाव समाप्त होता है।

#### ४.५.८. समता की साधना

मानसिक और भावनात्मक तनाव का मूल कारण है—अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ। लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा और सम्मान—ये पाँच अनुकूल परिस्थितियाँ हैं और अलाभ, दुःख, मरण, निन्दा और अपमान—ये पाँच प्रतिकूल परिस्थितियाँ हैं। जो व्यक्ति इन परिस्थितियों में सम नहीं रहता वह तनाव में चला जाता है। जो इन परिस्थितियों में सम रहना सीख लेता है, वह तनाव में नहीं जाता। अतः समता और तनावमुक्ति में अंतःसंबंध है। समता की उपलब्धि का अर्थ है—तनाव से मुक्ति। यह एक महान उपलब्धि है और ध्यान के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

सामान्यतया जो तनाव होता है, उसके लिए प्रेक्षाध्यान के ये छोटे-छोटे प्रयोग काफी महत्वपूर्ण हैं। किन्तु तनाव का मूल कारण है—आवेग और आवेश। जिसका कषाय शांत है, वह कभी तनाव में नहीं जाता। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग कषाय शांति का प्रयोग है और यही तनाव-मुक्त जीवन का सूत्र है।